Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

080597

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

080597

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

080597

शाश्वत समाज शास्त्र
विशेषांक
फरवरी १९६२

080597

शाश्वत वाणी

ऋतस्य सानावधि चक्रमाणा: रिहन्ति मध्व अमृतस्य वाणी: ॥

RT-0513

चयनिका

सम्पादकीय	...	१
मानवजाति के इतिहास की सनातन समीक्षा—श्री सीताराम गोयल	...	३१
भारत में शिक्षा—श्री गुरुदत्त	...	५१
वर्णाश्रम धर्म : शंका समाधान	...	६८
मनुष्यमात्र का मित्र स्वायंभुव मनु—श्री पं० भगवद्दत्त, रिसर्च स्कालर	...	८३
व्यक्ति और समाज—श्री गुरुदत्त	...	१०१
समाज का भारतीय ढांचा : एक वाद-विवाद	...	११७
शाश्वत अर्थव्यवस्था—श्री सीताराम गोयल	...	१२८
अन्तर्राष्ट्रीय नीति के सनातन आधार—एकाकी	...	१४५
आयुर्वेद और भारतीय तत्त्व दर्शन—कविराज आशुतोष मजुमदार	...	१६५
हड़प्पा सभ्यता का इतिहास में स्थान—पं० भगवद्दत्त, अनुसन्धान कर्त्ता	...	१७३
गीता-अमृत—सारांश	...	१७८
स्वास्थ्य तथा दीर्घायु—वैद्य पं रामगोपाल शास्त्री	...	१८८

भारतीय संस्कृति परिषद का मासिक मुखपत्र

सम्पादक
अशोक कौशिक

एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०१ लघु उद्योगों की जानकारी ४०० से अधिक पृष्ठों और ४०० से अधिक चित्रों में देने वाली पुस्तक

स्मॉल स्केल इन्डस्ट्रीज़

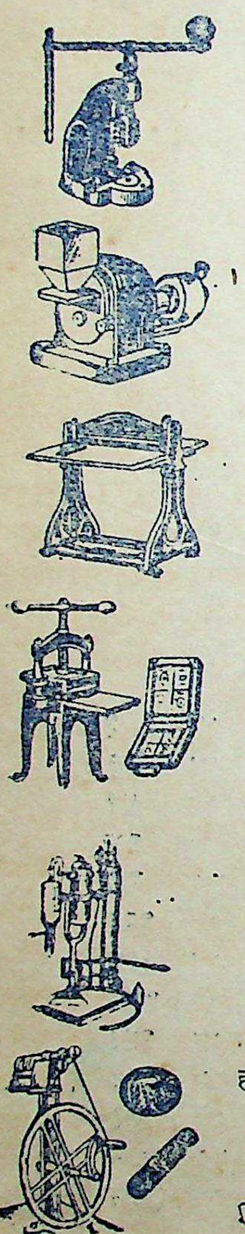

लघु उद्योग

(ले०—कालीचरन गुप्ता, इएडस्ट्रियल कन्सलटैंट)

भारत व विदेशों के अनुभवी इंजीनियरों, कारखानेदारों और बड़ी-बड़ी कम्पनियों के टैकनीकल सहयोग से लिखी गई पुस्तक जिसमें बताया गया है कि किस तरह इण्डस्ट्री चालू करने के लिए आप भारत सरकार से बहुत कम ब्याज पर नकद कर्ज़, आसान किस्तों पर मशीनें और कारखाने के लिए रियायती मूल्य पर ज़मीन, इमारत और पावर ले सकते हैं। पुस्तक में थोड़ी आमदनी वालों, दरम्याने दर्जे के लोगों और धनवान, तीनों के लिए थोड़ी दरम्याना व अधिक पूंजी से चलाई जा सकने योग्य इण्डस्ट्रीज़ दी गई हैं। इसमें प्रत्येक इण्डस्ट्री का स्कोप बनाने के तरीके व फार्मूले, कच्चे माल का विवरण व मशीनों से काम लेने का तरीका, कच्चा माल व मशीनें मिलने के पते आदि विस्तारपूर्वक समझाये गये हैं। वे सज्जन जिनकी कोई इण्डस्ट्री चल रही है, वे पुस्तक में वर्णित कोई इण्डस्ट्री, साइड इण्डस्ट्री के रूप में चालू कर सकते हैं। देहातों व कस्बों में रहने वालों व पार्ट टाइम में इण्डस्ट्री चालू करने के इच्छुकों के लिए पावर से चलने वाली व ऐसी इण्डस्ट्रीज़ जिनमें पावर अथवा मशीनों की जरूरत नहीं पड़ती, भी दी गई हैं।

यहीं नहीं बल्कि पुस्तक में पैकिंग, लेबलिंग, माल की बिक्री बढ़ाने, पार्टनरशिप लिमिटेड कम्पनियाँ व कोआपरेटिव सोसाइटीज़ बनाने के नियम, विदेशों से माल इम्पोर्ट करने के तरीके आदि सैकड़ों अति लाभदायक बातें भी समावेश की गई हैं। सफ़ेद कागज़, क्लाथ बाइन्डिङ्ग; इस पर भी मूल्य केवल १२) रुपया बारह रुपया, डाक व्यय दो रुपया पृथक।

धनाढ्य लोग जिन का बैंक बेलेन्स बहुत अधिक है या वे सज्जन जिनकी पूँजी किसी कारण से लॉक-अप हो चुकी है, वे इसे पुस्तक की सहायता से कोई भी इण्डस्ट्री चालू करके अपनी पूँजी का पूरा-पूरा लाभ उठा सकते हैं।

पुस्तक हिन्दी, उर्दू, इंग्लिश, तीन भाषाओं में छपकर तैयार है।

केवल पच्चीस नए पैसे के टिकट पोस्टेज वास्ते भेज कर हिन्दी की हज़ारों पुस्तकों का बड़ा सूचीपत्र मुफ़्त मंगायें।

हर प्रकार की पुस्तकें मिलने तथा वी०पी० द्वारा मंगाने का एक मात्र स्थान—

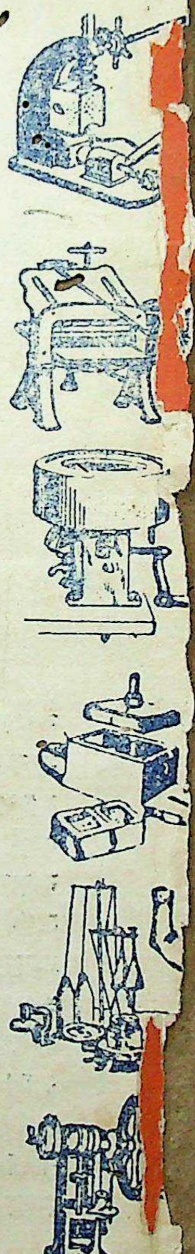

देहाती पुस्तक भंडार

चावड़ी बाज़ार देहाती बिल्डिंग, दिल्ली—६

फोन नं० : २२००३०

S.V. Spl. No. 2/62

नोट—लोकल ग्राहकों को टेलीफोन द्वारा पुस्तकें सप्लाई करने का पूरा प्रबन्ध है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाश्वत वाणी

सम्पादक
अशोक कौशिक

फरवरी, १९६२

वर्ष : २

अंक : २

विशेषांक

ऋतस्य सानावधि चक्रमाणाः रिहन्ति मध्व अमृतस्यवाणीः ॥

सम्पादकीय

शाश्वत समाजशास्त्र

समाजशास्त्र का प्रसंग प्रस्तुत होते ही हम सब लोगों का ध्यान साधारणतया उस समाजशास्त्र की ओर जाता है जो हमारे अद्यतन विद्यापीठों में पढ़ा-पढ़ाया जा रहा है। उस समाजशास्त्र की किसी भी पाठ्य-पुस्तक का प्रथम पृष्ठ पलटते-पलटते हम लोगों को यह तथ्य हृदयंगम करना पड़ता है कि समाजशास्त्र नाम के एक स्वतन्त्र शास्त्र का उदय सर्वप्रथम आधुनिक पाश्चात्य में ही हुआ और आधुनिक पाश्चात्य के समाज-शास्त्रियों के पूर्व किसी अन्य युग अथवा देश अथवा जाति के शास्त्रियों द्वारा इस प्रकार के शृङ्खलाबद्ध समाजशास्त्र की सृष्टि सम्भव नहीं हो पाई। यह माना कि प्राचीन ग्रीस, प्राचीन रोम तथा मध्ययुगीय योरुप के कई-एक मनीषियों की कृतियों में समाजशास्त्र के कतिपय अवयव बीजरूप से प्राप्त होते हैं। किन्तु उन समस्त मनीषियों में से कोई भी मनीषी एक साङ्गोपाङ्ग समाजशास्त्र की कल्पना अथवा रचना नहीं कर सका। और जहाँ तक भारत इत्यादि प्राच्य देशों का प्रश्न है, वहाँ तो निश्चय-पूर्वक यह कहा जा सकता है कि इन देशों के किसी प्राचीन अथवा मध्ययुगीय शास्त्री का स्वप्न में भी किसी प्रकार के किसी समाजशास्त्र के साथ सम्पर्क नहीं रहा।

अद्यतन समाजशास्त्र का अवलोकन करने से यह बात सर्वथा सत्य भी प्रतीत होती है। निस्सन्देह ही इस प्रकार के समाजशास्त्र का अस्तित्व तो किसी भी देश अथवा जाति के प्राचीन अथवा मध्ययुगीन इतिहास में नहीं रहा। तब प्रश्न उठता है कि ऐसे सारगर्भित शास्त्र के इस सर्वव्यापी अभाव का कारण क्या था? इस कारण का लेखा-जोखा भी हमें अद्यतन समाजशास्त्र में मिल जाता है। हमको समझाया जाता है कि जिस मूलभूत सिद्धान्त को आधार बनाकर अद्यतन समाजशास्त्र का महल खड़ा किया गया है, वह सिद्धान्त ही उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व किसी को ज्ञात नहीं था। अतएव एक सम्यक् सिद्धान्त के अभाव में एक सम्यक् समाजशास्त्र का अभाव अनिवार्य हो गया।

वह सिद्धान्त कौन-सा है? कोई भी अद्यतन समाज-शास्त्री बतला देगा कि वह विकासवाद का सिद्धान्त है। अद्यतन समाजशास्त्र के समस्त कलेवर में यह सिद्धान्त नख से लेकर शिख तक व्याप्त है। यह सिद्धान्त उस समाजशास्त्र का प्राण है। यदि इस सिद्धान्त को अग्राह्य कर दिया जाए तो उस समाजशास्त्र की स्थिति ही सम्भव नहीं। अतएव इस सिद्धान्त पर सम्यक् विचार करके देखना होगा कि इसमें कितने सत्य का समावेश है। इस सिद्धान्त के सत्यासत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का निर्णय होते ही अद्यतन समाजशास्त्र के सत्यासत्य का भी निर्णय हो जाएगा।

विकासवाद के सिद्धान्त का सार क्या है? इस सिद्धान्त ने विविध क्षेत्रों में तथ्यों तथा तर्कों के विविध घटाटोप खड़े किए हैं। किन्तु उन सारे घटाटोपों को एक माला में ग्रथित करने वाला सूत्र कौन-सा है? यदि मार्मिक दृष्टि से देखा जाए तो तुरन्त ही स्पष्ट हो जाता है कि विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी सनातन सत्य का प्रतिपादन कोरी कपोल-कल्पना है। ब्रह्माण्ड के अनन्त प्रसार में अथवा पिण्ड के गहनतम गर्भ में कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जिसे सनातन की संज्ञा दी जा सके, अर्थात् जिसके विषय में यह कहा जा सके कि काल के प्रवाह में और काल-चक्र के परे भी वह एक-समान और एक-रस रहता है।

विकासवाद के इस सारांश को तनिक भली-भांति समझ लेना चाहिए। कारण, आज यह हमारी साधारण बातचीत का अपरिहार्य अंग बन गया है। हम लोग बात-बात में कह बैठते हैं कि यह परम्परा अथवा पद्धति बीते युग की यादगार है, आज के युग में नहीं चलेगी, इत्यादि। हमारा तात्पर्य सब समय यह रहता है कि सत्य नित्य-नूतन है, कल का सत्य आज सत्य नहीं रहा, और आज का सत्य कल सत्य नहीं रहेगा। हमारे राजनीतिक नेतागण तो प्रति-पल गला फाड़-फाड़ कर यह कहते रहते हैं कि युग बदल रहा है, युग-श्रद्धा बदल रही है, युग-धर्म बदल रहे हैं, अतएव हमें भी प्रतिपल बदलते रहने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर जो कुछ भी पुरातन है उसका महत्त्व कूड़े-करकट से किसी अंश में भी अधिक नहीं है, और मूल्यवान् केवल वही है जो अभी-अभी उद्भूत हुआ है।

विकासवाद के इस सिद्धान्त के साथ-साथ एक अन्य सिद्धान्त अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है जो अधिकतर अपरोक्ष रहता है किन्तु कभी-कभी परोक्ष भी हो उठता है। वह है सतत और उत्तरोत्तर प्रगति का सिद्धान्त। सत्य केवल नित्य-नूतन ही नहीं है, अपितु नित्य प्रति निखरता भी रहता है। आज का सत्य कल के सत्य की तुलना में श्रेष्ठतर है, और आगामी कल का सत्य आज के सत्य की तुलना में श्रेष्ठतर होगा। और यह सिद्धान्त केवल सामाजिक सत्य के विषय में ही लागू नहीं किया जाता, अपितु ब्रह्माण्ड के सत्य के विषय में भी स्वीकार किया जाता है। आज ब्रह्माण्ड का जो रूप है, वह उस के कल के रूप की तुलना में श्रेष्ठतर है, और कल ब्रह्माण्ड का जो रूप होगा वह उसके आज के रूप की अपेक्षा श्रेष्ठतर होगा।

मानवप्राणी के मानस के विषय में भी यही बात मानी जाती है। आज के मानवप्राणी का मानस कल के मानव-प्राणी के मानस की तुलना में अधिक विकसित है। और आगामी कल के मानवप्राणी का मानस आज के मानवप्राणी के मानस की अपेक्षा अधिक विकसित होगा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मोहन नाम का व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान है, मोहन का पिता उसके पितामह की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान था, और इसी प्रकार मोहन के आदिम पूर्वज तक। व्यक्तिगत मानव-प्राणियों के प्रसंग में यह क्रम-विकास यत्र-तत्र भले ही भ्रमपूर्ण प्रतीत हो, किन्तु सामुदायिक दृष्टि से यह विकास-क्रम सर्वथा सम्यक् जान पड़ता है।

समाज के प्रसंग में विकास-क्रम के इस सिद्धान्त ने कई एक सुनिश्चित सोपानों अथवा युगों का आविष्कार किया है—जैसे कि पाषाण-युग, धातु-युग, आखेट-युग, पशुपालन-युग, कृषि-युग, सामन्त-युग, व्यापार-युग, उद्योग-युग, इत्यादि। इन में से प्रत्येक युग के मर्मभूत गुणधर्मों के विषय में विविध समाजशास्त्री विविध मत-मतान्तरों का प्रतिपादन करते रहते हैं और उन लोगों के बीच एक विशद वाद-विवाद भी बहुधा देखने को मिलता है। समाजशास्त्रियों के बीच यह भी एक विवाद का विषय है कि एक युग के दूसरे युग में परिणत होने की प्रक्रिया का सच्चा रहस्य क्या है। किन्तु एक बात पर वे सारे समाजशास्त्री एकमत हैं। वे सब के सब एक स्वर से कहते हैं कि प्रत्येक परवर्ती युग उसके पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा उन्नततर रहा है। किसी विशिष्ट जाति अथवा देश के इतिहास में यह सम्भवतः सत्य न भी हो, किन्तु सारे मानव समाज के इतिहास की समष्टि पर दृष्टिपात करते ही इस विषय में संशय को स्थान नहीं रहना चाहिए। और उत्तरोत्तर उन्नति की इस परम्परा की प्रस्तुत पराकाष्ठा आज के समाजशास्त्री आधुनिक पाश्चात्य की सभ्यता-संस्कृति में देखते हैं। अस्तु।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्यतन समाजशास्त्र के इस समस्त पसारे का प्रत्यावलोकन करने पर इतना तो तुरन्त ही स्पष्ट हो जाता है कि सनातन समाजशास्त्र जैसे किसी समाजशास्त्र का नाम लेना भी भयानक भ्रान्ति को प्रश्रय देना है। समाजशास्त्र यदि सामाजिक सत्य का वर्णन और विश्लेषण है तो सनातन समाजशास्त्र की कल्पना करना भी असम्भव है। कारण, सामाजिक सत्य में किसी सनातन सत्य का समावेश नहीं। सामाजिक सत्य तो नित्य-नूतन है। अतएव समाजशास्त्र भी नित्य-नूतन ही होना चाहिए। जो लोग किसी सनातन समाजशास्त्र की चर्चा करते हैं अथवा उसकी खोज में लगे हैं, वे सब स्वप्नद्रष्टा हैं और अपना समय तथा श्रम व्यर्थ में नष्ट कर रहे हैं।

तो फिर हमने सनातन समाजशास्त्र की बात क्यों उठाई ? जिस शास्त्र की स्थापना ही सम्भव नहीं, उसका प्रसंग ही क्यों प्रस्तुत हो ?

इस समस्या का समाधान समाजशास्त्र के स्तर पर कभी नहीं हो सकता। इसका सम्यक् समाधान तत्त्वशास्त्र के स्तर पर ही सम्भव है। कारण, समाजशास्त्र कभी भी तत्त्वशास्त्र से विभिन्न नहीं हो सकता। प्रत्येक प्रकार का समाजशास्त्र अन्ततः किसी न किसी प्रकार के तत्त्वशास्त्र का ही उप-प्रसंग होता है। अद्यतन समाजशास्त्र इस बात का विरोध करेगा। वह आग्रह करता है कि समस्त प्रकार के सार्थक शास्त्रों को तत्त्वशास्त्र के पाश से मुक्त कर लेना ही आधुनिक मनीषी की विशेषता है। अतएव आज का समाजशास्त्र भी किसी तत्त्वशास्त्र की अपेक्षा नहीं करता। किन्तु अद्यतन समाजशास्त्री के इस आग्रह में कोई सार नहीं। उसके समाजशास्त्र पर तनिक-सा गम्भीर मनन करते ही यह प्रकट हो जाता है कि वह एक विशेष प्रकार के तत्त्वशास्त्र का ही उपांग है।

वह तत्त्वशास्त्र कौन-सा है ? और क्या उसका खण्डन-मण्डन होने पर अद्यतन समाजशास्त्र का खण्डन-मण्डन भी निर्भर करता है ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर खोज लेने पर ही यह निर्णय हो सकेगा कि किसी सनातन समाजशास्त्र की स्थापना सम्भव है अथवा नहीं।

अद्यतन समाजशास्त्र का विश्लेषण करने पर हम उसकी आधारभूत विश्वमीमांसा तथा मानव-मीमांसा को निम्नोक्त पाँच सूत्रों में संक्षिप्त कर सकते हैं :—

१. ब्रह्माण्ड का जो रूप मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है, उस रूप के परे उसका कोई अन्य रूप नहीं।

२. ब्रह्माण्ड में व्याप्त क्रिया-प्रक्रिया का जो रहस्य मनुष्य की तार्किक बुद्धि द्वारा ग्राह्य है, उसके परे उसका कोई अन्य रहस्य नहीं।

३. मनुष्य के पास उस की ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड के पसारे को प्रत्यक्ष करने का कोई अन्य उपकरण नहीं।

४. मनुष्य के पास उसकी तार्किक बुद्धि के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड की क्रिया-प्रक्रिया को समझने, सुलझाने तथा अपने प्रयोजनानुसार प्रवर्तित करने का कोई अन्य कौशल नहीं।

५. मानव के प्रस्तुत जीवनवृत्त के पूर्व अथवा उपरान्त उसका कोई अन्य जीवनवृत्त नहीं।

शास्त्रीय शब्दों में अद्यतन समाजशास्त्र ब्रह्माण्ड में केवल एक लोक का अस्तित्व स्वीकार करता है, मानव-प्राणी का केवल एक जन्म मानता है, और मानव की चेतना में केवल ही एक ही भूमि का निवेश करता है। और इन आधारभूत आस्थाओं का अवलोकन करते ही कोई भी कह सकता है कि ये सब तो जड़वादी तत्त्वशास्त्र के अंग-प्रत्यंग हैं। इस प्रकार अद्यतन समाजशास्त्र का सारा पसारा अन्ततः जड़वादी तत्त्वशास्त्र से निष्यन्दित होता है। उस तत्त्वशास्त्र को अग्राह्य करते ही अद्यतन समाजशास्त्र का सारा महल बालू की भींत की भाँति एक क्षण में धराशायी हो जाएगा।

कई एक अद्यतन समाजशास्त्री फिर भी यह कहते सुने जाते हैं कि उनका शास्त्र तत्त्वशास्त्र के विषय में तटस्थ है और वह शास्त्र तो केवल आधुनिक विज्ञान की पद्धति का प्रयोग सामाजिक सत्य के क्षेत्र में करके अपना काम पूरा समझ लेता है। किन्तु उनका यह मत सर्वथा भ्रान्त है। आधुनिक विज्ञान की पद्धति का प्रयोग वस्तुतः सामाजिक सत्य के क्षेत्र में किया ही नहीं जा सकता। वह पद्धति तो केवल जड़जगत् के प्रसंग में ही प्रमाण है। मानव जगत् तो दूर की बात है, निम्न स्तर के प्राणी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत् में पदार्पण करते समय भी वह पद्धति उत्तरोत्तर लड़खड़ा कर अन्ततः पंगु बन जाती है। मानव-प्राणी तथा उसके विविध व्यापार के प्रसंग में, जो कि समाज-शास्त्र का विषय है, विज्ञान की पद्धति का प्रयोग करने का दुराग्रह वही कर सकता है जो मानव-प्राणी को जड़-पदार्थ का ही एक जटिल पर्याय मानता हो। और ऐसा मानना तो अकारण ही जड़वादी तत्त्वशास्त्र को स्वीकार कर लेना है।

इस प्रसंग पर तनिक और ध्यान देने की आवश्यकता है। मानव-प्राणी तथा उसके विविध व्यापार के विषय में वैज्ञानिक पद्धति की व्यर्थता आधुनिक मानव-शास्त्र का अवलोकन करते ही तुरन्त स्पष्ट हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव-प्राणी तथा उसके समस्त व्यापार का मध्य-विन्दु है मानव-प्राणी का मानस। जब तक मानव के मानस की थाह न मिल जाए तब तक मानव के विषय में अथवा मानव के व्यापार के विषय में कोई भी मीमांसा प्रस्तुत करना दिनकर को दीपक दिखलाने के समान है। आधुनिक मानसशास्त्र, जिसको आधुनिक विज्ञान की पद्धति का आश्रय लेकर सृष्ट किया गया है, आद्योपान्त ऐसा ही प्रयास है। उस मानस-शास्त्र की विशद विवेचना हम स्थानाभाव से इस स्थल पर नहीं कर सकते। यहाँ तो केवल इतना भर कह देना पर्याप्त है कि आधुनिक मानसशास्त्र जिस मानस की मीमांसा प्रस्तुत करता है, उसका मानव के प्रकृत मानस से विशेष सम्बन्ध नहीं।

फिर आधुनिक विज्ञान की पद्धति का परीक्षण करने पर भी यही स्पष्ट होता है कि वह पद्धति भी जड़वादी आस्थाओं का आश्रय लेकर ही प्रवर्तित हुई है। यह सत्य है कि वह पद्धति सत्य के एक ही स्तर का साक्षात्कार करने का दावा करती है, और वह इस प्रकार का आग्रह नहीं करती कि सत्य के अन्य स्तरों का साक्षात्कार करने के लिए अन्यान्य पद्धतियों का आविष्कार अथवा प्रयोग निषिद्ध है। किन्तु सत्य के जिस स्तर का साक्षात्कार करने के लिए इस पद्धति को परिमार्जित किया गया है, वह केवल जड़-पदार्थ का ही स्तर होने के कारण उस पद्धति के प्रयोग का तत्त्वशास्त्रीय पूर्वग्रह जड़वाद के पक्ष में ही रहता है। अतएव उस पद्धति का आश्रय लेने वाला समाजशास्त्र जड़वादी समाजशास्त्र ही कहलाएगा।

जो भी अद्यतन समाजशास्त्री यह कहता है कि उसके शास्त्र का किसी तत्त्वशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं, वह या तो तत्त्वशास्त्र के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ है, अथवा वह तत्त्वशास्त्र तथा समाजशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने में असमर्थ है, अथवा वह वैज्ञानिक पद्धति के विषय में एक भ्रान्ति का पोषण कर रहा है, अथवा वह जड़वाद के अतिरिक्त किसी अन्य दृष्टि की कल्पना ही नहीं कर सकता। जो भी हो, इस विषय में संशय को स्थान नहीं कि अद्यतन समाजशास्त्र आद्योपान्त जड़वाद की भित्ति पर निर्भर करता है। फलस्वरूप जड़वाद के जो भी गुण अथवा दोष हैं, वे सब के सब इस समाज-शास्त्र में भी समाविष्ट हो गए हैं।

इस प्रसंग में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए यह एक नया सूत्र हमारे सामने है। यह स्पष्ट है कि जड़वादी समाजशास्त्र द्वारा अनुशासित एवं अनुप्राणित होने वाले किसी भी समाज में जड़वाद के गुण अथवा दोष न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य ही प्रकट होंगे। अब हमें प्रथमतः यह देखना चाहिए कि जड़वाद के गुण अथवा दोष क्या हैं, और वे अद्यतन समाजशास्त्र द्वारा अनुशासित एवं अनुप्राणित किसी समाज में पूर्णरूपेण अथवा आंशिक रूप से प्रकट हुए हैं अथवा नहीं। इस प्रकार फल की मीमांसा करने से यह ज्ञात हो जाएगा कि वह कौन-से बीज का परिणाम है। यदि फल की जाति सुनिश्चित हो जाए तो बीज की जाति का निश्चय करना सर्वथा सुगम हो जाएगा। अस्तु।

(३)

जड़वाद कहता क्या है? विश्वचक्र के विषय में? मानवप्राणी के विषय में? मानव-जीवन की सार्थकता, जड़वाद के अनुसार, कहाँ निहित है? इन कुछ प्रश्नों के उत्तर खोज लेने पर जड़वाद के गुण अथवा दोष स्पष्ट हो जाएँगे।

जड़वाद का प्रथम सिद्धान्त यह है कि जो कुछ भी है, वह किसी चैतन्यशील तथा सोद्देश्य तत्त्व का परिणाम नहीं प्रत्युत एक अचेतन तथा निरुद्देश्य तत्त्व का पसारा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह जड़तत्त्व अनादि है, अनन्त है, और प्रतिपल परिवर्तन-शील है। उसके प्रवर्तक अथवा नियन्ता के रूप में किसी अन्य तत्त्व की प्रतिष्ठा प्रयोजनीय नहीं। कारण, वह तत्त्व सर्वथा अचेतन होते हुए भी कार्य-कारण के शाश्वत नियमों द्वारा प्रत्यावर्तित होता रहता है। वे नियम कुछ लोगों के मानस में एक चैतन्य का आभास अवश्य उपजाते हैं, किन्तु यह उन लोगों की भ्रान्ति मात्र है। मीमांसा करके देखने पर इस समस्त विश्व-चक्र में चैतन्य की कोई आदिभूत सत्ता उपलब्ध नहीं होती।

और यह विश्व-चक्र उसी जड़तत्त्व से अकारण और अकस्मात् ही प्रादुर्भूत प्रपञ्च मात्र है। यह नहीं भी होता। जड़तत्त्व के प्रत्यावर्तन में सहसा कुछ संयोग घटित हुए और यह विश्व-चक्र चल पड़ा। कल को कुछ अन्य प्रकार के संयोग घटित हो सकते हैं और यह विश्वचक्र विशृंखल हो सकता है। विश्व-चक्र में विद्यमान सुव्यवस्था को देखकर कुछ लोगों के मानस में यह आभास होता है कि यह किसी के द्वारा सुचारु संचालित है। किन्तु यह उनकी भ्रान्ति है। विश्व-चक्र का संचालक कोई नहीं।

मानव-प्राणी भी विश्व-चक्र के प्रत्यावर्तन में अकारण तथा अकस्मात् प्रादुर्भूत हो गया है। उसका प्रादुर्भाव नहीं भी होता। यह तो हमारी धरा पर कुछ विशेष प्रकार के संयोग घटित हुए, जड़तत्त्व में प्राणों का संचार हुआ, प्राणों ने चेतना को प्रकट किया, और चेतना के भीतर मन, बुद्धि तथा अन्यान्य अनेक गुण-धर्म उत्पन्न हो गए। प्राणियों के विकास-क्रम में, जलजीवी मत्स्य से लेकर मानव-प्राणी तक जो शृंखला दीख पड़ती है, उसकी प्रत्येक कड़ी का प्रादुर्भाव एक संयोग के परिणामस्वरूप ही हुआ है। कुछ अन्य प्रकार के संयोग हुए होते तो वह विकासक्रम किसी अन्य दिशा में जा सकता था, अथवा अवरुद्ध हो सकता था। इस विकासक्रम को देखकर कुछ लोगों के मानस में एक नियति का आभास होता है। वे सोचते हैं कि ऐसा होना अनिवार्य था। किन्तु यह उन लोगों की भ्रान्ति मात्र है।

मानव-प्राणी वस्तुतः मिट्टी का पुतला ही तो है। उस मिट्टी में किसी संयोग के फलस्वरूप किसी समय प्राणों का संचार हो गया। किन्तु इस संचार से मिट्टी के गुणधर्मों में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। मिट्टी के कार्यकारण नियमों की तुलना में प्राणों के कार्यकारण नियम सर्वथा अशक्त हैं। फिर प्राणों में, किसी संयोग के फलस्वरूप, किसी समय चेतना का उद्भव हुआ। किन्तु इस उद्भव से न तो मिट्टी के गुण-धर्मों में विशेष परिवर्तन हुआ और न प्राणों की परम्परा ही बहुत बदल पाई। मिट्टी और प्राणों की तुलना में चेतना अब भी अशक्त है। और चेतना के अन्तर्गत जो मन तथा बुद्धि आदि हैं, वे अधिकतर मिट्टी तथा प्राणों के ही अनुचर हैं। अतएव मानव-प्राणी को एक साधारण पशु-प्राणी की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट नहीं माना जा सकता। पशु में भी आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन की प्रवृत्तियाँ प्रधान हैं और मनुष्य में भी। अन्तर केवल इतना है कि मनुष्य ने, अपनी बुद्धि का आश्रय लेकर, प्रकृति के नियमों का ताना-बाना किसी अंश में सुलझाना सीख लिया है और प्रकृति को अपने प्रयोजनानुसार प्रवर्तित करने का प्रयास भी किया है।

संसार में जो सभ्यता और संस्कृति रही है, और रहेगी, वह सब उसी प्रयास का परिणाम है। मनुष्य के द्वारा, अपनी बुद्धि का आश्रय लेकर, प्रकृति के ऊपर अपना नियन्त्रण जमाने का प्रयास। उस प्रयास का इतिहास यन्त्रविद्या के इतिहास में मिलता है। मनुष्य ज्यों-ज्यों प्रकृति के नियमों को समझता जाता है, त्यों-त्यों वह प्रकृति के द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए विविध यन्त्रों का आविष्कार करता जाता है। अतएव सभ्यता-संस्कृति का एकमेव मापदण्ड यही है कि उसने कितने यन्त्रों का आविष्कार किया है और प्रकृति के प्रभुत्व को पराजित करके किस अंश में मनुष्य के प्रभुत्व का प्रतिपादन किया है। कला, शिल्प, साहित्य इत्यादि तो उस प्रक्रिया के अलंकार मात्र हैं। उनको सभ्यता-संस्कृति का सर्वस्व मानने की भूल करने वाला मनुष्य बालबुद्धि है।

और मानवजीवन की सार्थकता? वह तो उस लोकायत सूत्र में संगृहीत है—यावत् जीवेत् सुखेन जीवेत्। सुख अर्थात् इन्द्रियसुलभ सुख। प्राण, मन तथा बुद्धि जिस जिस सुख अथवा आनन्द की अनुभूति करते हैं, वे सब वस्तुतः इन्द्रियसुख के ही पर्याय हैं। मनुष्य में उसका शरीर सर्व-प्रधान अंग है। प्राण दूसरे नम्बर पर। फिर मन। और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्त में बुद्धि। बुद्धि का लक्ष्य यह नहीं है कि वह विशुद्ध ज्ञान की खोज करे और आत्मनिष्ठ हो जाए। उसका एकमात्र प्रयोजन यह है कि वह शरीर, प्राण तथा मन के लिए सुख का संग्रह करने के नए-नए उपाय खोजती रहे। विशुद्ध ज्ञान की खोज में प्रवृत्त होने वाली बुद्धि सर्वथा पथभ्रष्ट है। किन्तु उस खोज का विषय यदि विज्ञान हो तो वह किसी अंश में क्षम्य हो सकती है। कारण, विज्ञान के माध्यम से यन्त्रविद्या पनपती है, और यन्त्र तो सब प्रकार का स्थूल सौख्य जुटाने के साधन हैं।

इस प्रकार मानव-जीवन की सारी परम्परा बाहर से भीतर की ओर है। जो कुछ बाहर है वह, जो कुछ भीतर है, उसकी तुलना में अधिक शक्तिमान ही नहीं, अपितु अधिक मूल्यवान् भी है। मानव-प्राणी जिन परिस्थितियों में जीवनयापन करता है, वे परिस्थितियाँ मानवप्राणी की अपेक्षा अधिक शक्तिमान् हैं। वे बदलती हैं, तो मानव-प्राणी को भी बदलना पड़ता है। जो मानव-प्राणी बदल नहीं पाता अथवा बदलना नहीं चाहता, वह नष्ट हो जाता है। और परिस्थितियाँ अधिक मूल्यवान् भी हैं। परिस्थितियों का परिवर्तन ही मानव-जीवन के क्रम को सुख से दुख की ओर तथा दुख से सुख की ओर ले जाता है। मानव-प्राणी अपने-आप को कितना ही बदल डाले, किन्तु जब तक परिस्थितियाँ यथापूर्व हैं तब तक उसकी सुख की मात्रा में कोई अन्तर नहीं आ सकता। अतएव परिस्थितियों को बदल कर अनुकूल बनाना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए।

इसी प्रकार शरीर प्राणों की अपेक्षा अधिक शक्तिमान तथा मूल्यवान् है, प्राण मन की अपेक्षा अधिक शक्तिमान तथा मूल्यवान, और मन बुद्धि की अपेक्षा अधिक शक्तिमान तथा मूल्यवान्। शक्ति और मूल्य के इस क्रम को बदलने का हठ करने वाला पागल है, स्वप्नद्रष्टा है, बौखला गया है, उपरिभास के कारण तत्त्व को भूल बैठा है। शरीर पुष्ट है तो प्राण पुष्ट होंगे। प्राण पुष्ट होंगे तो मन पुष्ट होगा। और मन पुष्ट होगा तो बुद्धि पुष्ट हो जाएगी। पुष्टि के इस विधान को उलटने की चेष्टा करना भ्रान्ति का सर्वश्रेष्ठ लक्षण है। इस विधान को त्रिकाल में भी उलटा नहीं जा सकता।

जड़वाद का यह शास्त्र सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण होने के कारण मनुष्य की अध्यात्म-अभीप्सा की मीमांसा भी प्रस्तुत करता है। और वह मीमांसा अत्यन्त सरल है। मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक संघर्ष के प्रथम पर्वों में मनुष्य सर्वथा अशक्त था और प्रकृति सशक्त। मनुष्य के मानस में प्रकृति के प्रति भय का संचार होता था, अपनी पराजय पर ग्लानि की अनुभूति होती थी, और आत्मकारुण्य ही, विचार के क्षणों में, उसकी प्रकृत मनःस्थिति थी। भय, पराजय तथा आत्मकारुण्य की इन अनुभूतियों से मुक्ति पाने के लिए मनुष्य ने कल्पना का आश्रय लिया। उसने एक ऐसी आत्मा की कल्पना की जो शरीर के मर जाने पर भी अमर रहती है। उस आत्मा में मनुष्य ने सतत सुख, आनन्द, शान्ति इत्यादि का निवेश किया। और मनुष्य ने एक ऐसे ईश्वर की कल्पना की जो सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी इत्यादि है।

इस प्रकार की स्वप्नशीलता ने न जाने कितने पीर-पैगम्बरों की प्रतिष्ठा जमाई, न जाने कितने धर्म-ग्रन्थों की रचना करवाई, न जाने कितने सम्प्रदायों की सृष्टि की, न जाने कितने प्रकार के धर्म-स्थान तथा धर्मानुष्ठान उद्भूत किए, और न जाने कितनी मारकाट मचवाई। किन्तु अब मनुष्य वैसा अशक्त नहीं रहा। यन्त्र-विद्या की उन्नति के कारण वह प्रकृति के साथ लोहा लेने में तथा प्रकृति को पराभूत करने में उत्तरोत्तर सक्षम होता जा रहा है। अतएव अब वह स्वप्न नहीं देखता, प्रत्युत सत्य का साक्षात्कार करता रहता है। विज्ञान उस साक्षात्कार का साङ्गोपाङ्ग प्रतिवेदन है। अब मनुष्य को ज्ञात हो गया है कि वे पुराने पीर-पैगम्बर पागल लोग थे, वे सब धर्मग्रन्थ धोखे से भरे हैं, वे सब सम्प्रदाय विद्वेष के प्रचारक हैं, और वे सब धर्म-स्थान तथा धर्मानुष्ठान ढकोसले हैं। मनुष्य को अब न आत्मा से प्रयोजन है, न परमात्मा से कोई प्रत्याशा। परमात्मा पञ्चत्व को प्राप्त हो चुका, मनुष्य अब मुक्त है।

यह है जड़वाद के समूचे शास्त्र का सारांश। उस शास्त्र के अनेक संस्करण हैं, उस पर भाष्य तथा अनुभाष्य भी अनेक हुए हैं, उसके आचार्यों-प्राचार्यों की भी परम्परा भी बहुविध है, और उसके अन्तर्गत मनीषियों के बीच भी मार-काट की प्रवृत्ति कुछ कम नहीं देखी जाती। किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन सब बारीकियों में जाने के लिए इस समय अवकाश नहीं। यहाँ पर तो हमने उस शास्त्र की वह रूपरेखा मात्र दी है, जिसपर जड़वाद के समस्त सम्प्रदाय प्रायः एकमत देखे जाते हैं। उस एकता का प्रकृत परिचय उस समय प्राप्त होता है जब कि जड़वाद का आद्योपान्त विरोध करने वाला तथा किसी अध्यात्म तत्त्व का प्रतिपादन करने वाला कोई तत्त्व-शास्त्र सामने आता है। तब जड़वाद के समस्त सम्प्रदाय अपने सब प्रकार के वैमनस्य को भुला कर एक स्वर से आक्रोश करने लग जाते हैं। अस्तु !

(४)

अब हमें जड़वाद के गुणों अथवा दोषों का दिग्दर्शन करना चाहते हैं। गुण तथा दोष शब्द एक ही अर्थ के सूचक हैं। जड़वाद का विरोधी तत्त्वशास्त्र जिनको दोष कहता है, उन्हीं को जड़वाद गुण कहकर प्रज्ञापित करता है। अतएव इन दो शब्दों के प्रयोग से किसी को कोई धाँधली नहीं होनी चाहिए।

जड़वाद का प्रथम गुण है इन्द्रियसुख के लिए, स्थूल स्पर्श से उद्भूत होने वाले सुख के लिए, अतीव आग्रह और लोलुपता का परिचय देना। जिस व्यक्ति की बुद्धि में जड़वाद घर कर लेता है, वह जीवनव्यापार के स्थूल साधनों के संग्रह को ही मनुष्य की साधना का सर्वस्व मानने लगता है। उसके निकट स्थूल-सुख की विविधता का विन्यास ही मनुष्य के पुरुषार्थ की एकमात्र कषपट्टिका रह जाती है। ऐसे मनुष्य के जीवन में परिग्रह का व्यापार नहीं रहता। और यही नियम जड़वादी समाज के विषय में भी सत्य है। उस समाज के कोने-कोने से हाय-हाय होती रहती है कि स्थूल सुख की मात्रा अभी भी अल्प है, और वह और बढ़नी चाहिए।

फलस्वरूप ऐसे व्यक्ति तथा समाज के जीवन में कला, शिल्प, साहित्य, दर्शन और अध्यात्म-साधना जैसे सूक्ष्म अध्यवसाय आजीविका कमाने के अवलम्बन मात्र बनकर रह जाते हैं, जिससे आने वाली आय का उपयोग सुख के स्थूल साधन जुटाने के लिए किया जाता है। साथ ही मानव-जीवन के उच्च आदर्शों की मीमांसा निम्न प्रवृत्तियों का आश्रय लेकर होने लगती है। सत्य केवल नीति का पर्याय मात्र बन जाता है। त्याग, तपस्या, दान, तेज, क्षमा इत्यादि धर्म केवल समाज की स्थिति के लिए प्रयोजनीय माने जाते हैं। और व्यक्ति अथवा वर्ग में किसी प्रकार की नैतिक उत्कृष्टता का उदय अन्ततः उसके पागलपन का परिचायक बन जाता है।

जड़वाद का द्वितीय गुण है परिस्थिति को प्रमुख तथा मनुष्य को गौण मानना। यदि परिस्थिति बदलती है तो मनुष्य को भी बदलना पड़ेगा। मनुष्य वस्तुतः अपने-आप में कुछ नहीं है। किसी समय भी वह एक प्रकार की परिस्थितियों द्वारा प्रादुर्भूत प्रवृत्तियों का पुञ्ज मात्र है। परिस्थितियों को भी बदलना होगा। न बदल पाने का अर्थ है अस्वस्थता का परिचय देना। मनुष्य के समाज में विद्यमान समस्त व्यवस्थाएँ तथा सब प्रकार की परम्पराएँ परिस्थितियों के साथ-साथ परिवर्तित होती रहनी चाहिएँ। और परिस्थितियों के परिवर्तन पर तो अब किसी का नियन्त्रण रहा नहीं। यन्त्र-विद्या का विकास इतनी द्रुतगति से हो रहा है कि कल साँझ की परिस्थिति आज प्रातःकाल के पूर्व पुरानी हो जाती है। परिस्थितियों के इस परिवार में सबसे प्रमुख है वह व्यवस्था जिसका अवलम्बन ले कर मनुष्य अपने जीवन में सब प्रकार के प्राचुर्य का संग्रह करने में लगा हुआ है। वह उत्पादन व्यवस्था ही मनुष्य के समाज की सूत्रधार है। समाज को उसी प्रकार नाचना होगा जिस प्रकार कि वह सूत्रधार नचाना चाहे। इस व्यापार में किसी व्यक्ति अथवा वर्ग अथवा राष्ट्र की अपनी इच्छा-अनिच्छा, रुचि-अरुचि का कोई स्थान नहीं।

यह परिस्थितिवाद ही आज के जड़वाद का मूलमन्त्र है। इसकी सर्वोत्कृष्ट व्याख्या मार्क्सवाद में मिलती है। किन्तु आधुनिक पाश्चात्य के प्रायः समस्त वाद ही किसी न किसी रूप में इसी मतवाद के पर्याय हैं। इस देश में स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त सत्ता प्राप्त करने वाला वर्ग भी इसी मतवाद का अनुयायी है। एक अंश में यह कहा जा सकता है कि आज के युग में यदि कोई प्राणवान् युग-श्रद्धा है तो वह परिस्थितिवाद ही है। अन्य सब प्रकार की श्रद्धा बीते युग के ध्वंसावशेष मात्र हैं जिनका उन्मूलन अभी तक नहीं हो पाया और जो विशुद्ध परिस्थितिवाद के मार्ग में रोड़े अटकाते रहते हैं।

ये हुए जड़वाद के प्रमुख गुण। और इनका परिचय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त होते ही यह भी समझ में आ जाता है कि ये गुण आज के पाश्चात्य देशों में बहुत दूर तक प्रसार पा चुके हैं। इन गुणों का प्रसार अब प्राची के देशों में भी द्रुततर होता जा रहा है। कारण, पाश्चात्य, साम्राज्यवाद के पतन के उपरान्त इन देशों की बागडोर जिन लोगों के हाथों में आई है, वे सब पाश्चात्य सभ्यता के ही अन्ध अनुयायी हैं।

और पाश्चात्य के इतिहास का अवलोकन करते ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ इन गुणों का प्रसार तथा अद्यतन समाजशास्त्र का प्रचार परस्पर सापेक्ष रहे हैं। प्रथम महायुद्ध के काल तक पाश्चात्य की प्राचीन तथा मध्ययुगीन परम्पराएँ इस समाजशास्त्र के साथ संघर्षरत थीं। किन्तु तदनन्तर तो यह समाजशास्त्र वहाँ एकबारगी एकछत्र हो चला है। इस एकछत्रता के सबसे उत्कट उदाहरण हैं संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा सोवियत रूस। और इन्हीं दो देशों में जड़वाद के गुणों की पराकाष्ठा भी प्राप्त होती है। सोवियत् रूस में स्थूल साधनों का अभी तक अपेक्षाकृत अभाव होने के कारण जड़वाद की छाप वहाँ कुछ कम दिखलाई देती है। किन्तु उसकी अभीप्सा की दिशा वही है जिसकी ओर अमेरिका कुछ आगे बढ़ चुका है।

अतएव यह सिद्ध है कि जिन समाजों में अद्यतन समाजशास्त्र का प्रचार जितनी मात्रा में हुआ है, उन्हीं में जड़वाद के गुणों का प्रसार उतनी ही मात्रा में पाया जाता है। इस प्रकार फल तथा बीज का मिलान बैठाना सर्वथा सम्भव है। अब इस विषय में किसी संशय को स्थान नहीं कि अद्यतन समाजशास्त्र आद्योपान्त जड़वाद के तत्त्वशास्त्र पर आश्रित है। यदि जड़वाद की जड़ें खोखली हैं तो अद्यतन समाजशास्त्र भी थोथा आडम्बर है। अतएव हमें जड़वाद की मीमांसा कर के देखना पड़ेगा कि उसमें कितना सार है।

(५)

जड़वाद का प्रचार तो इतिहास के सभी युगों में रहा है। किन्तु आधुनिक युग के आगमन तक वह भोगवाद के मण्डन मात्र का रूप धारण किए आया था। अब सहसा जड़वादी तत्त्वशास्त्री तर्क करने लगा है कि आधुनिक विज्ञान और विशेषकर आधुनिक यन्त्र-विद्या का विकास जड़वाद के सारभूत होने का अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। जिस भी जड़वादी से बात करो वही कहने लगता है कि विज्ञान और यन्त्र-विद्या ने बहुत से प्रत्यक्ष चमत्कार दिखलाकर आत्मा, परमात्मा इत्यादि की बकवाद को सदा के लिए सुला दिया है। और साधारण लोगों पर इस प्रकार के आग्रह का बहुत प्रभाव पड़ता है। उनके मन में संशय जन्म लेने लगता है कि आत्मा, परमात्मा तथा अन्यान्य अध्यात्मतत्त्व शायद स्वप्न ही हों।

किन्तु यह दावा करना कि आधुनिक विज्ञान किसी प्रकार भी और किसी अंश में भी जड़वाद का समर्थन करता है, एक हास्यास्पद अन्धविश्वास मात्र है। आधुनिक विज्ञान के समस्त धुरन्धर गवेषकों ने बारम्बार और पुकार पुकार कर यह प्रज्ञापित किया है कि विज्ञान वस्तुतः एक पद्धति मात्र है जो ज्ञानेन्द्रिय-ग्राह्य तथ्यों को एक प्रकार से तर्कबद्ध करती है, और जो किसी प्रकार की अन्तिम आस्थाओं का कोई तन्त्र सूचित नहीं करती।

आधुनिक विज्ञान यह नहीं कहता कि ब्रह्माण्ड में केवल एक ही लोक है। वह केवल यह कहता है कि वह अपनी गवेषणा को इस एक लोक की परिधि तक परिसिमित करके ही अपने निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकता है। ब्रह्माण्ड में और भी अनेक लोक हो सकते हैं। किन्तु विज्ञान को उन लोकों से कोई प्रयोजन नहीं। वह न उन लोकों का प्रतिपादन करता है, न खण्डन। वह केवल इतना कहता है कि उसकी पद्धति की इहलोक के परे किसी अन्य लोक तक पहुँच नहीं।

न ही आधुनिक विज्ञान यह हठ करता है कि वह मानवचेतना की केवल एक ही भूमि स्वीकार करेगा। चित्त की अनेक भूमियाँ हो सकती हैं। किन्तु विज्ञान को उन सबसे कोई प्रयोजन नहीं। वह न उन भूमियों का प्रतिपादन करता है, न खण्डन। वह केवल इतना कहता है कि उसकी पद्धति के लिए मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धि के परे किसी अन्य चेतना का कोई उपयोग नहीं।

और यह एक कोरा अकस्मात् नहीं कि जड़वादी तत्त्वशास्त्र के जितने भी समर्थक हुए हैं और हैं उनमें से कोई भी विज्ञानवेत्ता नहीं। और न ही एक-दो के अतिरिक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी विज्ञानवेत्ता ने कभी जड़वाद के तत्त्वशास्त्र का समर्थन किया है। अधिकांश विज्ञान-वेत्ता तो अध्यात्म तत्त्व को अंगीकार करने वाले ही हुए हैं। अतएव किसी भी जड़वादी का यह कथन कि आधुनिक विज्ञान उस के तत्त्वशास्त्र की पुष्टि करता है, कोरी बकवाद है जो केवल उन्हीं लोगों को बहका सकती है जो आधुनिक विज्ञान की पद्धति से परिचित नहीं।

विज्ञान से विच्छिन्न होते ही जड़वाद की पोल खुल जाती है। तदनन्तर उसके पास एकमात्र युक्ति यही रह जाती है कि जड़जगत् के अतिरिक्त अन्य किसी जगत् के अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। प्रत्यक्ष की परिभाषा जड़वाद इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के रूप में करता है। जड़वाद के अनुसार यही एकमात्र ऐसा प्रत्यक्ष है, जिसका आश्रय लेकर अनुमान तथा उपमान की प्रक्रियाएँ पनपती हैं और जिसकी कषपट्टिका पर बारम्बार कसी जाकर वे प्रक्रियाएँ परिशुद्ध होती हैं। जो अनुमान अथवा उपमान अन्ततः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकते, उनको जड़वाद के मत में कल्पना अथवा स्वप्नशीलता के अतिरिक्त अन्य कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती।

किन्तु जड़वाद इस विषय में कोई युक्ति अथवा प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को ही क्यों एकमात्र प्रत्यक्ष माना जाए। यहां आकर वह अपनी स्थापना को स्वतःसिद्ध और स्वयंप्रमाण मानता है। यदि इस विषय में कोई उसके साथ विवाद करना चाहता है, तो वह आँख में उंगली डाल कर कह देता है कि देखो दर्द होता या नहीं और बाहर का संसार धुंधला जाता है अथवा नहीं। बलात्कार की इस क्रिया के परे वह जाना ही नहीं चाहता और जो जाता है, उसको पागल कहता है।

परन्तु गम्भीरता से गवेषणा करने पर जड़वादी की यह स्थापना स्वतःसिद्ध अथवा स्वयंप्रमाण होने की अपेक्षा एक दुराग्रहपूर्ण पूर्वग्रह ही प्रतीत होती है। यह उस व्यक्ति का-सा हठ है जिसने कभी मधुर रस का आस्वादन ही नहीं किया और जो आग्रहपूर्वक कहता सुना जाता है कि मधुर रस जैसे किसी रस का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। किन्तु संसार के अनेकानेक अन्य मनुष्य जानते हैं और मानते हैं कि मधुर रस का अस्तित्व है। यदि एक बार यह सिद्ध हो जाए कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रकार के प्रत्यक्ष भी होते हैं और मनुष्य समाज में सदा ही ऐसे व्यक्ति रहे हैं जिन्होंने उन प्रत्यक्षों को अपने जीवन में उपलब्ध एवं सिद्ध किया है, तो जड़वाद का लौहदुर्ग कोरे कागज का खिलौना बनकर रह जाएगा। और इस विषय में तो प्रमाणों का अभाव नहीं।

संसारव्यापी अध्यात्म-परम्परा विशेष रूप से और शिल्प तथा साहित्य इत्यादि ललित कलाओं की परम्परा गौण प्रसंग में यह अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करती है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के परे भी अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष हैं। वे प्रत्यक्ष उतने ही सारभूत हैं जितने कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष। हाँ, वे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की नांई इतने सुलभ नहीं। किन्तु वह तो एक सर्वथा गौण प्रसंग है। मुख्य प्रसंग तो यह है कि इन्द्रियातीत प्रत्यक्ष का अस्तित्व है।

इस स्थल पर जड़वादी का प्रबल पक्षपात भी प्रकट होता है। कोई विज्ञानवेत्ता जब उससे कहता है कि जड़-तत्त्व में अमुक-अमुक कार्य-कारण नियम काम कर रहे हैं तो वह उस बात को तुरन्त स्वीकार करता है। किन्तु कोई अध्यात्म साधक जब उससे कहता है कि जड़ातीत तत्त्व इस प्रकार के हैं और इस-इस प्रकार प्रवृत्त होते हैं तो वह नाक-भौं सिकोड़ने लगता है। उससे यदि पूछा जाए कि उसने विज्ञानवेत्ता की बात पर तुरन्त विश्वास क्यों कर लिया तो वह उत्तर देता है कि उसके संशय करने पर विज्ञानवेत्ता उसको अपनी प्रयोगशाला में ले जा-कर जड़तत्त्व की वह क्रिया-प्रक्रिया प्रत्यक्ष दिखला सकता है। किन्तु यदि उससे कहा जाए कि अध्यात्म का साधक भी तो यही बात कहता है कि जिस किसी को अध्यात्म तत्त्व पर विश्वास नहीं हो वह साधक की बतलाई हुई साधना करके उस तत्त्व को प्रत्यक्ष कर ले। तो वह युक्ति मानने को तैयार नहीं होता। हाँ, वह साधना इतनी सुगम नहीं जितनी कि वैज्ञानिक प्रयोगशाला की साधना। किन्तु साधना का दुरुह होना तो उसके साध्य की अनुपलब्धि का प्रमाण नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जड़वादी का सारा युक्ति-तर्क एक कूपमण्डूक के वितण्डावाद से किसी प्रकार भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्कृष्ट नहीं। न तो विज्ञान ही उस वितण्डावाद का समर्थन करता है, और न मनुष्य की अपनी अनुभूति। मनुष्य ज्यों-ज्यों अन्तर्मुख होता जाता है, त्यों-त्यों वह स्वयं अनुभव करता है कि इन्द्रियों के लिए जो कुछ प्रत्यक्ष है, वह तो प्रत्यक्ष का एक अशंमात्र है, सो भी किसी प्रकार से प्रमुख अंश नहीं। फिर भला जड़वाद की स्थिति का आधार ही क्या रह जाता है? एक अन्ध आग्रह के अतिरिक्त? और यदि जड़वाद का कोई अकाट्य आधार नहीं तो उसके आश्रय से खड़ा हुआ अद्यतन समाजशास्त्र भी आधारहीन है। यह बात कि अनेकानेक लोग जड़वाद तथा उसके द्वारा पुष्ट समाजशास्त्र पर विश्वास करते हैं और अपने तथा अपने समाज के जीवन को तदनुसार ढालने की चेष्टा में लगे हुए हैं, इस प्रसंग में कोई प्रमाण नहीं माना जा सकता।

(६)

अतएव यह निष्कर्ष निष्पन्न होता है कि अद्यतन समाजशास्त्र के यह कह देने से कि किसी सनातन समाजशास्त्र की स्थिति सम्भव ही नहीं, सनातन समाजशास्त्र की सम्भावना किसी प्रकार भी खटाई में नहीं पड़ती। किन्तु यह तो नकारात्मक स्थापना हुई। सनातन समाजशास्त्र की स्थिति के लिए हमें कोई सकारात्मक स्थापना सिद्ध करनी होगी। यदि सनातन सत्य जैसा कोई तत्त्व विद्यमान है, तो सनातन समाजशास्त्र ही एकमात्र समाजशास्त्र है। अन्य सब समाजशास्त्र तो मिथ्यात्व के ही विविध पर्याय कहलाएँगे।

सनातन सत्य क्या है? साधारणतया सनातन का अर्थ यह किया जाता है कि जो तत्त्व काल के धर्म से पुराना पड़ गया किन्तु मरा नहीं, वह सनातन है। किन्तु सनातन का यह अर्थ भ्रान्त है। सनातन सत्य वह है जो सब काल में, सब स्थान में, सबके लिए, सब दृष्टियों से एक समान रहता है। श्रीमद् भगवत् गीता में आत्मा को सनातन कहा गया है। साथ ही आत्मा को नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, अव्यक्त, अचिन्त्य और अव्यय भी बतलाया गया है। ये सब धर्म सनातन सत्य में एक साथ विद्यमान होने के कारण ही वह सनातन है।

अतएव यह निश्चित है कि जड़तत्त्व कभी भी सनातन नहीं कहला सकता। वह न नित्य है, न सर्वगत, न स्थाणु, न अचल, न अव्यक्त, न अचिन्त्य और न अव्यय। वह अनित्य है, स्थानगत है, अस्थायी और चंचल है, व्यक्त है, चिन्त्य है और व्ययधर्मा है। वह सब समय, सब स्थान पर, सबके लिए, सब दृष्टियों से एक समान नहीं रहता।

और न ही विश्वचक्र में व्याप्त प्राण, मन, बुद्धि अथवा चित्त की किसी अन्य वृत्ति को सनातन की संज्ञा दी जा सकती है। वे सब भी जड़तत्त्व के समान परिवर्तनशील और परिणामी हैं। आधुनिक पाश्चात्य में प्राण, मन, बुद्धि तथा चित्त की अन्यान्य वृत्तियों को आधार बना कर कई एक तत्त्वशास्त्रों का निर्माण हुआ है, और इन तत्त्वशास्त्रों के समर्थक अपने आपको जड़वाद के प्रतिपक्षी कहकर प्रज्ञापित करते हैं। किन्तु सनातन सत्य की दृष्टि से देखने पर ये सब तत्त्वशास्त्र भी जड़वाद के समान ही भङ्गुर हैं। इनमें से किसी के आधार पर भी सनातन समाजशास्त्र की स्थिति सम्भव नहीं।

सनातन सत्य का दावा करने वाले कोई तत्त्वशास्त्र यदि हैं तो वे अध्यात्मवादी तत्त्वशास्त्र ही हैं। अध्यात्म का प्रतिपादन करने वाले मनुष्यों ने ही दावा किया है कि वे एक ऐसे सत्य को जानते तथा मानते हैं जो सनातन है। उस तत्त्व के नाम उन लोगों ने विविध प्रकार से प्रज्ञापित किए हैं—आत्मा, ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर, शून्य, अमृत इत्यादि। किन्तु उसकी परिभाषा करते समय वे सब लोग, यदि वे कोरे वितण्डावाद में रत नहीं हैं तो, प्रायः एक ही बात कहते हैं। ज्ञान, भक्ति, योग इत्यादि विविध साधनाएँ भी उस एक सत्य के साक्षात्कार के लिए अनेक मार्ग हैं।

अध्यात्मवादियों का दावा एक और भी है। वे कहते हैं कि वह सनातन सत्य बुद्धि द्वारा कल्पित तथा शब्दजाल द्वारा निवेदित धारणा मात्र नहीं है। उनके मत में उस सत्य का उसी प्रकार साक्षात्कार किया जा सकता है, जिस प्रकार कि जड़ जगत् का। यह एक भिन्न प्रसंग है कि उस साक्षात्कार के लिए मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ असमर्थ हैं, और उसका प्रत्यक्ष ज्ञान चित्त को अन्तर्मुख तथा ऊर्ध्वारूढ़ करके ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि हम एक बार यह दुराग्रह त्याग दें कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रत्यक्ष है तो इस बात को मान लेने में हमें कोई दुविधा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं होनी चाहिए। संसार भर के सन्त, महात्मा, सूफी, मिस्टिक, भक्त, योगी, ज्ञानी और सिद्ध बारम्बार यह कहते सुने गए हैं कि वे जिस तत्त्व का गुण-गान कर रहे हैं उसको उन्होंने स्वयं देखा है और जाना है।

यहाँ पर कठिनाई केवल एक ही है। संसार में अध्यात्म की कई एक परम्पराएँ पाई जाती हैं। और वे परम्पराएँ अध्यात्म के प्रसंग में ही नहीं, प्रत्युत अनेकानेक अन्य प्रसंगों में भी परस्पर विरोधी बातें कहती रहती हैं। उन अध्यात्म-परम्पराओं के अनुयायियों के बीच शास्त्रार्थ ही नहीं, शस्त्रसम्पात भी हुआ है—अपने-अपने अध्यात्मशास्त्र के प्रतिपादन तथा अन्यान्य अध्यात्मशास्त्रों के खंडन तथा उच्छेद के लिए। फिर उनमें से किस परम्परा को प्रमाण माना जाये? और प्रमाण मानने का मानदण्ड क्या है?

विविध अध्यात्म-परम्पराओं की परस्पर तुलना करने से एक बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। भारत में जिन अध्यात्म-परम्पराओं का उद्भव हुआ है, वे सब यह कहती हैं कि सनातन सत्य का साक्षात्कार सब काल में, सब देशों में, सब जातियों के सब मनुष्यों के लिए एक समान सम्भव है। यह एक विभिन्न प्रसंग है कि किस मनुष्य को, किस कोटि का आधार होने के कारण, कौन-सी साधना का अधिकार है और वह कितने काल में अथवा कितने जन्मों में सनातन सत्य का साक्षात्कार कर पाएगा। साक्षात्कार की सम्भावना के विषय में कोई भी भारतीय अध्यात्म-परम्परा संशय का समर्थन नहीं करती। इसके विपरीत, अभारतीय अध्यात्म-परम्पराओं में एक आग्रह का परिचय प्राप्त होता है। वे सब की सब यह कहती सुनी जाती हैं कि सनातन सत्य का साक्षात्कार केवल कुछ विशिष्ट लोग ही कर सकते हैं। शेष सब मनुष्यों को तो उन विशिष्ट व्यक्तियों की बात मानकर ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा। वे विशिष्ट व्यक्ति हैं वे पैग़म्बर जो समय-समय पर अवतीर्ण हुए हैं और जिनके साक्षात्कार का विवरण हमको उन के वचनामृत में उपलब्ध होता है।

यहाँ पर एक स्पष्टीकरण वांछनीय है। अभारतीय अध्यात्म-परम्पराओं के पैग़म्बरों को भारतीय परम्परा में विहित अवतार का पर्यायवाची नहीं मान लेना चाहिये। अवतार तो स्वयं उस सनातन सत्य का होता है—अंश रूप में अथवा पूर्ण रूप में। धरा पर किसी दिव्यकर्म की समापना के लिए। किन्तु पैग़म्बर तो उस सनातन सत्य का संदेश मात्र देने आता है। वह स्वयं सनातन सत्य नहीं होता। केवल ईसाइयत का शास्त्र ही भगवान मसीह को अवतार की संज्ञा देना चाहता है। किन्तु वह संज्ञा भी वह नहीं जो भारतीय परम्परा के राम अथवा कृष्ण अथवा बुद्ध को प्राप्त है।

अतएव अभारतीय अध्यात्म-पराम्पराओं के प्रसंग में एक बाधा का बोध सब समय होता रहता है। पैग़म्बर के वचनामृत को सनातन सत्य का सन्देश मानते समय केवल विश्वास का ही आधार लेना पड़ता है, किसी प्रत्यक्ष प्रमाण की उपलब्धि नहीं हो पाती। कारण, अभारतीय अध्यात्म-परम्पराएँ मानती हैं कि पैग़म्बर ने चित्त की जिस भूमि पर उत्तीर्ण होकर सनातन सत्य का साक्षात्कार किया था, वह भूमि अन्यान्य मनुष्यों के लिए प्रापणीय नहीं। दूसरे शब्दों में पैग़म्बर के अतिरिक्त सनातन सत्य का साक्षात्कार किसी अन्य मानवदेहधारी के लिए सम्भव नहीं। अतएव अन्य मनुष्यों को यह विश्वास करके ही काम चलाना होगा कि पैग़म्बर ने सनातन सत्य का साक्षात्कार किया था। स्वयं उस सनातन सत्य का साक्षात्कार करके पैग़म्बर के समर्थन में प्रत्यक्ष प्रमाण जुटाना किसी अन्य मनुष्य के लिए न विधेय है, न वांछनीय, न सम्भव।

इस प्रकार पैग़म्बर के वचनामृत का सत्य-असत्य जाँचने के लिए उन अध्यात्म-परम्पराओं के पास केवल एक ही कसौटी रह जाती है—तर्क की कसौटी। तार्किक बुद्धि की तुलना पर तोलकर ही उस वचनामृत का मूल्यांकन किया जा सकता है। और तार्किक बुद्धि सदा ही किसी प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रश्रय पाए बिना पंगु होती है। उस में अनवस्था का दोष आदितः विद्यमान है। तार्किक बुद्धि को आधार मान लेने पर जीत सदा उसकी होगी जिस की बुद्धि अधिक प्रखर हो। और बुद्धि की प्रखरता का तो अन्त नहीं। इस प्रकार तो कभी किसी प्रसंग का निर्णय सम्भव नहीं।

किन्तु भारतीय अध्यात्म-परम्परा से परिचय होते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें शब्द, आगम, श्रुति आदि को ही प्रथम और सर्वप्रमुख प्रमाण माना गया है। अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति इत्यादि तार्किक बुद्धि द्वारा प्रदत्त प्रमाणों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को शब्द प्रमाण का आश्रय लेना पड़ता है। यदि शब्द का प्रमाण विपरीत है तो तार्किक बुद्धि के सारे हथकण्डे सदा बेकार रहते हैं। इस परम्परा का अर्थ यही है कि प्रत्यक्ष प्रमाण को ही एकमात्र प्रमाण मानना चाहिए। शब्द, आगम, श्रुति इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण के ही पर्याय है। शब्द वह है जो साधक ने सिद्धि प्राप्त करके स्वयं प्रत्यक्ष किया।

अतएव भारतीय अध्यात्म-परम्परा सब समय सबको चुनौती देती है कि उसके सत्यासत्य का निर्णय करना चाहते हो तो उसके द्वारा विहित साधना करके देख लो। अनेक कोटि तर्क एक ओर, और प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा प्राप्त सत्य का साक्षात्कार एक ओर। यहाँ किसी का अन्धविश्वास अपेक्षित नहीं। यहाँ यह नहीं कहा जाता कि शब्द, आगम, श्रुति इत्यादि की सृष्टि करने वाले सिद्ध पुरुष चित्त की जिस भूमि पर उत्तीर्ण हुए थे वह भूमि अन्यान्य मनुष्यों के लिए अनुपलभ्य है। जो भी मनुष्य साधना करेगा, उसी को चित्त की वह भूमि उपलब्ध हो जाएगी जिस पर आरूढ़ सिद्ध पुरुषों ने वह वचनामृत कहा है जिसे हम शब्द, आगम और श्रुति इत्यादि की संज्ञा देते हैं।

इस प्रकार से भारतीय तथा अभारतीय अध्यात्म परम्पराओं की परस्पर तुलना करने पर अपने आप ही उस प्रमाण की उपलब्धि हो जाती है जिसे हम इस प्रसंग में मानदण्ड मान सकते हैं। जो अध्यात्म-परम्परा सनातन सत्य के साक्षात्कार को सब समय, सब देश में, सब जातियों के लिए तथा सब मनुष्यों के लिए एक समान सम्भव मानती है, वही अध्यात्म-परम्परा सर्वोत्कृष्ट है। अन्यान्य अध्यात्म-परम्पराएँ उसकी बराबरी नहीं कर सकतीं। यही कारण है कि भारतवर्ष की सर्वापेक्षा पुरातन अध्यात्म-परम्परा ने अपने-आप को किसी विशिष्ट ऋषि, मुनि अथवा पैग़म्बर इत्यादि के नाम से प्रज्ञापित न करके सनातन धर्म के नाम से निवेदित किया है। "सनातन धर्म" का नाम ही जिन मनीषियों के मानस में एकमात्र उपयुक्त नाम बन कर आविर्भूत हुआ, वे निस्संदेह ही अध्यात्म तत्त्व का ओर-छोर देख आने वाले थे। अन्यथा वे किसी न किसी प्रकार के साम्प्रदायिक अहंकार का आश्रय लेकर अपनी परम्परा को किसी विशिष्ट व्यक्ति के नाम से प्रज्ञापित किए बिना नहीं रह पाते। अस्तु।

तो भारत की अध्यात्म-परम्परा ही सनातन सत्य के साक्षात्कार की सर्वोत्कृष्ट परम्परा है। अतएव उस परम्परा के प्रश्रय पर पला हुआ समाजशास्त्र ही सनातन समाजशास्त्र कहलाने का अधिकारी है। कारण, सनातन धर्म के आधार पर सृष्ट समाजशास्त्र ही अपने विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत कर सकता है। अन्य समाजशास्त्र तो जड़वाद के समाजशास्त्र के समान तार्किक बुद्धि का आश्रय लेने के कारण अनवस्था के दोष से सदा दूषित रहेंगे। उन समाजशास्त्रों का यह दोष दूर किया ही नहीं जा सकता। अब हम को यह देखना है वह सनातन समाजशास्त्र किस प्रकार का है और उसकी रूपरेखा क्या है।

इस प्रसंग में एस प्रभेद प्रयोजनीय है। भारत की अध्यात्म-परम्परा में भी दो धाराएँ देखी जाती हैं। एक वैदिक तथा दूसरी अवैदिक। वैदिक धारा का परिचय हमें वेद-वेदाङ्ग, इतिहास-पुराण तथा स्मृति और धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उनमें श्रीमद्-महाभारत का स्थान सर्वोपरि है। कारण, वेद-वेदाङ्ग में जो बात सूत्र रूप में कही गई है, वही महाभारत में विस्तार-पूर्वक तथा मानव जीवन के विविध प्रसंगों का आश्रय ले कर समझाई गई है। अवैदिक परम्परा सांख्य की परम्परा है जिसका विकास बौद्ध, जैन तथा शांकर वेदान्त इत्यादि में देखा जाता है।

सनातन सत्य के विषय में तो ये दोनों धाराएँ एक-मत हैं। वे दोनों एक समान स्वीकार करती हैं कि साधना द्वारा उस सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। किन्तु मानव के जीवन में उस सनातन सत्य की सार्थकता के विषय में वे धाराएँ एकमत नहीं। वैदिक धारा सनातन सत्य को ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत मानती है। अतएव वह सत्य ब्रह्माण्ड के प्रत्येक लोक में पूर्णतया प्रकट होकर प्रत्येक लोक को अपनी आभा से आछन्न कर सकता है। इस मर्त्यलोक में भी वह सत्य समूचा अवतीर्ण होकर सतयुग की स्थापना करता है। इस प्रसंग की विस्तारपूर्वक विवेचना हम आगे करेंगे। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि वैदिक परम्परा जगत् अथवा जीव को मिथ्या अथवा सत्य के ऊपर अध्यारोप के रूप में निरूपित नहीं करती। वह मानती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि जीव तथा जगत् भी उतने ही सत्य हैं जितना कि लोकातीत तथा लोकातत सनातन सत्य। शास्त्र की भाषा में इस धारा को प्रवृत्तिमार्ग भी कहा गया। श्रीमद् भगवद्गीता का योगमार्ग इसी प्रवृत्तिमार्ग का पूर्णतया परिचायक है।

किन्तु बौद्ध, जैन, सांख्य तथा शांकर वेदान्त इत्यादि अवैदिक धाराएँ जीव तथा जगत् की सत्ता को स्वीकार नहीं करतीं। जीव तथा जगत् मिथ्या हैं, अध्यारोप हैं, माया हैं, प्रपञ्च हैं, सारहीन हैं, उनमें किसी सनातन सत्य का समावेश नहीं—अवैदिक परम्परा इसी सिद्धान्त का आग्रह करती है। अतएव इस परम्परा के अनुसार सनातन सत्य का अस्तित्व केवल लोकातीत ही है, लोकातत कभी नहीं हो सकता। मर्त्यलोक में तो क्या, ब्रह्माण्ड के किसी ऊर्ध्वतम लोक में भी, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक में भी, सनातन सत्य का अवतरण सम्भव नहीं। इन सब लोकों के वासी सनातन सत्य का साक्षात्कार करके इन लोकों का त्याग कर सकते हैं और लोकातीत स्थिति को प्राप्त होकर अमृतत्व में अधिष्ठित हो सकते हैं। किन्तु किसी लोक में उनका अधिष्ठान रहते हुए उनके जीवन में अथवा उस लोक के जीवन में सनातन सत्य की पूर्ण अथवा आंशिक अभिव्यक्ति कल्पनातीत है।

अतएव अवैदिक परम्परा के अनुसार सब प्रकार का समाज ही मिथ्या है, असार है। समाज के किसी भी धर्म का पालन करते हुए सनातन सत्य का साक्षात्कार सम्भव नहीं। शंकराचार्य के शब्दों में ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय कल्पनातीत है। जब तक व्यक्ति समाज में रहकर कर्त्तव्य कर्म करता रहता है, तब तक वह अज्ञान की अवस्था में आरूढ है। उसको ज्ञान होते ही वह कर्म करना छोड़ देगा। तब समाज से उसको कोई प्रयोजन नहीं रह जाएगा। अवैदिक धारा का यही सारांश है। इसलिए इस धारा को निवृत्तिमार्ग की संज्ञा भी दी गई है। सन्यास लेना ही, समाज में रहकर कर्म करना नहीं, इस मार्ग में सनातन सत्य के साक्षात्कार का एकमेव उपाय है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अवैदिक निवृत्तिमार्ग के आधार पर सनातन समाजशास्त्र तो क्या, किसी भी समाजशास्त्र की सिद्धि अथवा स्थापना सम्भव नहीं। और यह देखा भी गया है कि बौद्ध, जैन तथा शांकर वेदान्त इत्यादि की परम्परा में जहाँ श्रमण तथा संन्यासी के जीवन का साङ्गोपाङ्ग वर्णन और विवेचन उपलब्ध होता है, वहाँ समाज में रहने वाले मनुष्यों के जीवन का उल्लेख मात्र भी अविधेय-सा है। इन परम्पराओं में कभी किसी स्मृति अथवा धर्मशास्त्र की सृष्टि नहीं हुई। जो जीवन मिथ्या का आग्रह करता है, जिस में सार है ही नहीं, उसका धर्मशास्त्र कैसा ? वह जीवन चाहे जैसे भी चले, सनातन सत्य के सक्षात्कार की दृष्टि से तो उसकी समस्त प्रणालियाँ एक समान अप्रयोजनीय हैं।

पाश्चात्य के अधिकांश पण्डित जब यह कहते सुने जाते हैं कि भारतवर्ष के लोग सदा ही संसार तथा समाज के प्रति उदासीन रहे हैं, और सदा ही ब्रह्म की ओर आँखें लगाए रहने के कारण जीव तथा जगत् की अवहेलना करते आये हैं, तो उनके कथन में एक आंशिक सत्य का आभास मिलता है। किन्तु उनका यह कथन भारतवर्ष के विषय में पूर्ण सत्य नहीं। कारण, अध्यात्म की जिस धारा को वे लोग भारतवर्ष की प्रधान धारा मान बैठे हैं, वह वस्तुतः इस देश की अवान्तर धारा ही है। भारतवर्ष की प्रकृत तथा पुरातन धारा तो वैदिक धारा ही है। और वेद को गड़रियों के गीत तथा इतिहास-पुराण को कवियों की कल्पना मान लेने के कारण पाश्चात्य के पण्डितों का इस धारा से परिचय कभी नहीं हो पाया।

परिचय न हो पाने का एक कारण तो पाश्चात्य की अपनी मनीषा में विद्यमान् है। वह मनीषा या तो आधुनिक जड़वाद से ओतप्रोत है, अथवा ईसाईयत की अध्यात्म-परम्परा से। जड़वाद तो किसी भी प्रकार के अध्यात्मतत्त्व के विषय में मूढ़ होता है, और जड़ से इतर समस्त तत्त्वों को जड़ को ही पर्याय मानकर मूर्खतापूर्ण प्रलाप करता रहता है। ईसाइयत की अध्यात्म-परम्परा निवृत्तिपरायण है। इसलिए उसके लिए भारतवर्ष की प्रवृत्ति-परायण परम्परा को समझना अशक्य रहा है।

दूसरा कारण है भारतवर्ष में ही प्रवृत्ति की वैदिक परम्परा का उत्तरोत्तर विलोप। भगवान बुद्ध के उपरान्त भारतवर्ष में अनेकों ऐसे अध्यात्म-सम्प्रदाय रहे हैं जो कहने को तो वेद तथा इतिहास-पुराण की दुहाई देते हैं, किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनकी समस्त साधना तथा सिद्धान्त वस्तुतः निवृत्ति-परायण तथा वेद-विरुद्ध हैं। एक समय इस देश में श्रौत तथा स्मार्त आचार्य वेद को प्रमाण मानकर तर्क करते थे, और बौद्ध आचार्य तार्किक बुद्धि का आश्रय लेकर। किन्तु दोनों की बातों में सार एक ही था। अतएव वह शास्त्रार्थ भी एक प्रकार से भ्रान्ति को ही जन्म देता है। वस्तुतः उस शास्त्रार्थ में भाग लेने वाले सभी सम्प्रदाय निवृत्ति-परायण थे। परवर्ती युग में भक्तिवाद के विविध सम्प्रदाय भी इसी प्रकार संसार का मिथ्यात्व तथा लोकयात्रा की असारता का प्रतिपादन करते रहे हैं। चाहे वे सम्प्रदाय सगुण की अराधना करते हो, चाहे निर्गुण का गुण-गान।

अतएव वैदिक परम्परा का प्रकृत परिचय पाने के लिए हमें भगवान बुद्ध के पूर्ववर्ती काल की ओर जाना होगा। उनके परवर्ती काल में भारतवर्ष के समस्त अध्यात्म पर उनकी अर्थात् निवृत्तिमार्ग की छाप है। भारतवर्ष के राष्ट्रजीवन का जो ह्रास हुआ, भारतवर्ष के पराक्रम में जो क्षीणता आई, भारतवर्ष का अन्तर्मानस जिस प्रकार संकीर्ण और बाह्यजीवन जिस प्रकार मलिन हुआ, उस सबका श्रेय उस निवृत्तिमार्ग को ही है जो भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के उपरान्त इस देश में अत्यन्त प्रबल हो उठा है।

यहाँ हमारा आशय उस पतन से नहीं है जिसकी ओर आधुनिक पाश्चात्य के मनीषी अथवा उनके भारतीय अनुयायी संकेत करते रहते हैं। यह पतन अध्यात्म के मानदण्ड से हुआ है। जड़वाद के अन्धानुयायी समाजों के तो शतसहस्र उत्कर्ष से भी यह पतन श्रेयस्कर है। इस देश का जीवन दुर्बल हो गया, मैला हो गया, अपेक्षाकृत संकीर्ण भी हो गया। किन्तु वह इतना खोखला अथवा पशुत्व से पूर्ण कभी नहीं बना जितना कि आधुनिक जड़वाद के अनुयायी राष्ट्रों का जीवन है। भारतवर्ष के राष्ट्र-जीवन में रस तथा गाम्भीर्य अभी तक बने हुए हैं। और अब उनका लोप होगा तो केवल इसीलिए कि अध्यात्म-वाद के विरुद्ध अन्ध आक्रोश करने वाला एक वर्ग इस देश को जड़वाद की ओर घसींटे लिए जा रहा है।

(८)

अब हम प्रवृति-परायण वैदिक परम्परा की रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। और तदनन्तर उसके आधार पर रचित सनातन समाजशास्त्र की रूपरेखा भी। इस परम्परा में अस्तित्व के किसी पक्ष अथवा अवयव की अवहेलना नहीं की गई और आत्मा, परमात्मा तथा जगत् और उनके परस्पर सम्बन्धों को एक सूत्र में ग्रथित किया गया है। इस परम्परा में परिणिति का क्रम जड़वाद के सर्वथा विपरीत भीतर से बाहर की ओर तथा ऊपर से नीचे की ओर माना गया है। और इस परम्परा का मूलमन्त्र है—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। अर्थात् यदि हमें ब्रह्मार्ण्ड के सत्य का साक्षात्कार करना है तो हमें पिण्ड में गोता लगाना होगा।

पिण्ड में गोता लगाकर जिन महापुरुषों ने सत्य का साक्षात्कार किया है, वे हमको बतलाते हैं कि पिण्ड में व्याप्त चित्त की जितनी भूमियाँ है, ब्रह्माण्ड के उतने ही लोक हैं। अर्थात् पिण्ड के भीतर कोई भी प्रक्रिया, प्रवृत्ति अथवा सत्ता ऐसा नहीं जो अन्ततः ब्रह्माण्ड के किसी न किसी लोक से हमारा सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं करती। और वह चित्त जब अपने उन्मेष की पराकाष्ठा पर पहुँचता है तो हमें उस परम तत्त्व का तथा उसके ऊर्ध्वतम अधिष्ठान का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त होता है, जो एक साथ ही लोकातीत तथा लोकातत है।

परम तत्त्व का रूप सच्चिदानन्दमय है। उसका वह परम अधिष्ठान भी सच्चिदानन्दमय है। उस अधिष्ठान में ब्रह्माण्ड का आविर्भाव भी सच्चिदानन्दमय है। वस्तुतः ब्रह्माण्ड का सच्चा स्वरूप तो वही है—सत् से पूर्ण, चिन्मय और आनन्दमय। फिर परम तत्त्व की अपार लीला के फल-स्वरूप वह ऊर्ध्वमूल अभिव्यक्ति अवरोहण करने लगती है। अवरोह की इस क्रिया में उसका स्वरूप उत्तरोत्तर आच्छन्न होता जाता है। और अन्ततः ब्रह्माण्ड उसके उस रूप को धारण कर लेता है जहाँ वह पूर्ण अन्धकार द्वारा आच्छन्न है।

पिण्ड में गोता लगाने वाला साधक ब्रह्माण्ड की इन समस्त स्थितियों को प्रत्यक्ष देख लेता है। वह ब्रह्माण्ड की उस स्थिति को भी देख लेता है जहाँ ब्रह्माण्ड अपनी निम्नस्थतम अवस्था में पूर्ण तमस् द्वारा आवृत्त है और जहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी प्रकार की प्राणशक्ति का भी संकेत प्राप्त नहीं होता। और वह ब्रह्माण्ड की उस स्थिति को भी देख लेता है जहाँ ब्रह्माण्ड अपनी ऊर्ध्वतम अवस्था में पूर्णतया चिन्मय है, जहाँ ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु तथा प्रक्रिया पूर्णतया विशुद्ध हो कर चिन्मय हो गई है।

और पिण्ड केवल उन स्थितियों को देखने में ही समर्थ नहीं है। वह उन स्थितियों को अपने भीतर व्यक्त करके अपने आप को रूपान्तरित करने में भी समर्थ है। मर्त्यलोक में अवस्थित पिण्ड अर्थात् मानव-प्राणी का अधोमुखी रूपान्तर तो सर्वविदित है। जब मनुष्य का चित्त लोभ, क्रोध,काम इत्यादि हीन प्रवृत्तियों द्वारा आविष्ट होकर अधोगमन करता है, तब तक उसमें मनुष्योचित धर्म क्षीण होते हैं और कुछ निम्नकोटि के धर्म प्रकट होते हैं। मानवप्राणी का ऊर्ध्वमुख रूपान्तर भी यत्र-तत्र विद्यमान महापुरुषों के जीवन में दिखलाई दे जाता है। उनमें त्याग, तपस्या, सत्य, पराक्रम, दान, दया, करुणा, मुदिता, सहनशीलता आदि जो उच्चकोटि के धर्म उदय होते हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं कि उनका चित्त उत्कृष्ट प्रवृत्तियों द्वारा आविष्ट हो कर ऊर्ध्वोन्मुख हो गया है।

इसी न्याय को मर्त्यलोक पर भी लागू किया जा सकता है। इस लोक में ऐसे भी युग आते हैं जब यहाँ इस की अपेक्षा निम्नस्थ लोकों के धर्मों का प्रसार हो जाता है। उन युगों को हम कलियुग कहते हैं। और इस लोक में ऐसे भी युग आते हैं जब यहाँ इसकी अपेक्षा ऊर्ध्वस्थ लोकों के धर्मों का प्रसार होने लगता है। उन युगों को हम धर्मों की उत्तरोत्तर उत्कृष्टता के न्याय से द्वापर, त्रेता तथा कृत इत्यादि कहते हैं। मर्त्यलोक में विविध कोटि के धर्मों के प्रसार की इस प्रक्रिया को पूर्णतया हृदयंगम कर लेने की आवश्यकता है। कारण, इस प्रक्रिया के साथ लोक-संस्थान तथा युग-परिवर्तन के वैदिक सिद्धान्त जुड़े हुए है, जिन सिद्धान्तों को तथा जिन के पारस्परिक सम्बन्धों को समझे बिना सनातन समाजशास्त्र का रहस्य समझ में नहीं आ पाता।

युग-सिद्धान्त कालक्रम के साथ सापेक्ष जान पड़ता है। काल-क्रम में एक युग का उदय होता है, और दूसरे युग का क्षय। किन्तु यह कालक्रम केवल मर्त्यलोक की दृष्टि से ही सत्य है। अपने-आप में तो प्रत्येक युग नित्य है। अर्थात् उस युग के सारभूत धर्मों की स्थिति ब्रह्माण्ड के जिस लोक के स्वभावानुसार है, वहाँ तो वह युग नित्य ही वर्तमान रहता है। मर्त्यलोक में जिस समय सतयुग था, उस समय अन्यान्य युगों का अभाव नहीं हो गया था। अपने-अपने अनुकूल लोक में वे उस समय भी वर्तमान थे। आज मर्त्यलोक में कलियुग व्याप्त है। इसका यह अर्थ नहीं कि अन्यान्य युगों का अभाव हो गया। अपने-अपने अनुकूल लोकों में वे आज भी विद्यमान हैं। मर्त्यलोक की युग-स्थिति का निर्णय करने के लिए इतना ही देखा जाता है कि उसमें किस समय कौन-से युग के धर्म चरितार्थ हैं। और मर्त्यलोक में उदय होने के कारण जो धर्म इस वा उस युग के धर्म कहे जाते हैं, वे वस्तुतः ब्रह्माण्ड के इस वा उस लोक के स्वभावसिद्ध धर्म हैं। इस दृष्टि से देखने पर ही लोक-संस्थान तथा युग-परिवर्तन के सिद्धान्तों का समन्वय होता है।

इस सिद्धान्त को तनिक और भी खोलकर समझने के लिए हम एक उपमा का आश्रय लेते हैं। एक मनुष्य को ले लीजिए। उसके अन्तर में सब समय सब प्रकार की हीन तथा श्रेष्ठ प्रवृत्तियों की स्थिति रहती है। किन्तु हम उस मनुष्य को भला-बुरा अथवा ऊँचा-नीचा कहते हैं यही देखकर कि उसका चित्त किस प्रकार की प्रवृत्तियों द्वारा आविष्ट है, और उसके आचरण में कौन से-धर्म चरितार्थ होते हैं। अपने भीतर विद्यमान क्रोध की प्रवृत्ति को निरुद्ध करके जो मनुष्य अपने ही भीतर विद्यमान क्षमा की प्रवृत्ति को अपने आचरण में व्यक्त करता है, उसको हम क्षमाशील कहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि उसके भीतर से क्रोध की प्रवृत्ति का विलोप हो गया। इस का अर्थ यही है कि वह प्रवृत्ति चरितार्थ नहीं हो पाई। और इस जन्म में साधना करने के फलस्वरूप अथवा पूर्व-जन्म के संस्कारों (जो कि साधना के ही पर्याय हैं) के प्रभाव से जब कोई प्रवृत्ति किसी मनुष्य के चित्त तथा आचरण में सहज-साध्य हो जाती है, तो वह मनुष्य उस प्रवृत्ति में स्थित मान लिया जाता है।

हमारे इस मर्त्यलोक की स्थिति सतयुग में उस समय होती है, जबकि मर्त्यलोक की लोकयात्रा में मर्त्यलोक की अपेक्षा ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्वतम लोक अर्थात् सतलोक के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म चरितार्थ होते हैं। गीता में उन धर्मों को दैवी-सम्पद् कहकर निर्दिष्ट किया गया है। और मर्त्यलोक की स्थिति कलियुग में उस समय होती है जबकि मर्त्यलोक की लोक-यात्रा में मर्त्यलोक की अपेक्षा ब्रह्माण्ड के निम्नस्थ लोकों के धर्म चरित्रार्थ होते हैं। गीता में उन धर्मों को आसुरी-सम्पद् कहकर निर्दिष्ट किया गया है। और सतयुग से लेकर कलियुग तथा कलियुग से लेकर सतयुग तक चलते रहने वाले काल-चक्र का प्रवर्तन ही सनातन समाज शास्त्र की स्थापना का सारांश है।

युग-परिवर्तन के इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या इस अंक के एक अन्य लेख में की गई है (देखिए, **मानव-जाति के इतिहास की सनातन समीक्षा**)। यहाँ हम केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि जड़वाद के आधार पर आश्रित अद्यतन समाजशास्त्र के युग-परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्त से यह सिद्धान्त सर्वथा विभिन्न तथा विपरीत है। अद्यतन समाजशास्त्र जिस प्रकार मनुष्य के चित्त की एक ही भूमि स्वीकार करता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड के भी एक ही लोक को मानता है। अतएव लोक-संस्थान की विविधता के अभाव में सतयुग से कलियुग तथा कलियुग से सतयुग तक युगों के प्रत्यावर्तन में भी इस समाजशास्त्र की आस्था नहीं। इस समाजशास्त्र के अनुसार, जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, किसी युग की उत्कृष्टता का एकमात्र माप-दण्ड यही है कि उस युग में मानवप्राणी ने प्रकृति के साथ संघर्ष करके अपने स्थूल सुखों का संग्रह करने में कितनी सफलता प्राप्त की है। और इस दृष्टि से आज का युग, जिसमें यन्त्रविद्या तथा भौतिक उपकरणों का संग्रह पिछले कई युगों की अपेक्षा बहुलतर दिखाई देता है, अपने पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा उत्कृष्टतर है। और आगे के युग, जिनमें यह संग्रह और भी प्रचुरतर होता जाएगा, आज के युग की भी अपेक्षा उत्कृष्टतर होंगे।

किन्तु सनातन समाजशास्त्र के मतानुसार आज का युग कलियुग है। कलियुग का लक्षण, उस समाजशास्त्र के मतानुसार, यही है कि उस युग में मनुष्य अपने अन्तर को उत्तरोत्तर विस्मृत करके उत्तरोत्तर बहिर्मुख होता जाता है, और अन्तर के सत्त्व का संग्रह करने की अपेक्षा बाह्य साधन जुटाने को ही अपने पुरुषार्थ की परिधि मानता है। सनातन समाजशास्त्र के मत में जो मनुष्य अथवा समाज जितना ही बहिर्मुख होता है, वह उतना ही अधोमुख भी होता है, और जो मनुष्य अथवा समाज जितना ही अन्तर्मुख होता है, वह उतना ही ऊर्ध्वमुख भी होता है।

इस प्रकार अद्यतन समाजशास्त्र उस अवस्था को प्रगति की पराकाष्ठा मानता है, जिसमें मनुष्य तथा उसके समाज ने अपने अन्तर की पूर्ण अवहेलना करके अपने बाह्य संसार को सुखद, सरल तथा सुन्दर बना लिया है। इसके विपरीत सनातन समाजशास्त्र उसी अवस्था को प्रगति की पराकाष्ठा मानता है, जिसमें मनुष्य तथा उसके समाज ने अपने अन्तर को पूर्णतया जागृत करके ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्वतम लोकों के धर्मों को अपने जीवन में चरितार्थ कर लिया। अस्तु।

(९)

सनातन तथा अद्यतन समाजशास्त्रों के मानदण्डों की मीमांसा करते समय हमने ऊपर जो बात कही है, उससे कोई यह निष्कर्ष न निकाले कि बाह्य जीवन की सम्पन्नता तथा अन्तर्जीवन की परिपक्वता के बीच कोई अनिवार्य द्वन्द्व है। ऐसे द्वन्द्व की कल्पना अद्यतन समाजशास्त्र तो करता है। उसके अनुसार जो व्यक्ति अथवा समाज अपने अन्तर्जीवन को परिपक्व करने की ओर अधिक प्रवृत्त होते हैं, उनका बाह्य जीवन अनिवार्यतः अभाव से भर जाता है। और अन्तर की समस्त उपलब्धियाँ तो, अद्यतन समाजशास्त्र के मत में, अन्तःसारहीन हैं। अतएव अन्तर्जीवन की बात उठाना ही बेकार है। जीवन केवल एक ही है—बाह्य जीवन। अन्तर्जीवन का प्रसंग उठाने से यही होता है—दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम। अध्यात्मवाद की निवृत्ति-परायण धारा भी एक प्रकार से इस युक्तितर्क का समर्थन करती है। वह कहती है कि जिस व्यक्ति अथवा समाज के जीवन में बाह्य सम्पन्नता आ जाती है, उसका अन्तर रीता हो जाता है। निवृत्ति-परायण अध्यात्मवाद अन्तर की परिपक्वता को ही एकमात्र उपलब्धि मानता है। बाह्य जीवन की प्रचुर से प्रचुरतर सम्पन्नता का उसके समीप कानी-कौड़ी भी मूल्य नहीं। इस प्रकार जड़वाद तथा निवृत्ति-परायण अध्यात्मवाद दो विपरीत दिशाओं से बाह्य तथा अन्तर जीवन के बीच एक अमिट द्वन्द्व की स्थापना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते देखे जाते हैं।

सब प्रकार से विपरीत इन दो दृष्टियों के इस परस्पर सहयोग का साक्ष्य इतिहास में भी उपलब्ध होता है। जो व्यक्ति अथवा समाज निवृत्ति-परायण आध्यात्मवाद का आश्रय लेते हैं, उनका बाह्य जीवन उत्तरोत्तर अभाव से ग्रस्त तथा विशृंखल होता जाता है। और मानव-मानस में सदा विद्यमान रहने वाली बाह्यमुखी प्रवृत्तियाँ जब अपनी अभिव्यक्ति के लिए जड़वाद का आश्रय लेती हैं, तो निवृत्ति-परायण अध्यात्म उस विद्रोह का विरोध करने में अक्षम रहता है। दूसरी ओर जो व्यक्ति तथा समाज अपने जीवन में बाह्य सम्पन्नता का ही संग्रह करते रहते हैं, उनका अन्तर सूखने लगता है, सत्त्वविहीन हो जाता है। और मनुष्य के मानस में सदा विद्यमान अन्तर्मुखी प्रवृत्तियाँ तब एक निवृत्ति-परायण अध्यात्मवाद का आश्रय. लेती हैं। जड़वाद इन प्रवृत्तियों के विद्रोह का विरोध करने में सर्वथा असमर्थ रहता है।

निवृत्ति-परायण अध्यात्मवाद तथा जड़वाद के इस परस्पर सहयोग का नाटक उस दिन योरप में अभिनीत हुआ था। ईसाइयत अधिकांश में निवृत्ति-परायण थी। उसने बाह्य जीवन का गला घोंटने में ही अपने अध्यवसाय की पराकाष्ठा समझी। फलस्वरूप वहाँ जड़वाद का भयंकर विस्फोट हुआ। और ईसाइत से उस विस्फोट का विरोध करते नहीं बन पड़ा। आज के भारतवर्ष में भी कुछ-कुछ इसी प्रकार की एक प्रक्रिया का प्रसार आज दिखलाई दे रहा है। यहाँ पर, जैसा कि हम इसके पूर्व ही कह चुके हैं, भगवान बुद्ध के आविर्भाव के उपरान्त हमारा अध्यात्मवाद वैदिक परम्परा के प्रवृत्तिमार्ग से भ्रष्ट हो कर अवैदिक निवृत्तिमार्ग में निविष्ट होता रहा है। फलस्वरूप राष्ट्र के बाह्य जीवन में सब प्रकार के अभावों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। और आज जब भारतीय प्रांगण में पाश्चात्य के जड़वाद का प्रसार हो रहा है, तो हमारे अध्यात्मवाद से उसका विरोध सम्भव नहीं हो पा रहा।

किन्तु सनातन धर्म अथवा उससे प्रश्रय में पला हुआ सनातन समाजशास्त्र अन्तर तथा बाहर के इस अनिवार्य द्वन्द्व को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार मनुष्य तथा समाज के बाह्य जीवन में प्रकृत वैभव का आविर्भाव तभी सम्भव होता है, जबकि उसका अन्तर अध्यात्म द्वारा आप्लावित हो जाता है। अन्तर में अध्यात्म का आप्लावन बाह्य जीवन के वैभव का विरोध अथवा तिरस्कार नहीं करता, प्रत्युत वह उस वैभव के सम्यक् प्रयोग की दिशा विधि ही सूचित करता है। दूसरी ओर जिस मनुष्य तथा समाज का अन्तर उत्तरोत्तर रीता होता जाता है, उसके बाह्य जीवन की सम्पन्नता प्रथमतः तो विष के समान असम्यक् हो जाती है, और अन्ततः विनाश को प्राप्त होकर रहती है। अन्तर की उपलब्धि के बिना बाहर की किसी उपलब्धि की स्थिति ही सम्भव नहीं।

और आज के विश्व-जीवन में इस बात का प्रमाण तो प्रत्यक्ष मिलता है कि अन्तर की उपलब्धि के अभाव में बाहर की समस्त उपलब्धियाँ संकटग्रस्त हो जाती हैं। पाश्चात्य के देशों ने अपने बाह्य जीवन में बहुत सम्पन्नता का संग्रह कर लिया है। किन्तु अन्तर की किसी उपलब्धि द्वारा परिरक्षित न होने के कारण वह सम्पन्नता वैषम्य, विद्वेष तथा वैमनस्य की ही सृष्टि करने में सफल हो पाई है। और आज तो स्थिति यह है कि उस वैषम्य, विद्वेष तथा वैमनस्य का विस्फोट शायद सारे संसार को ही अपनी विषवह्नि में भस्मसात कर डाले।

दूसरी ओर हमको भारतीय इतिहास के उदाहरण मिलते हैं कि रामराज्य में किस प्रकार सब प्रकार के धन-धान्य की प्रचुरता के साथ-साथ जनजीवन प्रेम-सौहार्द तथा मैत्रीभाव से ओतप्रोत था। परमपुरुष श्रीकृष्ण के जीवन में अन्तर के इस पूर्ण प्रकाश के साथ-साथ बाह्य जीवन के परिपूर्ण वैभव का सम्पूर्ण समन्वय देखा गया था। वेद के मन्त्र तथा उनके आधार पर रचे गए धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों और इतिहास-पुराणों में सर्वत्र इस समन्वय को स्वीकार किया गया है। वस्तुतः वैदिक परम्परा में उस अध्यात्म को ही पंगु माना गया है जो बाह्य जीवन के किसी भी पक्ष को पंगु कर दे। बाह्य जीवन में परिपूर्ण समृद्धि ही वेद के प्रवृत्ति-मार्ग द्वारा विहित है।

मनन करने पर यह सत्य तुरन्त स्पष्ट हो जाता है कि एक सम्यक् अध्यात्मवाद की दृष्टि तो सहज ही जड़वाद की दृष्टि को समझ लेती है और जड़वाद द्वारा विहित समाजशास्त्र के सार को अपने सर्वांगसम्पूर्ण समन्वय में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथायोग स्थान भी दे देती है। सम्यक् अध्यात्मवाद कभी नहीं कहता कि शरीर सूख जाए, प्राण परिपुष्ट न हों, मानस न खिले, बुद्धि विकसित न हो और बाह्य जीवन में वैभव का उदय न हो। किन्तु जड़वाद की दृष्टि अध्यात्मवाद की दृष्टि को कभी नहीं समझ पाती, और न अध्यात्मवाद द्वारा विहित समाजशास्त्र को ही अपने समाजशास्त्र का स्पर्श करने देती है। दूसरे शब्दों में जड़वाद एक अत्यन्त संकीर्ण दृष्टि है, और अध्यात्मवाद एक अत्यन्त बृहद् दृष्टि। इनके द्वारा पोषित समाजशास्त्र भी उसी प्रकार क्रमशः अत्यन्त संकीर्ण तथा अत्यन्त बृहद् है।

जड़वाद केवल जड़ के अस्तित्व को ही मूलभूत अस्तित्व कह कर स्वीकार करता है। ब्रह्माण्ड में और जो कुछ भी है, उस सबको वह जड़तत्त्व के विकासक्रम का ही परिणाम मानता है। इसी दुराग्रह के अनुरूप जड़वाद के आधार पर बना हुआ अद्यतन समाजशास्त्र भी मनुष्य के शरीर को ही मूलभूत तत्त्व मानता है। मन, बुद्धि, प्राण इत्यादि जो अन्य तत्त्व मनुष्य में देखे जाते हैं, वे सब-के सब उस समाजशास्त्र के अनुसार शरीर तत्त्व की विविध परिणितियों के परिणाम हैं। फिर मनुष्य की शारीरिक प्रवृत्तियाँ ही उसकी प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन। मनुष्य की अन्य सब प्रवृत्तियाँ चाहे वे प्राणगत हों, चाहे मनोगत, चाहे बुद्धिगत अथवा चेतना के किसी अन्य स्तर से सम्बद्ध, शरीर की प्रवृत्तियों की परिणिति के ही प्रमाण है।

इस प्रकार जड़वाद अन्तर को बाहर की ओर से तथा ऊपर को नीचे की ओर से देखता है। अन्तर की प्रत्येक प्रवृत्ति किसी न किसी बाह्य प्रवृत्ति की क्षीण प्रतिछाया मात्र है। जीवन में जो कुछ ऊर्ध्वस्थ है, वह सब किसी न किसी निम्नस्थ तत्त्व अथवा प्रवृत्ति की ही परिणिति का प्रमाण है। दूसरे शब्दों में, प्रेम कामवासना की परिणिति है, पराक्रम क्रोध अथवा भय से उत्पन्न विद्वेष की, त्याग आत्मकारुण्य की, तपस्या आत्मप्रदर्शन की, दान अहंकार की, क्षमा कायरता की, इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार की परिणितियाँ इसी लिए प्रयोजनीय रही हैं कि मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक द्वन्द्व की कहानी अभी पूरी नहीं हुई। मनुष्य ने अभी तक प्रकृति पर पूरी विजय प्राप्त नहीं की है, और मानव समाज में अभी तक अनेक लोगों के जीवन में अनेक प्रकार के भौतिक अभाव विद्यमान रहे हैं। जिस दिन यह कहानी पूरी हो जाएगी, मनुष्य प्रकृति पर पूर्णतया काबू पा लेगा, और किसी के जीवन में किसी का भौतिक अभाव नहीं रह जाएगा उस दिन इस प्रकार की परिणितियों का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। उस दिन मनुष्य अपनी सहज प्रवृत्तियों को सहज मार्ग से ही परितुष्ट करेगा।

दूसरी ओर अध्यात्मवाद बाहर को अन्तर की ओर से और नीचे को ऊपर की ओर देखता है। बाहर की प्रत्येक प्रवृत्ति अन्ततः अन्तर की किसी न किसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति मात्र है। जीवन में जो कुछ निम्नस्थ है, वह सब किसी न किसी ऊर्ध्वस्थ तत्त्व अथवा प्रवृत्ति की विकृति का परिणाम है। दूसरे शब्दों में, कामवासना प्रेमभावना की विकृति है, क्रोध अथवा भय से उत्पन्न विद्वेष पराक्रम की, आत्मकारुण्य त्याग की, आत्मप्रदर्शन तपस्या की, अहंकार दान की, कायरता क्षमा की, इत्यादि इत्यादि। मनुष्य का सच्चा स्वरूप सच्चिदानन्द है। ज्यों-ज्यों वह उस स्वरूप से स्खलित होता है त्यों-त्यों वह अन्तर से बाहर की ओर तथा ऊपर से नीचे की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होता जाता है, और उसकी सहज प्रवृत्तियों में विकृति आती जाती है। फिर जब मनुष्य की स्मृति जागृत होती है और वह अपने सच्चे स्वरूप की पुनरुपलब्धि के लिए पुरुषार्थ-परायण होता है, तो उसकी सहज प्रवृत्तियों का उत्तरोत्तर उत्थान होता जाता है।

जड़वाद तथा अध्यात्मवाद मनुष्य के सहज धर्म के विषय में जिन परस्पर विपरीत परम्पराओं का प्रतिपादन करते हैं, वे मानव समाज के सहज धर्म के विषय में भी विहित हैं। जड़वाद के अनुसार सहज मनुष्य वह है जो आसुरी-सम्पद् में स्थित है। सहज समाज भी वही है जो स्वभाव से ही आसुरी-सम्पद् को स्वीकार करता है। अध्यात्मवाद के अनुसार सहज मनुष्य वह है जो दैवी सम्पद् में स्थित है। सहज समाज भी वही है जो स्वभाव से ही दैवी-सम्पद् को स्वीकार करता है।

अतएव जड़वाद तथा अध्यात्मवाद द्वारा अनुप्राणित समाजशास्त्र भी परस्पर विपरीत प्रेरणाओं का प्रवर्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं। अद्यतन समाजशास्त्र मानव समाज को आसुरी-सम्पद् की ओर अग्रसर करना चाहता है। सनातन समाजशास्त्र मानव-समाज को दैवी-सम्पद् से युक्त देखना चाहता है। आधुनिक पाश्चात्य के अधिकतर समाज अद्यतन समाजशास्त्र द्वारा प्रेरित होने के कारण उत्तरोत्तर आसुरी-सम्पद् की ओर अग्रसर हो रहे हैं। और प्राची के वे समाज जो उस दिशा में अभी तक नहीं बढ़ पाए अथवा उस दिशा का विरोध कर रहे हैं, अभी भी किसी न किसी अंश में सनातन समाजशास्त्र द्वारा ही प्रेरित हैं।

इससे यह निष्कर्ष निष्पन्न होता है कि पाश्चात्य के समाजशास्त्री तथा उनके प्राच्य अनुयायी जब किसी देश अथवा समाज को "अनुन्नत" कहकर पुकारते हैं, तो वे एक प्रकार से उस देश अथवा समाज की उत्कृष्टता की ओर ही संकेत करते हैं। "अनुन्नत" शब्द से चोट खाकर और उस शब्द का प्रयोग करने वालों द्वारा विहित "उन्नति" के फेर में पड़कर किसी देश अथवा समाज को आत्महनन की ओर अग्रसर होने की आवश्यकता नहीं। असली उन्नति तो उस दिशा में है जिस ओर सनातन समाजशास्त्र संकेत करता है। और उस मानदण्ड से मापने पर पाश्चात्य के देश तथा समाज अवनति के गर्त में गिरते जा रहे है। अस्तु।

(१०)

अब हम सनातन समाजशास्त्र के उन कतिपय सिद्धान्तों का संक्षेपतः संकेत करेंगे जिनकी स्थापना सनातन ~~तत्त्व~~ का सीधा साक्षात्कार करने वाले सिद्ध पुरुषों ने की है तथा जिनकी विशद एवं साङ्गोपाङ्ग व्याख्या सनातन धर्म के साहित्य में उपलब्ध होती है। उन सिद्ध पुरुषों में भगवान व्यास का स्थान सर्वप्रथम है। और सनातन धर्म के साहित्य में श्रीमद् महाभारत की महिमा इस दृष्टि से सर्वोपरि है। वेद, वेदाङ्ग तथा स्मृतिग्रन्थों में जिन सिद्धान्तों का निरूपण संकेत अथवा सूत्र रूप से किया गया है, उनको महाभारत में सोदाहरण तथा विस्तारपूर्वक समझाया गया है। महाभारत के शान्ति तथा अनुशासन पर्व इस प्रसंग में सर्वापेक्षा महत्वपूर्ण हैं। सारा का सारा महाभारत ही प्रवृति मार्ग की वैदिक परम्परा को हृदयंगम करने के लिए एक अनुपम ग्रन्थ है। इस देश में ज्यों-ज्यों प्रवृत्ति-मार्ग की अवहेलना होती गई तथा निवृत्ति-मार्ग के प्रति आग्रह बढ़ता गया, त्यों-त्यों महाभारत का महत्त्व भी विस्मृत होता गया। प्रवृत्तिमार्ग के पुनरोदय के साथ-साथ महाभारत की ओर भी ध्यान आकृष्ट होना अनिवार्य है। कारण, प्रवृत्तिमार्ग के जिस अनन्यतम ग्रन्थ श्रीमद्-भगवद्गीता को सूत्र मानकर महाभारत की मणियाँ पिरोई गई हैं, उसकी तुलना संसार के साहित्य में दुर्लभ है।

चारों वेदों में अथर्ववेद का महत्त्व समाजशास्त्र के प्रसंग में सर्वाधिक है। कल्पसूत्रों में विविध गृह्यसूत्र एक अंश में और धर्मसूत्र सारे के सारे सनातन समाजशास्त्र को समझने में बहुत सहायता देते हैं। पुराणों में से तो प्रायः सभी में एतद्-विषयक व्याख्या है। किन्तु श्रीमद्-भागवत इत्यादि परवर्ती पुराण विष्णु आदि पूर्ववती पुराणों की तुलना में कुछ-कुछ निवृत्ति-मार्ग की ओर झुक गए हैं। स्मृतिग्रन्थों में मनुस्मृति का स्थान सर्वोपरि है। किन्तु अन्य स्मृतियाँ, विशेषकर याज्ञवल्क्य संहिता, भी कुछ कम महत्त्व नहीं रखती। राजनीति के लिए कौटल्य का अर्थ-शास्त्र, कामन्दक तथा शुक्रनीतिसार साधारणतया उल्लेखनीय हैं। पञ्चतन्त्र भी। किन्तु इन समस्त ग्रन्थों में एक दोष आ गया है। एक सतत जाग्रत और अत्यन्त बृहद् दृष्टि ने जो कुछ देखा था, उसी को ये ग्रन्थ उस दृष्टि के बिना प्रस्तुत करते हैं। अतएव उनके निरूपण में संकीर्णता आ गई है।

इस सारे साहित्य का केवल मूल ग्रन्थ ही नहीं हैं, उनपर लिखे गए अगणित भाष्य और अनुभाष्य भी हैं—अवलोकन करने से जो सिद्धान्त सनातन समाजशास्त्र का सर्वस्व जान पड़ता है वह है वर्णाश्रम धर्म। भारतवर्ष की सनातन संस्कृति से द्रोह करने वाले लोग भी सब समय वर्णाश्रम व्यवस्था को लेकर व्यस्त रहते हैं और उसी को भारतवर्ष के "पतन" का एकमात्र कारण बतलाते हैं। भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धा रखने वाले लोग अद्यतन समाजशास्त्र का सहारा लेकर वर्णाश्रम धर्म की मार्जना करना चाहते हैं और इसको श्रम-विभाजन इत्यादि की संज्ञाएँ देते हैं। किन्तु इस व्यवस्था के विषय में इसका मण्डन करने वाले भी आज उतने ही भ्रान्त हैं, जितने कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका खण्डन करने वाले। और आज के वर्णसंकर समाज में यह भ्रान्ति अनिवार्य भी है। पाश्चात्य की जिस जनतान्त्रिक प्रणाली को प्रमाण मानकर आज सारा युक्तितर्क सम्पन्न होता है, वह वर्णसंकर का ही दूसरा नाम है। अतएव वर्णाश्रम धर्म यदि लोगों की समझ में नहीं आता तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

वेद में कहा गया है कि चारों वर्ण परमपुरुष के विविध अंगों से ही प्रादुर्भूत हुए हैं। गीता में भी भगवान ने स्वयं अपने श्रीमुख से कहा है कि उन्होंने चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है। अतएव वर्णाश्रम व्यवस्था को किसी सामाजिक अथवा आर्थिक अथवा राजनीतिक परिस्तिथिविशेष से प्रादुर्भूत समयोचित व्यवस्था मानकर आज के युग में उस को अवांछनीय घोषित करना आदितः ही भ्रान्ति का आश्रय लेना है। सनातन समाजशास्त्र के अनुसार कोई भी समाज जब तक सम्यक् रहता है, तब तक उसमें वर्णाश्रम धर्म स्थित रहता है। वर्णाश्रम धर्म का स्खलन उस समाज के अवनत होने का प्रथम लक्षण है।

इस प्रसंग में हमें प्रथमतः उस आधुनिक धारणा का पूर्ण परित्याग करना पड़ेगा जिस के अनुसार किसी भी समाज-व्यवस्था का मूल्यांकन व्यवित के अधिकारों को आधारभूत मानदण्ड मानकर किया जाता है। सनातन समाजशास्त्र व्यक्ति के अधिकारों के प्रति आग्रहशील नहीं। उस समाजशास्त्र का मूल है वह दर्शन जिसमें निष्ठ होते ही व्यक्ति व्यक्ति नहीं रह जाता प्रत्युत एक व्यापक विराट पुरुष की विशिष्ट अभिव्यक्ति मात्र बन जाता है। तब व्यक्ति तथा व्यक्ति और व्यक्ति तथा समाज के बीच किसी द्वन्द्व अथवा प्रतिस्पर्धा की कल्पना तक व्यापक अविधेय हो जाती है। फिर व्यक्ति के अधिकारों की बात भला कैसे हो सकती है। कारण, व्यक्ति का उत्कर्ष तब अधिकारों के संग्रह का पर्याय नहीं रहता प्रत्युत त्याग और बलिदान का पर्याय बन जाता है। अपने आपको सबमें देखना तथा सबको अपने-आप में देखना ही जहाँ व्यक्ति के लिए परम विधेय है, वहाँ व्यवित और व्यक्ति के बीच अथवा व्यक्ति तथा समाज के बीच प्रतिस्पर्धा अथवा द्वन्द्व का स्थान ही कहाँ रह जाता है।

इसीलिए सनातन समाजशास्त्र में अधिकार की नहीं ऋण की धारणा ही प्रमुख है। प्रत्येक व्यक्ति को विविध ऋणों से उऋण होना है। पितृऋण से उऋण, भूतऋण से उऋण। इसी प्रकार देवऋण, ऋषिऋण तथा मनुष्यऋण से उऋण। आज के वर्णसंकर समाज में व्यथित इसलिए व्यथित होता है कि उसको उसके अधिकार नहीं मिले। सनातन समाज-व्यवस्था में व्यक्ति इसलिए व्यथित होता है कि वह अपने इस या उस ऋण से उऋण नहीं हो पाया। दोनों व्यवस्थाओं को अनुप्राणित करने वाली आदर्श-प्रेरणाओं में आकाश-पाताल का अन्तर है।

फलस्वरूप सनातन समाजशास्त्र जब व्यक्ति के कर्त्तव्य की बात कहता है और उसके अधिकार उल्लेख तक नहीं करता तब अद्यतन समाजशास्त्री तथा उस के अनुयायियों को ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति का हनन हो रहा है। किन्तु सत्य इस के सर्वथा विपरीत है। व्यक्ति का हनन उस समय होता है जब कि वह सच्चिदानन्द ब्रह्म में दूसरे व्यवितयों के साथ अपना ऐक्य विस्मृत करके अपने-आप को स्वतः-सम्पूर्ण मानने की भूल करता है और मांस-पिण्ड अथवा प्राण-पुञ्ज अथवा मानस के विकारविशिष्ट के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं रह जाता। ऐसे व्यक्तियों को उपनिषद् में "आत्महनो जनाः" कहा गया है। और सनातन समाज शास्त्र में वारम्वार "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की रट मिलती है। एक स्थान पर तो यहाँ तक कह दिया गया है—श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः, आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। अर्थात् करोड़ों ग्रन्थों में जिस बात की व्याख्या की गई है उसी को मैं आधे श्लोक में कहूँगा—अपने को जो आचरण प्रतिकूल प्रतीत होता हो वह दूसरों के प्रति कभी न करें।

तो व्यक्ति का उत्कर्ष है उत्तरोत्तर उऋण होते रहने में। किन्तु वह उऋण हो सकता है अपने सामर्थ्य के अनुसार। सब का सामर्थ्य समान नहीं। जन्म-जन्मान्तर के कर्म संचय के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति विशिष्ट गुणों के साथ जन्म लेता है। उसका कर्म उन गुणों के अनुरूपही हो सकता है। अतएव वर्णाश्रम-व्यवस्था का दूसरा आधार है गुण-कर्म-विभाग। गुण के अनुसार आधार-भेद और आधार-भेद के अनुसार कर्म में अधिकार-भेद। जिन व्यक्तियों में सत्त्व गुण का प्राधान्य है, वे सर्वापेक्षा बृहत् आधार हैं और उन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कर्म भी तदनुरूप बृहत् होना चाहिए। अतएव सनातन समाजव्यवस्था में उनको ब्राह्मण कहा गया है और उन का कर्म पठन-पाठन, यजन-याजन इत्यादि बतलाया गया है। वे सनातन समाजव्यवस्था के शिरमौर हैं। कारण, वे ही सतत जागरूक रहकर यह देखते रहते हैं कि धर्म की वृद्धि किस प्रकार हो और हानि न होने पाए। जिन व्यक्तियों में सत्त्वोन्मुख रजोगुण का प्राधान्य है, उनको क्षत्रिय माना गया है। वे उस धर्म की रक्षा के लिए जिस का विधान ब्राह्मणों ने दिया है प्राणोत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। उनका कर्म है सनातन समाज-व्यवस्था का संरक्षण करना, राज्य का भार ग्रहण करना तथा धर्म-युद्ध के लिए प्रतिपल उद्यत रहना। जिन व्यक्तियों में रजोगुण का क्षय तथा तमोगुण का उदय हो रहा है, वे वैश्य हैं। उनका कर्म है सनातन समाजव्यवस्था के अर्थसंग्रह को सम्भालना। अन्ततः जिन व्यक्तियों में तमोगुण का प्राधान्य है वे शूद्र हैं। उनका कर्म है अन्य वर्णों की सेवा करना।

सनातन समाजव्यवस्था में सभी वर्ण अपनी अपेक्षा नीचे वर्णों पर अनुशासन करते हैं, और अपनी अपेक्षा ऊँचे वर्णों द्वारा अनुशासित होते हैं। इस व्यवस्था में सब के बीच धर्मपालन के विषय में पूर्णसमता है। किन्तु अधिकारों की समता नहीं। कारण, आधारों की समता नहीं। और न ही अधिकारों के प्रति किसी का आग्रह है। कारण, अधिकार केवल उऋण होने का है, संग्रह करने का नहीं। इसीलिए ब्राह्मण वही है जिस का जीवन त्याग तथा तपस्या से ओतप्रोत हो। क्षत्रिय वही है जो आत्मोत्सर्ग के लिए ही जीवन धारण किए रहता हो। वैश्य वही है जो अपनी सम्यक् आजीविका को दान करने में रत रहता हो। और शूद्र वही है जो अपनी अपेक्षा उच्चतर लोगों की सेवा में ही अपना कल्याण मानता हो।

अद्यतन समाजशास्त्र इसके ठीक विपरीत समाजव्यवस्था का विधान देता है। वह शूद्र को ही सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ण मानता है। कारण, शूद्र ही शारीरिक श्रम के द्वारा धन-धान्य का उत्पादन करता है। वैश्य उस धन-धान्य का संग्रह तथा वितरण करने में सहायक होता है। इसलिए उसका स्थान दूसरे नम्बर पर है। क्षत्रिय तो इन वर्णों का वेतनभोगी भृत्य है, जो युद्ध आदि के समय काम आ सकता है अथवा राजनीति के प्रांगण में धर-पटक मचाता रहता है। और ब्राह्मण का तो कोई महत्व ही नहीं। वह इन अन्यान्य वर्णों के मनोरञ्जन के लिए क़लम घिस सकता है अथवा ज़बान चला सकता है। इस समाजव्यवस्था की पराकाष्ठा कम्युनिस्ट राष्ट्रों में प्राप्त होती है, जहाँ पर शूद्र वर्ण के नाम पर एक हिंसापरायण दल ने आततायी-तन्त्र का सृजन कर डाला है। अद्यतन समाजशास्त्र द्वारा अनुप्राणित सभी समाज आगे-पीछे उसी दिशा की ओर अग्रसर हो रहे हैं। सनातन समाजशास्त्र के अनुसार वह वर्णसंकर की पराकाष्ठा भी होगी।

वर्ण की व्यवस्था को आजकल जन्म से मानने की भूल की जाती है। मनुस्मृति इत्यादि के एतद्विषयक प्रसंग पढ़ने से भी ऐसा ही प्रतीत होता है कि वर्ण वस्तुतः जन्म का ही पर्याय है। किन्तु वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म नहीं, गुण और कर्म है। इतिहास-पुराण में हमें उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं कि किस प्रकार किसी व्यक्ति के गुण-कर्म बदल जाने से उसका वर्ण भी बदल गया। फिर भी यहाँ पर इतना स्पष्टीकरण उपादेय होगा कि वर्ण-व्यवस्था को समझने के लिए युग-परिवर्तन का सिद्धान्त सब समय ध्यान में रखना चाहिए। सतयुग में जन्म गुण-कर्म के अनुरूप ही होते हैं। उस युग में इस क्रम का व्यवधान नहीं हो पाता। किन्तु अन्यान्य युगों में गुण-कर्म तथा जन्म का यह सम्यक् सम्बन्ध विच्छिन्न होने लगता है। शूद्र के घर ब्राह्मण के गुण-कर्म वाले व्यक्ति का जन्म हो जाता है, और ब्राह्मण के घर शूद्र के गुण-कर्म वाले व्यक्ति का। अतएव गुण-कर्म को ही वर्णव्यवस्था का आधार मानना चाहिए, जन्म को नहीं।

चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था के साथ-साथ चार आश्रमों की व्यवस्था भी जुड़ी हुई है। उस व्यवस्था का आधार है चार पुरुषार्थों की व्यवस्था। प्रत्येक वर्ण के प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने धर्म की शिक्षा प्राप्त करके धर्माविरुद्ध अर्थ तथा काम के संग्रह तथा उपभोग का अवसर दिया जाता है। और अन्त में वह मोक्ष-प्राप्ति के लिए वानप्रस्थ तथा संन्यास की ओर प्रवृत्त होता है। यहाँ भी ऋण से उऋण होने तथा आधारशुद्धि के अनुरूप अधिकार-भेद की

080597

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रणाली स्वीकार की गई है। अपने-अपने वर्ण-धर्म के अनुसार ऋण से उऋण होते हुए आधार की उत्तरोतर शुद्धि होती जाती है, और वह एक आश्रम से दूसरे आश्रम की ओर अग्रसर होता रहता है। अन्ततः वह सर्वथा शुद्ध होकर अपने स्वरूप अर्थात् सनातन सत्य का साक्षात्कार कर लेता है और उसी में लीन होकर अमृत्व में उत्तीर्ण हो जाता है।

इस व्यवस्था में गृहस्थाश्रम को अन्य तीनों आश्रमों का शरणस्थल माना गया है। गृहस्थी के ऊपर ही विद्यार्थी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी निर्भर हैं। यदि गृहस्थी अपने कर्त्तव्य से च्युत होने लगे तो अन्य तीनों आश्रमों की स्थिति असम्भव होने लगती है। किन्तु गृहस्थी का समस्त संग्रह उसी अवस्था में सार्थक माना गया है, जब कि वह अन्य आश्रमों का भरणपोषण करता रहे। जो गृहस्थी अपने संग्रह को आत्मपोषण के लिए ही काम में लाता है वह चोर है और उसका आधार उत्तरोत्तर अशुद्ध होते जाने के कारण उसकी अधोगति अनिवार्य है।

यह है वह वर्णाश्रम-धर्म जो सनातन समाजशास्त्र के प्राणरूप से प्रतिष्ठित है। इस व्यवस्था की रचना समाज को एक पक्ष तथा व्यक्ति को दूसरा पक्ष मानकर नहीं की गई, जैसा कि अद्यतन समाजशास्त्र में विदित है। इस का आधार है वह आत्मदर्शन जिस के अनुसार समाज व्यक्ति का ही आत्म-विच्छुरण है और व्यक्ति समाज का ही संहत स्वरूप। समाज के उत्कर्ष से व्यक्ति का उत्कर्ष होता है, और व्यक्ति के उत्कर्ष से समाज का उत्कर्ष। दोनों का उत्कर्ष इस प्रकार अन्योन्याश्रित है। उत्कृष्ट व्यक्ति वह है जो समाज के लिए आत्मोत्सर्ग करता है उत्कृष्ट समाज वह है जो अपने अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का आधार और अधिकार के अनुरूप पूर्ण संरक्षण करता है।

(११)

वर्णाश्रम व्यवस्था का अनुगमन करने वाले समाज की राज्य-प्रणाली स्पष्टतः ही वह होगी जो राजधर्म के सनातन सिद्धान्तों द्वारा विहित है। आधुनिक राजनीति में बहुधा वाद-विवाद होता रहता है कि जनतन्त्र की राज्य-प्रणाली श्रेष्ठतर है, अथवा शिष्टतन्त्र की, अथवा एकराट्तन्त्र की, अथवा तानाशाही की। फिर इनमें से किसी भी राज्य-प्रणाली के कोई निश्चित अर्थ नहीं। जनतन्त्र के भी अनेक प्रकार हैं, शिष्टतन्त्र के भी, तथा अन्यान्य राज्य प्रणालियों के भी। सब समय व्यवस्था के बाह्य अवयव को ही प्रधान मानकर वाद-विवाद किया जाता है। इस सत्य की ओर कोई ध्यान नहीं देता कि कुछ-एक आधार-भूत आस्थाओं की कषपट्टिका पर कसी जाकर ये समस्त राज्यप्रणालियाँ एक-दूसरे की तुलना में हीनतर सिद्ध होती हैं। अथवा एक राज्यप्रणाली द्वारा मान्य आस्थाएँ उस राज्य प्रणाली के अनुरूप व्यवस्थित राष्ट्र के जीवन में अनुपस्थित रहकर उसके सर्वथा विपरीत राज्यप्रणाली के अनुरूप व्यवस्थित राष्ट्र के जीवन में प्रकट होती देखी जाती है। कुछ-एक गणतन्त्र ऐसे हैं जहाँ कानून द्वारा व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की समस्त सुविधाएँ प्राप्त होने पर भी, जनजीवन में विक्षोभ की मात्रा अधिक रहने के कारण, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य स्वप्न-सा बन जाता है। दूसरी ओर कुछ तानाशाहियाँ ऐसी हैं जहाँ कानून द्वारा व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य निषिद्ध होता हुआ भी जनजीवन के शान्त रहने के कारण वस्तुतः सार्थक-सा प्रतीत होता है।

अतएव हमें किसी भी राज्य-व्यवस्था के बाह्य अवयवों के आधार पर ही विभिन्न राज्य-प्रणालियों का मूल्यांकन नहीं कर लेना चाहिए। हमें किसी भी राज्य-प्रणाली द्वारा अनुशासित जनजीवन में कुछ आधारभूत आस्थाओं के अविर्भाव को ही अपना मानदण्ड मानना चाहिए। वे आधारभूत आस्थाएँ कौनसी हैं?

आज का राजनीतिविद् साधारणतः व्यक्ति के स्वातन्त्र्य, उसकी सम्पन्नता और उसके उत्कर्ष के लिए समीचीन सुविधाओं को ही सर्वश्रेष्ठ मानदण्ड मानता है। इसी मान्यता के आधार पर आधुनिक युग में प्रचलित तथा पूजित संसदीय जनतन्त्र (Parliamentary Democracy) की राज्य प्रणाली का विकास हुआ है। इस राज्य-प्रणाली का प्रथम सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वयप्राप्त व्यक्ति अपने स्वार्थ को समझता है तथा उसको सिद्ध करने के लिए स्वभावतः प्रयत्नशील रहता है। अतएव समाज के लिए यही विहित है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध करने की अधिक से अधिक और समान रूप से सुविधा दे। किन्तु विभिन्न व्यक्तियों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वार्थ परस्पर विपरीत हो सकते हैं और इस प्रकार समाज में विद्वेष तथा विग्रह फैल सकता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति के स्वार्थ को एक सीमा द्वारा बद्ध होना पड़ेगा। उस सीमा का निर्धारण करना ही राज्य-व्यवस्था का प्रथम कर्त्तव्य है। उस सीमा के विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं जिन को व्यक्त करने के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों का गठन किया जाना चाहिए। फिर ये राजनीतिक दल एक निर्वाचन में भाग लेकर यह सिद्ध करें कि किस समय कौन सा मत बहुमत-सम्मत है। जो भी दल बहुमत का संग्रह करे वह राष्ट्र का शासन सँभाले और उस शासन के द्वारा जो भी कानून बनें वे उस सीमा के द्योतक हों जो व्यक्ति और व्यक्ति के स्वार्थ के बीच एक रेखा खींच देती है।

संसदीय जनतन्त्र की राज्य-प्रणाली का विरोध करने वाले सोशलिस्ट तथा कम्युनिस्ट कहते हैं कि स्वार्थ व्यक्तिगत नहीं, वर्ग-गत होता है, और व्यक्ति जब-जब अपने स्वार्थ की बात कहता है, तब-तब वह वस्तुतः अपने वर्ग विशेष के स्वार्थ को ही व्यक्त करता है। अतएव किसी भी शासन-व्यवस्था का मूल्यांकन करने के लिए मानदण्ड यह नहीं कि वह कितने प्रतिशत बहुमत द्वारा स्थापित तथा पोषित है। मानदण्ड यह है कि वह शासन-व्यवस्था कौन से वर्ग के स्वार्थों का संरक्षण एवं पोषण करती है। और समाज जिन-जिन वर्गों में विभक्त है, उन सबका स्वार्थ एक तुला पर नहीं तोला जाना चाहिए। कुछ वर्ग जैसे कि पूँजीवाद वर्ग, मध्यवित्त वर्ग, कृषक वर्ग ऐसे हैं कि उन के स्वार्थों के पोषण से समाज की अग्रगति अवरुद्ध होती है। दूसरी ओर कुछ वर्ग, विशेषकर श्रमिक-वर्ग, ऐसे हैं, कि उनके स्वार्थों के संरक्षण से समाज अग्रगामी होता है। अतएव समयोचित शासन-व्यवस्था वह है जो उस समय के सबसे अग्रगामी वर्ग के स्वार्थों को व्यक्त करे। अन्य किसी भी प्रकार की शासन-व्यवस्था का उच्छेद अग्रगामी वर्ग के लिए येन-केन प्रकारेण विहित है। सच्चा जनतन्त्र वही है जो अग्रगामी वर्ग के हाथों में शासन-व्यवस्था सौंप दे। कारण, अग्रगामी वर्ग के स्वार्थ में सारे समाज के सच्चे स्वार्थ निहित हैं।

इसी प्रकार फासिस्ट लोग तर्क करते हैं कि व्यक्ति अथवा वर्ग के स्वार्थ का संरक्षण तभी सम्भव है, जब कि वह राष्ट्र जिस के अवयव वे व्यक्ति तथा वर्ग हैं, सुदृढ़, सशक्त तथा सम्पन्न हो। यदि राष्ट्र दुर्बल हो जाता है, दरिद्र हो जाता है, शक्तिहीन होकर आक्रान्ताओं का आह्वान करता है तो किसी भी वर्ग अथवा व्यक्ति के स्वार्थ का संरक्षण सम्भव नहीं। अतएव राष्ट्र को सुदृढ़, सशक्त तथा सम्पन्न बनाना ही एकमात्र ऐसा ध्येय है, जिस के द्वारा अन्य समस्त ध्येय अपने-आप सिद्ध हो जाते हैं। व्यक्ति अथवा वर्ग का जो भी स्वार्थ, जहाँ पर भी और जिस समय भी राष्ट्र के स्वार्थ से प्रतिस्पर्धा करे, उसी समय उसका दमन होना चाहिए। सच्ची शासन-व्यवस्था वह है जो इस प्रकार के सुदृढ़, सशक्त तथा सम्पन्न राष्ट्र का निर्माण करे, तथा जो सब प्रकार के आभ्यन्तरीण द्वन्द्व से उस राष्ट्र का परित्राण करे।

इस प्रकार स्वार्थ-सिद्धि का प्रसंग प्रस्तुत होते ही इस समस्त तर्क-वितर्क में एक अनवस्था का दोष आ जाता है। पक्षपात रहित दृष्टि से देखने पर सहज ही समझ में नहीं आता कि किस के स्वार्थ को सर्वोपरि स्वीकृत किया जाय। व्यक्ति का स्वार्थ भी समीचीन है, वर्ग का स्वार्थ भी, और राष्ट्र का स्वार्थ भी। और यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि ये सब प्रकार के स्वार्थ अन्योन्याश्रित हैं। व्यक्ति के जिस स्वार्थ की सिद्धि द्वारा उसके वर्ग अथवा राष्ट्र के स्वार्थ का हनन हो, वह अन्ततः उसके अपने स्वार्थ का भी घातक है। फिर राष्ट्र अथवा वर्ग के जिस स्वार्थ की सिद्धि से व्यक्ति का कोई भी स्वार्थ स्पष्टतः सिद्ध होता नहीं दीखता, प्रत्युत उसके प्रत्येक स्वार्थ का हनन ही दृष्टिगोचर होता है, वह निश्चय ही नितान्त भ्रमोत्पादक है। यह भी देखा जाता है कि बहुत बार कुछ लोगों का एक गुट किसी वर्ग अथवा राष्ट्र के स्वार्थों को सिद्ध करने की आड़ लेकर अपने ही स्वार्थों का संरक्षण तथा पोषण करता रहता है। कम्युनिस्ट तथा फासिस्ट देशों में सर्वत्र ही यही परिणाम प्रत्यक्ष प्रकट होता हुआ देखा गया है। और तनिक गम्भीर दृष्टि से सोचने पर यह बात तुरन्त ही समझ में आ जाती है कि स्वार्थ की दृष्टि से सोचने की यह समस्त प्रणाली ही एक भयानक बीहड़ के समान है जिसमें से किसी प्रकार की सुनिश्चित व्यवस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विकास त्रिकाल में भी सम्भव नहीं।

वस्तुतः यह दृष्टि उस बृहत्तर दृष्टि का ही परिणाम है जो जड़वाद द्वारा विदिग्ध होने के कारण मानवप्राणी को एक प्रतिस्पर्धाशील पशु से अधिक अन्य कुछ नहीं मानती। संसार में इन्द्रिय-सुलभ स्थूल उपभोग के साधनों की मात्रा किसी दिन इतनी नहीं रही और न किसी दिन इतनी हो सकेगी कि सबके सब मानवप्राणी उनका यथेच्छ और बाधा-हीन भोगकर सकें। उपभोग के अप्रर्याप्त साधनों के लिए होने वाली प्रतिस्पर्धा उसी दिन मिट पाएगी, जिस दिन वे साधन प्रचुर से भी प्रचुरतर परिमाण में प्राप्त होने लगेंगे। उस दिन व्यक्ति को व्यक्ति के साथ द्वन्द्व नहीं करना पड़ेगा। उस दिन समानान्तर स्वार्थों वाले व्यक्तियों को अतीत युग अथवा आज की नाईं वर्गों अथवा राष्ट्रों में संगठित होने की आवश्यकता नहीं रहेगी। अतएव प्रकृति के ऊपर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करके प्रचुरता के उस युग को शीघ्रातिशीघ्र सार्थक बनाना ही मानवजाति का एकमात्र अध्यवसाय होना चाहिए। उस युग का आविर्भाव होते ही मनुष्य की समस्त समस्याओं का समाधान हो जाएगा।

किन्तु यह एक ऐसा स्वप्न है जो सदा स्वप्न ही रहेगा। इस स्वप्न के लिए संघर्ष करने वाले व्यक्तियों, दलों तथा राष्ट्रों को पागल कहने के अतिरिक्त किसी भी अन्य संज्ञा से विभूषित नहीं किया जा सकता। कारण, वे सब यह सीधी-सी बात नहीं समझते कि मनुष्य की पाशव प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलने पर वह केवल इन्द्रिय-सुलभ उपभोग-पदार्थ ही नहीं माँगता अपितु ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा आदि अहंकार-निष्ठ प्रवृत्तियों से भी विद्ध हो जाता है। इस प्रकार यदि वह दिन आ भी जाए, जब कि संसार के सब लोगों को यथेच्छ भोगपदार्थ बिना किसी बाधा के प्राप्त होने लगें, तो भी समस्या का समाधान सम्भव नहीं। प्रचुर से प्रचुतर भोग-पदार्थों के लिए भी इसी प्रकार की प्रतिस्पर्धा होती रहेगी। और दूसरे को नीचा दिखाने के लिए, दूसरे पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए, तथा इसी प्रकार की निम्न प्रवृत्तियों को तृप्त करने के लिए जो प्रतिस्पर्धा होती रहती है, उसको तो इस प्रकार की व्यवस्था से अभूतपूर्व प्रोत्साहन मिलेगा।

और हम तो यह स्वीकार करने के लिए भी प्रस्तुत नहीं कि वैसी प्रचुरता का युग कभी सम्भव हो सकेगा। कारण, प्रचुरता तो इच्छासापेक्ष है। मनुष्य की उपभोगेच्छा तो कोई नियत परिमाण नहीं कि उसके आधार पर एक युग को अप्रचुरता का तथा एक अन्य युग को प्रचुरता का युग कहा जा सके। उपभोगेच्छा तो उत्तरोत्तर बढती जाती है। हमारे मनीषियों ने इस प्रसंग में आग और घी की उपमा दी हैं। उपभोग के साधन की मात्रा जितनी ही बढ़ेगी, उपभोग की इच्छा भी उतनी ही अथवा उससे भी अधिक बढ़ जाएगी। अतएव प्रचुरता के स्वप्न देखना और उसके द्वारा मानवसमाज की समस्त समस्याओं का समाधान खोजना मृगमरीचिका द्वारा विभ्रान्त होने के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस मृगमरीचिका का अनुसरण करने वाला व्यक्ति, वर्ग, दल, समाज और राष्ट्र एक न एक दिन मृत्यु को प्राप्त होगा ही। इस परिणाम के प्रति किसी को भी संशयग्रस्त होने की आवश्यकता नहीं। भूतकाल के इतिहास में इस प्रकार की मृत्यु के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

(१२)

सनातन राज्य-प्रणाली की रीढ़ वह अध्यात्मदर्शन है जिसके अनुसार अहंकार-निविष्ठ व्यक्ति उस परमात्मा का अज्ञानाच्छन्न रूप है जोकि इस समूचे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। अहंकार वह परदा है जिसके उठते ही व्यक्ति अपने सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है। उस स्वरूप की अवस्था में संसार के सारे व्यक्ति उसको अपने भीतर और अपना-आप संसार के सारे व्यक्तियों के भीतर प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच साधारणतः जो भ्रातृत्व, सौहार्द, स्नेह, प्रेम तथा संवेदना इत्यादि के भाव देखे जाते हैं, वे अन्ततः उसस ऐकात्म्य के ही प्रतीक है। अतएव स्वरूप में स्थित व्यक्ति और व्यक्ति के बीच कोई द्वन्द्व अथवा स्पर्धा सम्भव नहीं। वे परस्पर प्रेम ही कर सकते हैं। अपने से अपर व्यक्ति का स्वार्थ साधना ही प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। अपना स्वार्थ साधना अर्थात् अपने स्वरूप से भ्रष्ट हो जाना। अहंकार-निविष्ठ व्यक्ति वस्तुतः स्वरूप-भ्रष्ट व्यक्ति है।

अतएव सनातन राज्य-प्रणाली स्वरूप-निष्ठ व्यक्तियों द्वारा भरे हुए समाज की शासन-व्यवस्था का ही दूसरा नाम है। इस राज्य प्रणाली के चार सोपान है—स्वभाव,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वधर्म, स्वराज्य, साम्राज्य। धर्मराज्य का विधान इन्हीं चार सोपानों पर उत्तीर्ण होकर सतयुग की स्थापना करता है। अब हम इन चार सोपानों की अपेक्षाकृत विशद व्याख्या करेंगे।

प्रथम सोपान है स्वभाव। अपने स्वरूप में एक समान होकर भी अपने जन्म तथा कर्म के नाते प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से विभिन्न होता है। इन विभिन्नताओं का वर्गीकरण करके सनातन समाजशास्त्र ने तीन गुणों की व्यवस्था की है—सत्त्व, रजस् और तमस्। कुछ व्यक्ति सत्त्व-प्रधान होते हैं, कुछ रजस्-प्रधान और कुछ तमस्-प्रधान। कुछ व्यक्ति दो गुणों के सन्धिस्थान में स्थित होते हैं जिनमें एक गुण का विलय तथा दूसरे गुण का उदय स्पष्ट दिखलाई देता है। यदि व्यक्ति अहंकार-निविष्ठ हो तो वह अपनी गुण-सम्पदा का आत्मपोषण के लिए प्रयोग करेगा। किन्तु यदि व्यक्ति स्वरूपोन्मुख हो तो वह अपनी गुणसम्पदा का प्रयोग परोपकारार्थ अर्थात् दूसरों की सेवा के लिए करेगा। आज की दृष्टि से जिस व्यक्ति की गुणसम्पदा जितनी उत्कृष्ट हो, वह उतने ही सुख संग्रह का अधिकारी माना जाता है। किन्तु सनातन दृष्टि से जो व्यक्ति अपनी गुणसम्पदा के नाते जितना ही उत्कृष्ट हो, उसके लिए उतनी ही सेवा विहित है। सेवा करने की इस क्षमता को व्यक्ति का स्वभाव कहा जाता है।

स्वभाव ही व्यक्ति का स्वधर्म निश्चित करता है। स्वभाव के अनुकूल जो भी व्यक्ति जिस प्रकार की सेवा करने का अधिकारी हो उसी के अनुसार उसका स्वधर्म बन जाता है। और उस स्वधर्म का पालन करता हुआ वह अपने ऊपर जमे हुए अहंकार के मल से उत्तरोत्तर मुक्त होता जाता है। मुक्ति की इस प्रक्रिया का नाम ही स्वराज्य है। जो भी व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार निश्चित स्वधर्म का पालन बिना किसी प्रकार विषाद प्रकट किए करता जाता है वह स्वराज्य को प्राप्त हो गया माना जाता है। और इसी प्रकार के स्वराज्य-निष्ठ व्यक्ति को अधिकार है कि वह अन्यान्य व्यक्तियों पर अपने साम्राज्य की स्थापना करे। उसके साम्राज्य द्वारा अन्यान्य व्यक्ति भी स्वधर्म के अनुसार निश्चित स्वधर्म के पालन में प्रवृत्त होंगे और स्वराज्य-निष्ठ होते जाएँगे।

और जो न्याय व्यक्ति के विषय में चरितार्थ है, वही समवाय के विषय में भी सार्थक है। चाहे वह समवाय कोई कुल हो, अथवा कोई जाति, अथवा कोई ग्राम अथवा कोई राष्ट्र। प्रत्येक कुल का एक स्वभाव होता, जो उस कुल के अन्तर्गत परिवारों की परम्परा में पाया जाता है। इस स्वभाव के अनुसार उस कुल के स्वधर्म अथवा शील की निश्चिति होती है। अपने शील का आचरण करने वाला कुल स्वराज्य प्राप्त कर लेता है और साम्राज्य का अधिकारी बन जाता है। इसी प्रकार जाति, ग्राम तथा राष्ट्र भी। इसी प्रकार श्रेणी इत्यादि अनेक प्रकार के अन्य समवाय भी। व्यक्ति के समान ये विभिन्न समवाय भी अपनी-अपनी विशिष्ट गुण-सम्पदा द्वारा अन्यान्य समवायों की सेवा करते हैं।

इस दृष्टि से देखने पर मानव-समाज अनेकानेक व्यक्तियों तथा समवायों के परस्पर संघर्ष का रंगमंच नहीं रह जाता। वह विभिन्न व्यक्तियों तथा समवायों के बीच विभिन्न प्रकार की सेवाओं के आदान-प्रदान का अखाड़ा बन जाता है। वहाँ कोई व्यक्ति अथवा समवाय अपने-आप को इसलिए नहीं कोसता कि वह पारस्परिक संघर्ष में पराजित होकर किसी प्रकार की उपलब्धि से वंचित हो गया। वहाँ व्यक्ति अथवा समवाय यदि पश्चात्ताप-परायण होता है तो केवल इसीलिये कि वह अपने स्वभाव के अनुसार स्वधर्म का पालन करते हुए दूसरे व्यक्तियों तथा समवायों की उचित सेवा नहीं कर पाया और इस प्रकार स्वराज्य-प्राप्ति से दूर रह गया।

ऐसी व्यवस्था में कोई व्यक्ति अथवा समवाय किसी दूसरे व्यक्ति अथवा समवाय के लिए कानून नहीं बनाता। प्रत्येक व्यक्ति तथा समवाय का स्वधर्म ही उसके लिए स्वतःसिद्ध कानून है। और शासन-व्यवस्था का कर्त्तव्य केवल यही रह जाता है कि वह समस्त व्यक्तियों तथा समवायों को स्वधर्म में स्थित रक्खे और स्वधर्म के विनाश से उनका परित्राण करे। इस प्रकार की शासन-व्यवस्था का बाह्य रूप कुछ भी हो सकता है। वह चाहे एक राजा का राज्य हो, चाहे किसी शिष्ट-दल द्वार प्रवर्तित तन्त्र, चाहे जनतन्त्र जिसमें सब प्रकार के समवायों के प्रतिनिधि एक-साथ बैठकर शासन-व्यवस्था चलाते हैं। बाह्य रूप जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी हो, परिणाम एक ही प्रकार का होगा। ऐसी सनातन राज्य-प्रणाली के फलस्वरूप समाज में सर्वत्र ही शान्ति, समृद्धि तथा स्वतन्त्रता का प्रसार होगा।

इसीलिए देखा जाता है कि प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में राज्य द्वारा बनाए हुए कानूनों का उल्लेख बहुत कम मिलता है। मनुस्मृति तथा अन्यान्य स्मृतिग्रन्थों में भी शासन के कानून तथा व्यक्ति और समवाय के स्वधर्म को एक ही संज्ञा दी गई है। राजदरबार अथवा किसी अन्य शासकीय प्रतिष्ठान में कोई भी विवाद-पद तभी प्रस्तुत होता है, जबकि कोई व्यक्ति अथवा समवाय अपने स्वधर्म से च्युत हो जाए। भारतवर्ष के प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है कि कुल, जाति, श्रेणी, ग्राम, संघ, गण इत्यादि सब प्रकार के समवाय अपने-अपने कानून स्वयं बनाएँ और अपने सदस्यों द्वारा उन कानूनों का पालन करवाने का दायित्व भी स्वयं सँभालें; राजकीय प्रतिष्ठान में प्रार्थना उसी समय प्रस्तुत की जाए, जबकि किसी समवाय का कोई सदस्य समवाय के अनुशासन की अवहेलना करके भी समवाय के कानून द्वारा विहित दण्ड को स्वीकार करने से इन्कार कर दे। आजकल के समान सब लोगों के लिए एक-समान लागू किसी कानून का उल्लेख हमें प्राचीन भारत के राजनीति-शास्त्रों में नहीं मिलता। इस प्रकार के सार्वजनीन कानून की उस व्यवस्था में कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

मैगस्थनीज के भारत-सम्बन्धी ग्रन्थ में एक विवाद-पद का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार की शासन-व्यवस्था का अत्युज्ज्वल प्रतीक है। एक व्यक्ति ने किसी दूसरे व्यक्ति को अपनी धरती बेची थी। क्रेता को उस धरती में गड़ा हुआ बहुत-सा धन मिला। वह उस धन को लेकर विक्रेता के पास पहुचा और हठ करने लगा कि न्यायतः वह धन उसका अपना नहीं प्रत्युत विक्रेता का ही है। विक्रेता ने कारण पूछा। क्रेता ने उत्तर दिया कि उसने धरती खरीदी थी, उस धरती में गड़ा हुआ धन नहीं। किन्तु विक्रेता का समाधान नहीं हुआ। उसने कहा कि उसने धरती बेचते समय उस धरती में जो कुछ था वह सभी बेच दिया था, अतएव उस धरती में से निकलने वाले धन पर उसका कोई अधिकार नहीं। वे दोनों व्यक्ति जिन-जिन समवायों के सदस्य थे, उन-उन पर समवायों ने भी अपने-अपने सदस्य का पक्ष लिया। और अन्ततः वह विवाद-पद राजदरबार में ले जाया गया।

आज की दृष्टि के अनुसार यदि किसी क्रेता को इस प्रकार का गड़ा हुआ धन मिल जाता तो वह उसको छुपाता। यदि विक्रेता को उस धन का संधान मिल जाता तो वह क्रेता के पास जाकर उस धन पर अपना दावा प्रस्तुत करता। और विवाद-पद यह नहीं होता कि उस धन को दूसरे का मानने वाले दो व्यक्तियों में से वह धन किसका है, प्रत्युत यह होता कि उस धन पर अधिकार जताने वाले दो व्यक्तियों में से वह धन किसको मिलना चाहिए। आज के समवाय भी अपने-अपने सदस्य को वह धन दिलवाने के लिए सिरतोड़ चेष्टा करते।

यह स्पष्ट है कि सनातन समाजशास्त्र की दृष्टि से आज के युग में प्रचलित किसी भी राज्य-प्रणाली की कानी कौड़ी की कीमत नहीं हो सकती। और संसदीय प्रणाली, जो व्यक्ति के स्वार्थ को ही सर्वोपरि मानती है, सनातन समाजशास्त्र की दृष्टि से सर्वापेक्षा हेय है। संसदीय शासन-प्रणाली में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर व्यक्ति के आत्म-पोषण को ही आश्रय मिलता है, जिसके फलस्वरूप समाज तथा राष्ट्र का तन्त्र खोखला होता जाता है। इस प्रणाली में जो भी समवाय बनते हैं, वे सब अन्ततः व्यक्तियों के स्वार्थ-विशेष के पोषण के लिए ही बनते हैं। उन समवायों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा भी समाज तथा राष्ट्र के जीवन को विषाक्त कर देती है। और इस प्रकार के विषाक्त राष्ट्र एक-दूसरे के लिए विभीषिका बन जाते हैं। उनके भीतर किसी न किसी प्रकार के असुर-तन्त्र का आविर्भाव अवश्यम्भावी हो जाता है।

आज के कम्युनिस्ट राष्ट्र उन्हीं असुर-तन्त्रों के प्रतीक हैं। उन राष्ट्रों में कम्युनिज्म के सिद्धान्त का आश्रय लेकर कुछ लोगों के गुट ने अपना एकाधिकार जमा लिया है। रूस में वह गुट स्वतन्त्र था। किन्तु रूस के उस गुट की सहायता से जिन अन्य गुटों ने कुछ अन्य राष्ट्रों में सत्ता हथियाई है, वे सब रूसी गुट के भृत्य हैं तथा उनके हाथों उनके राष्ट्रों की स्वाधीनता का भी विलोप हो गया है। जिस श्रमिक वर्ग के नाम पर कम्युनिस्टों के इन गुटों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने सत्ता हथियाई है, उसकी विभीषिका का तो कोई कूल-किनारा ही नहीं रह गया। और अब ये सब गुट एक अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष की स्थापना करके संसार के अवशिष्ट राष्ट्रों की स्वाधीनता का भी अपहरण करने के लिए कृत-प्रतिज्ञ हैं। यह प्रक्रिया असुर-साम्राज्य का आह्वान है, जिसका प्रतिरोध उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि आधुनिक समाजशास्त्र की मिथ्यादृष्टि का विलोप नहीं हो जाता। अस्तु।

(१३)

सनातन समाजशास्त्र की अर्थव्यवस्था की विशद् विवेचना इस विशेषाङ्क के एक अन्य लेख में की गई है। यहाँ उसके विषय में कुछ संकेत करना ही पर्याप्त होगा। इस प्रसंग में यह लक्षणीय है कि सनातन दृष्टि द्वारा विहित पुरुषार्थी-चतुष्टय में अर्थ तथा काम का स्थान धर्म तथा मोक्ष द्वारा परिसीमित है। अर्थ और काम के लिए यह वाञ्छनीय है कि वे धर्म से अविरुद्ध रहें और मोक्ष की साधना की ओर उन्मुख रहें। यह विधान सनातन समाजशास्त्र की अर्थनीति को पूर्णतया व्यक्त करता है। और वह अर्थनीति आज की अर्थनीति से सर्वथा विपरीत है।

आज की अर्थनीति का आधार है अर्थ और काम का प्रवृत्तियों का पूर्ण स्वातन्त्र्य तथा सर्वप्रमुख एकाधिकार। अर्थ की उपलब्धि तथा उस अर्थ के द्वारा काम की तृप्ति व्यक्ति तथा समवाय की सारी दृष्टि को घेरकर छाए हुए हैं। अर्थ और काम की लिप्सा ही व्यक्ति तथा समवाय को कर्मरत करती रहती है, उस कर्म की प्रणाली चाहे कुछ भी हो। पूंजीवाद एक प्रणाली है, समाजवाद दूसरी, कम्युनिस्ट तीसरी। किन्तु वे सबकी सब हैं अर्थव्यवस्था की ही प्रणालियाँ। शासन-प्रणाली तथा समाज-व्यवस्था को अर्थव्यवस्था के अनुरूप ही बदलना पड़ता है।

आज के समाज में प्रमुख प्रतिष्ठा भी अर्थपति को ही प्राप्त होती है। पूँजीवादी व्यवस्था में प्रतिष्ठा उस व्यक्ति को प्राप्त होती है जो येन-केन-प्रकारेण अधिक से अधिक अर्थ का संग्रह कर ले। समाजवादी समाज में प्रतिष्ठा उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जो दिन के चौबीस घंटे तथा साल के ३६५ दिन अर्थ-चिन्ता में ही व्यतीत कर दे। वर्तमान काल के समस्त राष्ट्रों में जो ख्याति एक प्रवीण अर्थशास्त्री के लिए उपलब्ध है, वह किसी भी अन्य शास्त्र के विज्ञाता को नहीं। विज्ञान के ज्ञाता तो इसलिए प्रतिष्ठित होते हैं कि वे अर्थशास्त्री की योजना के अनुसार उत्पादन चलाने के लिए विभिन्न प्रकार के आविष्कार करते रहते हैं। और साहित्य, शिल्प इत्यादि के शास्त्री तथा साधक समाज का मनोरञ्जन करने के लिए इसीलिए प्रवृत्त हैं कि वे अन्य किसी प्रकार अपनी आजीविका नहीं कमा सकते। उन लोगों के समस्त ज्ञान तथा उनकी समस्त साधना का भी व्यापार होता रहता है। समाज के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक समवाय का प्रत्येक काम अन्ततः उत्पादन-व्यापार का ही एक प्रसंग है।

इस प्रकार की एकान्त अर्थ-साधना का अवश्यम्भावी परिणाम भी आज के समस्त समाजों में सर्वत्र दिखलाई देता है—बड़े-बड़े कल-कारखानों का निर्माण, बड़े-बड़े नगरों का आविर्भाव, ग्रामीण जीवन में बढ़ती हुई दरिद्रता तथा मलिनता, सब प्रकार की परम्पराओं का उच्छद, सब प्रकार के सामुदयिक जीवन का ह्रास, और एक ऐसे व्यक्ति का उदय जिसके जीवन में वेतन-वृद्धि के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की आशा का तथा वेतनदाता के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के अवलम्बन का कोई समावेश नहीं रह जाता। वह व्यक्ति अधिकाधिक पशुता-परायण, अधिकाधिक हिंस्र और उत्तरोत्तर अशिष्ट तथा अभद्र बनता जा रहा है। उसकी इस पतनोन्मुख प्रवृत्ति का प्रयोग समाज-व्यवस्था को उलटने तथा राज्यसत्ता हथियाने के लिए किया जाता है। राष्ट्र राष्ट्र में क्रान्ति का उदय होता है, राष्ट्रों के बीच युद्ध की विभीषिका सिर उठाती है।

सनातन समाजशास्त्र द्वारा विहित अर्थव्यवस्था का रूप आज की अर्थव्यवस्था के सर्वथा विपरीत होगा। उस व्यवस्था में अर्थ की उपलब्धि अर्थ के लिए अथवा काम की पूर्ति के लिए नहीं, प्रत्युत धर्म के पालन तथा मोक्ष की साधना के लिए ही विहित है। अतएव उस अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति को अपने किसी भी परम्परागत समवाय से विच्छिन्न होने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता, न ही कोई व्यक्ति अपने विविध समवायों द्वारा प्रदत्त शील तथा संस्कृति से वंचित ही किया जाता है। व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को यथासाध्य उसके जन्म-स्थान पर ही, उसके परिवार तथा समाज के बीच रहते हुए, उसकी क्षमता के अनुरूप आजीविका उपार्जन करने का अवसर प्राप्त होता है। और व्यक्ति का वेतन उसके जीवन का प्रमुख सम्बल तथा उसका वेतनदाता उसका एकमात्र अवलम्बन नहीं होता। व्यक्ति के जीवन में अर्थ का प्रयोजन केवल लोकयात्रा को सिद्ध करने के लिए ही पड़ता है। और आपत्ति की अवस्था में सारा समाज एक-साथ व्यक्ति की रक्षा करने के लिए दौड़ पड़ता है।

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में बड़े-बड़े कल-कारखानों का विशिष्ट स्थान नहीं हो सकता। ऐसे कल-कारखाने यथासाध्य यत्किंचित् ही हो सकते हैं। अतएव बड़े-बड़े नगरों का आविर्भाव भी असम्भव हो जाएगा। उत्पादन का केन्द्र यथासाध्य किसी भी राष्ट्र के ग्राम-समाज में ही रहेगा। कृषि द्वारा उपलब्ध उत्पादन प्रमुख तथा उद्योग द्वारा उपलब्ध उत्पादन गौण होंगे। इस प्रकार के उत्पादन की व्यवस्था करने के लिए अथवा व्यवस्था के विषय में चिन्तन करने के लिए किसी अर्थ-शास्त्री की आवश्यकता नहीं होगी। व्यक्ति और समवाय अपने-अपने स्वभाव के अनुसार विभिन्न प्रकार के अध्य-वसाय में रत होकर सब प्रकार की प्रयोजनीय वस्तुओं का उत्पादन सेवार्थ करेंगे। वे इस अध्यवसाय के विनिमय में समाज के शीर्षस्थान पर बैठने का आग्रह नहीं करेंगे। वह शीर्षस्थान उन्हीं लोगों को प्राप्त होगा जो अपने स्व-भाव के अनुसार क्षात्र और ब्राह्मण्य का पालन करेंगे। सनातन धर्म का सतत साक्षात्कार करने वाले तथा उस धर्म के परित्राण के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले ही किसी भी सुव्यवस्थित समाज के अग्रणी होने के योग्य होते हैं।

(१४)

सनातन समाजशास्त्र की रूपरेखा हम प्रस्तुत कर चुके। अब देखना है कि वर्तमान भारतवर्ष कौन से समाज-शास्त्र का आश्रय लेकर किस ओर जा रहा है। कारण, यदि सनातन समाजशास्त्र का पुनरुत्थान कहीं संभव है तो वह भारत भूमि में ही है। अन्य किसी देश की परम्परा में उस समाजशास्त्र की प्रतिष्ठा न कभी रही है, न अपने आप हो ही पाएगी। प्राचीन ग्रीस इत्यादि में उस समाज-शास्त्र का जो क्षीण प्रकाश उपलब्ध होता है, वह इस देश से गया हुआ प्रत्यालोक ही था। यदि सनातन समाजशास्त्र का दीपक इस देश में बुझ गया तो अन्य कहीं भी उसको जलाया नहीं जा सकेगा। और तदुपरान्त युगान्त प्रलय के पूर्व संसार के उद्धार का कोई मार्ग ही नहीं रह जाएगा।

भारतवर्ष में सनातन समाजशास्त्र के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विस्मृति का एक लम्बा इतिहास है। महाभारत के युद्ध के उपरान्त इस देश में बौद्ध और जैन इत्यादि जिन निवृत्ति-परायण अध्यात्म-परम्पराओं का प्रचार और प्रसार हुआ, उनके कारण जनमानस में समाज तथा संसार के प्रति एक औदासीन्य का भाव भरता गया। सनातन समाजशास्त्र के प्रति श्रद्धा बनाए रखने वाले वर्ग भी उस समाजशास्त्र के सम-सामयिक शील को ही अधिक श्रेय देने लगे और उसकी प्रज्ञा के प्रति अन्ध होते चले गये। अत-एव निवृत्ति-परायण अध्यात्म-परम्परा की पराजय हुई। तब इस देश में वह युग आया जब कि समाज में सनातन समाजशास्त्र की प्रज्ञा का प्रायः विलोप हो गया और यह देश आक्रान्ताओं का आखेट बन गया।

आक्रान्ता आए। वे अपने साथ अपनी अध्यात्म-परम्परा अथवा कोई अन्य मनीषा भी लाए। देश के रण-बाँकुरों ने रणभूमि में उनके साथ लोहा लिया। देश के मनी-षियों ने उन मनीषियों के साथ शास्त्रार्थ किया। रणभूमि में जीत अन्ततः देशभक्तों के ही हाथ आई। किन्तु शास्त्रार्थ में यहां का मनीषी हार गया। यहाँ के समाज के आचार तथा शील को सम-सामयिक साँचे में ढालने के नाम पर आक्रान्ताओं की मनीषा का आश्रय लिया गया। फलस्वरूप स्वदेशीय समाज में वे सुधार-आन्दोलन उठे जो अपने आप-को वेदमार्गी, आर्य, हिन्दू इत्यादि कहते हुए भी इस देश के सनातन धर्म से सर्वथा अनभिज्ञ रहे और स्वधर्म का लेबल लगा परधर्म का ही प्रचार करते रहे। इसी आत्मघाती सुधार-प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप इस देश में यह दिन आया कि सर्वथा जड़वादी, वेदद्रोही, अध्यात्म के विद्वेषी तथा पूर्णप्रकारेण परधर्मावलम्बी लोगों के एक सम्प्रदाय ने इस देश की राज्यसत्ता हथिया ली। अब वह सम्प्रदाय इस देश की प्रत्येक परम्परा का उच्छेद करके इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश को किसी न किसी पाश्चात्य परदेश की प्रतिलिपि बनाने पर तुला हुआ है। और उसके इस देशद्रोहात्मक तथा आसुरी अध्यवसाय का प्रतिरोध किसी और से तथा किसी प्रकार भी नहीं बन पड़ रहा।

भारतवर्ष में अब भी एक बहुत बड़ा जन-समवाय है जो अपने आपको हिन्दू कहने में, वेद का उपासक कहने में, सनातन धर्म का अनुयायी मानने में गर्व का अनुभव करता है। भारतवर्ष में ऐसे संगठन, सम्प्रदाय तथा राजनीतिक दल भी हैं जो उस जनगण की आस्थाओं को पवित्र मान कर उनको अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु उन आस्थाओं की आधारभूत प्रज्ञा का लोप हो जाने के परिणाम-स्वरूप वह अध्यवसाय अग्रसर नहीं हो पा रहा। अथवा उन आस्थाओं की मार्जना में उस पाश्चात्य समाजशास्त्र की तर्कपरम्परा उधार ली जा रही है, जो भारतवर्ष के सनातन समाजशास्त्र के सर्वथा विपरीत होने के कारण उसका सर्वप्रबल प्रतिद्वन्द्वी है। इस प्रकार उन आस्थाओं का संरक्षण तो असम्भव है। इस प्रकार तो पाश्चात्य के जड़-वादी समाजशास्त्र का ही प्रचार होगा, और भारतवर्ष उत्तरोत्तर जड़वाद की अंधतमिस्रा में विलीन होता जाएगा।

इस प्रक्रिया का दोष किसी एक सम्प्रदाय अथवा दल पर नहीं लादा जा सकता। समूचा हिन्दू समाज ही इसके लिए उत्तरदायी है। कारण, उस समूचे समाज ने ही उस शिक्षा-प्रणाली को प्रश्रय दिया है जो पाश्चात्य के जड़वाद की प्रबल प्रचारक है तथा उस शिक्षा-प्रणाली का हनन किया है जिसके आश्रय से भारतवर्ष की सनातन मनीषा पनपती रही है। मुसलमान आक्रान्ताओं का प्रतिपल प्रति-रोध उस दिन इसी कारण सम्भव हो पाया था कि हमारे बालकों की शिक्षा हमारे हाथ में रही थी और उस शिक्षा की प्रणाली वही थी जो अनादि काल से इस देश में प्रचलित थी। अंग्रेज आक्रान्तओं का विरोध भी इसी लिए सम्भव हो पाया था कि हमारी अपनी शिक्षा के कुछ संस्कार इस देश में उस दिन तक अवशिष्ट थे। किन्तु अब इन भारतीय साहबों तथा इनके अग्रणी कम्यूनिज्म का प्रतिरोध इसलिए सम्भव नहीं रहा कि हमारी शिक्षा का पूर्ण पाश्चात्यकरण हो चुका है और हम एक प्रकार से अन्धे हो चुके हैं।

शिक्षा के इस पाश्चात्यकरण का भी एक इतिहास है। यह रूपान्तर भी उन्हीं सुधारवादियों की देन है जो गले-सड़े भारतीय समाज की कल्याण-कामना सच्चे हृदय से करते थे। इन सुधारवादियों द्वारा जितने कालिज तथा विश्वविद्यालय, हिन्दू जनगण के द्वारा दिए गए अर्थ की सहायता से, खोले गए उनकी तुलना में विदेशी सरकार तथा ईसाई मिशनरियों द्वारा स्थापित विद्यापीठ उस दिन तक नगण्य थे। आज की साहबी सरकार वैसे ही विनाश-कारी विद्यापीठों को संख्या बढ़ाती जा रही है। देश में कोई ऐसा आन्दोलन अथवा सम्प्रदाय अथवा राजनीतिक दल नहीं रहा, जो इस ओर ध्यान देने के लिए तैयार हो और जो ऐसी शिक्षा-प्रणाली की स्थापना कर सके जो कि हमारे अवशिष्ट संस्कारों के लिए सनातन प्रज्ञा का प्रश्रय जुटा सके।

कुछ लोगों का मत है कि राजनीतिक सत्ता हिन्दू-समाज के हाथ में आए बिना इस दिशा में अधिक कुछ नहीं किया जा सकता। इस मत में कुछ सार अवश्य है। आज सरकार के हाथों में जो सम्बल हैं, उनका सन्तुलन किसी भी अन्य सम्बल द्वारा अचिन्तनीय है। किन्तु ऐसा भी तो नहीं दीख पड़ता कि सनातन परम्परा के नाम पर लोकसंग्रह करने वाले दल वस्तुतः इस ओर से जागरूक हैं। उनको कोई टोक देता है तो वे अवश्य अपनी श्रद्धा प्रकट कर देते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि वे इस देश की सनातन आस्थाओं के लिए किसी न किसी दिन कुछ न कुछ तो करेंगे ही। किन्तु उनकी साधारण कार्य-प्रणाली में तो ऐसा कोई अध्यवसाय दिखलाई नहीं देता। वह कार्य-प्रणाली तो अधिकाधिक उन कार्य-प्रणालियों की प्रतिलिपि बनती जा रही है, जो सनातन परम्पराओं के प्रतिपक्ष की कार्य-प्रणालियाँ है। अतएव यह आशा करना व्यर्थ है कि इन दलों के द्वारा इस दिशा में अधिक कुछ बन पड़ेगा। यदि शीघ्र ही उन दलों के हाथ में सत्ता आ गई तो सम्भव है श्रद्धा के उद्रेक में कुछ हो भी जाए। किन्तु यदि वह दिन आने में देर लगी तो उन दलों के अपने मानस में से श्रद्धा का विलोप हो चुका होगा। कारण, उन दलों में प्रवेश पाने वाले सभी नवीन लोग पाश्चात्य शिक्षा द्वारा संस्कृत हो रहे हैं और एक अन्धविश्वास के परे किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार की सनातन प्रज्ञा से उन लोगों का कोई विशेष परिचय प्रतीत नहीं होता ।

इस प्रसंग में हमें कांग्रेस का इतिहास स्मरण रखना चाहिए। कांग्रेस के आन्दोलन को प्राणवान् बनाने वाले सभी महापुरुष इस देश की सनातन परम्परा के अनुयायी थे। श्री अरविन्द, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी। किन्तु कांग्रेस के भीतर जो नए-नए लोग दिन प्रति-दिन आते जा रहे थे, वे पाश्चात्य द्वारा शिक्षित होने के कारण उस परम्परा के प्रतिद्वन्दी थे। मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, चित्तरञ्जन दास, सुभाष बोस, जयप्रकाश नारायण। धीरे-धीरे कांग्रेस का रूप ही बदल गया। अरविन्द, तिलक तथा गांधी की कांग्रेस आज कृष्णामेनन की कांग्रेस बनती जा रही है और कौन कह सकता है कि कल यही कांग्रेस कम्यूनिस्ट पार्टी में विलीन नहीं हो जाएगी। अतएव प्रज्ञा का प्रश्न ही प्रमुख प्रश्न है। प्रज्ञा की अवहेलना करने वाला सुदृढ़ से सुदृढ़ संगठन भी अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने में असफल रहकर प्रतिपक्षी के उद्देश्यों की ही पूर्ति करता है।

(१५)

किन्तु प्रज्ञा के लिए प्रतिद्वन्द्व किया जाए तो क्यों कर ? जो उस प्रज्ञा के प्रति श्रद्धावान हैं, वे सम्बल-विहीन हैं। जिनके पास सम्बल है, वे उस प्रज्ञा के प्रति श्रद्धा-विहीन हैं अथवा उससे सर्वथा अपरिचित। इस अवस्था में यही सम्भव है कि स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे मनीषी-मण्डलों का गठन किया जाए। वे मनीषी-मण्डल सनातन अध्यात्म-परम्परा के प्रदीप को प्रज्वलित रख सकते हैं। शेष सब काम वह प्रदीप स्वयं कर लेगा। एक मनीषी-मण्डल किसी भी बृहद् संगठन से अधिक शक्तिशाली होता है। उसी प्रकार जिस प्रकार कि छोटा सा प्रदीप अनन्त अन्धकार का क्षय कर डालने में सक्षम होता है। समय आने पर भगवान् इन मनीषी-मण्डलों को सम्बल भी देंगे। यह श्रद्धा की परीक्षा है। त्याग और तपस्या की वेला। शक्ति का उद्रेक वहीं होगा जहाँ त्याग है, और तपस्या है।

●●

- "शाश्वत समाज-शास्त्र" शाश्वत वाणी के विशेषाँक के रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है।

- निःसन्देह उक्त विषय पर शास्त्रीय ज्ञान का निचोड़ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। शास्त्रों के प्रमाण भी यथा-स्थान दिए गए हैं। इनका अध्ययन एवं मनन पाठकों के लिए श्रेयस्कर होगा।

- हम उन सभी विद्वान् लेखकों के हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने परिश्रम कर ऐसी ज्ञान-पूर्ण रचनायें प्रदान की हैं। उनका यह दान अमूल्य है। हमें विश्वास है कि हमारे पाठक-बन्धु भी इस आभार प्रदर्शन में हमारे साथ होंगे।

सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवजाति के इतिहास की सनातन समीक्षा

—श्री सीताराम गोयल—

★

मानवजाति के अन्तर्गत अनेकानेक विगत तथा विद्यमान राष्ट्रों के उत्थान-पतन, जय-पराजय इत्यादि का इतिवृत्त परस्पर विभिन्न हो सकता है। उन राष्ट्रों के जनजीवन में प्रसार पाने वाली परम्पराएँ भी परस्पर विभिन्न हो सकती हैं। किन्तु एक प्रसंग में उन सब का इतिहास एक समान है। वे सब के सब काल के अनन्त प्रवाह में प्रत्यावर्तित दीख पड़ते हैं। उनके जनजीवन में प्रतिपल होते रहने वाले परिवर्तन की एक अनन्त परम्परा प्रत्यालोकित होती रहती है। इतिहास की समीक्षा इस परिवर्तनशीलता को लक्ष्य करके इसका लेखा प्रस्तुत करना चाहती है। किसी भी राष्ट्र के जीवन में, किसी समय, किसी प्रकार का पतन प्रादुर्भूत हुआ तो क्यों हुआ, और एक अन्य राष्ट्र के जीवन में किसी समय, किसी प्रकार का उत्थान उद्भूत हुआ तो क्यों हुआ—इन समस्त प्रश्नों का प्रत्युत्तर साधारण इतिहास की पुस्तकें अपने-अपने प्रकार से देने का प्रयत्न करती रहती हैं। किन्तु यह प्रश्न फिर भी बना रहता है कि पतन किसे कहा जाए, और उत्थान का क्या लक्षण है। और यह स्पष्ट है कि परिवर्तन की परिधि का पूरा पता पाए बिना इस प्रश्न का सम्यक् समाधान सम्भव नहीं।

परिवर्तन की परिधि वस्तुतः साधारण इतिहास की परिधि भी है। परिवर्तन की एक परिधि एक प्रकार के इतिहास की ओर संकेत करती है, दूसरी परिधि दूसरे इतिहास की ओर। अतएव इतिहास की सम्यक् समीक्षा केवल यही संकेत नहीं करती कि परिवर्तनशीलता का रहस्य क्या है, अपितु यह भी निश्चित करती है कि इतिहास कहा किसे जाए। एक समीक्षा के निकट जो इतिहास सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण है, वही दूसरी समीक्षा के निकट नानी की कहानी के समान दीख पड़ता है। अतएव इतिहास की समीक्षा का प्रसंग उठाने के पूर्व हमें यह समझ लेना होगा कि इतिहास है क्या।

इतिहास के विषय में जो विभिन्न मत-मतान्तर हैं, उनका संक्षिप्त संकेत हम यहाँ किए देते हैं। तदनन्तर जिस समय हम समीक्षा का प्रसंग प्रस्तुत करेंगे तो यह तुरन्त ही स्पष्ट हो जाएगा कि इतिहास की समीक्षा तथा इतिहास की परिभाषा किस प्रकार अन्योन्याश्रित हैं।

सर्वप्रथम हम इतिहास की अधुना प्रचलित परिभाषा लेते हैं। उस परिभाषा के अनुसार प्रायः एक-दो लाख वर्ष पूर्व इस धरा पर मानवप्राणी का आविर्भाव हुआ। उसके पूर्व धरा पर केवल पशु-पक्षियों का ही निवास था। विकास-क्रम में एक विशेष प्रकार के वानर-पशु ने मनुष्य का रूप धारण कर लिया। किन्तु मनुष्य का वह पूर्वज अपने पशु-पूर्वज से बहुत अधिक विभिन्न नहीं था। उस पुरातन मनुष्य में विद्यमान गुण-धर्म अधिकांशतः पशु में विद्यमान गुण-धर्मों के ही समान थे। फिर धीरे-धीरे उस मनुष्य-पशु ने प्रकृति के साथ संघर्ष करने के लिए शस्त्रास्त्र तथा यन्त्रादि का सृजन किया, जिसके फलस्वरूप मानव-समाज की सृष्टि होने लगी। समाज-व्यवस्था की अनेक अन्य समस्याओं का समाधान करने की क्रिया-प्रक्रिया में मानवजाति की समस्त सभ्यता-संस्कृति का विकास होता गया। विकास की यह परम्परा पिछले तीन-चार हजार वर्ष से कुछ अधिक प्रवेगवान प्रतीत होती है। उन तीन-चार हजार वर्ष का इतिहास मानवजाति का प्रकृत इतिहास है। उसके पूर्व के युगों को प्रागैतिहासिक युग कहा जा सकता है। और इतिहास की कोई भी सम्यक् समीक्षा केवल इन तीन-चार हजार वर्षों का सिंहावलोकन करके ही सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण हो सकती है।

इतिहास की एक अन्य परिभाषा यहूदी शास्त्रों में उपलब्ध होती है तथा यहूदी, ईसाई और इस्लाम आदि सम्प्रदायों के लिए सर्वसामान्य है। इस परिभाषा के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वर ने प्रायः पाँच हज़ार वर्ष शून्य में से इस सृष्टि को प्रादुर्भूत किया। उस समय अन्य सब कुछ तो इसी प्रकार था जैसा अधुना दीख पड़ता है, किन्तु मानवप्राणी केवल दो ही थे—आदम और हव्वा। नर-नारी का यह जोड़ा अदन नाम के स्वर्ग-स्थान में विहार करता हुआ वहाँ पर प्रस्तुत सब प्रकार के पदार्थों का स्वच्छन्द उपभोग करता था। केवल एक सेब के वृक्ष के फलों का उपभोग ही उन के लिए निषिद्ध था। हव्वा इस निषेध को अधिक दिन तक सहन नहीं कर सकी। उसने एक दिन उस वृक्ष का फल खा लिया। तब उन दोनों पर ईश्वर का प्रकोप प्रकट हुआ। उन दोनों को स्वर्ग से बहिष्कृत कर दिया गया। हव्वा को शाप दिया गया कि वह प्रसवपीड़ा का वहन करेगी। आदम को अभिशप्त किया गया कि वह पसीना बहाकर ही अपनी तथा अपनी सन्तान की उदरपूर्ति के साधन जुटा पाएगा। इस प्रकार नरनारी के उस जोड़े ने एक परिवार को जन्म दिया और कृषि तथा शिल्प की परम्परा का सूत्रपात किया। वह परिवार तथा वह परम्परा कालक्रम में प्रवृद्ध होते रहे हैं, और आज का मानव-समाज तथा आज की समस्त सभ्यता-संस्कृति बन गए हैं। बीच-बीच में ईश्वर द्वारा पठाए हुए पैग़म्बर ईश्वर का संदेश मानव-जाति को देकर मानवजीवन का उद्धार करने का प्रयास करते रहे हैं। उस प्रयास की जय-पराजय ही मानव-जाति का प्रकृत इतिहास है। उस प्रयास की परिधि के बाहर जो कुछ भी है, वह इतिहास के इतिवृत्त में नहीं रक्खा जा सकता।

इतिहास की तीसरी परिभाषा हमें भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होती है। उस परिभाषा के अनुसार मानव-समाज ही नहीं, अपितु यह मर्त्यलोक भी अनादि और अनन्त हैं। मर्त्यलोक ही नहीं, अनेकानेक ऊर्ध्ववर्ती तथा अधोवर्ती लोकों सहित यह समस्त ब्रह्माण्ड भी अनादि तथा अनन्त है। कालक्रम में यह ब्रह्माण्ड कभी व्यक्त हो जाता है, कभी अव्यक्त। इसके व्यक्त हो जाने की प्रक्रिया को सृष्टि अथवा संवर्त कहते हैं, और इसके अव्यक्त हो जाने की प्रक्रिया को प्रलय अथवा विवर्त कहते हैं। और इस प्रकार की सृष्टि-प्रलय अथवा इस प्रकार के संवर्त-विवर्त की प्रक्रिया भी अनादि और अनन्त है। प्रत्येक सृष्टि में अनेक कल्प होते हैं, प्रत्येक कल्प में अनेक मन्वन्तर, प्रत्येक मन्वन्तर में अनेक चतुर्युग। इस प्रक्रिया के काल-परिमाण का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि एक चतुर्युग के सबसे छोटे अर्थात् कलियुग में चार लाख बत्तीस हजार वर्ष होते हैं, और सबसे बड़े अर्थात् सतयुग में सतरह लाख अठाईस हजार वर्ष। अतएव मानवजाति के इतिहास का लेखा पाँच-दस हजार वर्ष में अथवा दस-बीस लाख वर्ष में देना एक बहुत बड़ा बचपन है। वर्षों की गणना तो दूर की बात है, सृष्टियों तथा प्रलयों की गणना भी दुःसाध्य है। प्रत्येक सृष्टि तथा प्रत्येक प्रलय में जो कुछ भी इस मर्त्य-लोक में हुआ वह सभी मानवजाति के इतिहास में परिभुक्त है। उस परम्परा के किसी पक्ष अथवा पर्व को इतिहास की परिधि के बाहर नहीं निकाला जा सकता।

इस प्रकार हमने देखा कि इतिहास की परिभाषाएं कई प्रकार की हैं। अब हम देखेंगे कि इतिहास की समीक्षाएं भी इसी प्रकार विभिन्न हैं।

आजकल प्रचलित परिभाषा के अन्तर्गत जिस घटना-क्रम को इतिहास समझा जाता है, उसकी समीक्षा हम सर्वप्रथम लेते हैं। आधुनिक युग के मनीषियों में उस समीक्षा को लेकर बहुत कुछ मतभेद रहा है। यह तो वे सभी मानते हैं कि इतिहास में दृष्टिगोचर होने वाले परि-वर्तन की परम्परा की आदिम प्रेरणा मानवप्राणी के बाहर विद्यमान है। किन्तु वह प्रेरणा है क्या और मानवप्राणी अथवा मानवसमाज उसका किस अंश में अन्तःकरण कर पाया है—इस प्रसंग को लेकर वे परस्पर वाद-विवाद करते देखे जाते हैं। इस प्रसंग में जो मुख्य-मुख्य मत-मतान्तर प्रचलित हैं, उनका परिचय हम यहाँ दिए देते हैं।

सर्वप्रथम वह समीक्षा जो मानती है कि मानवसमाज की समस्त रीति-नीति तथा उसका समस्त आचार-व्यवहार अन्ततः उसकी प्राकृतिक परिस्थिति द्वारा प्रादुर्भूत तथा परिसीमित हुआ है, और होता रहेगा। मानव-समाज के जो परिवार शान्त और समृद्ध नदियों के तीर पर उद्भूत उर्बर प्रदेशों में बस गए, उनके जीवन में एक प्रकार की परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ, और जो परिवार पार्वत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदेशों अथवा मरुभूमियों में बस गए, उनके जीवन में दूसरी प्रकार की परम्पराओं का। फिर इन विभिन्न परम्पराओं का परस्पर घात-प्रतिघात होने लगा। इतिहास का ताना-बाना उलझ-पुलझ हो गया। यह उलझ-पुलझ इसलिए और भी अधिक बढ़ गई कि किसी-किसी परिवार ने अपनी प्राकृतिक परिस्थितियों में यथेच्छ परिवर्तन करना सीख लिया। किन्तु अन्ततोगत्वा इतिहास को सुलझाने का सीधा साधन एक ही है—मानवसमाज की प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रत्यावलोकन किया जाए।

एक अन्य समीक्षा तर्क करती है कि यह प्रथम समीक्षा इतिहास के प्रथम पर्व के विषय में सत्य होकर भी परवर्ती पर्वों के विषय में मिथ्या का प्रचार करती है। यह माना कि इतिहास के आदिम मानवपरिवारों की परम्पराएँ उन की प्राकृतिक परिस्थितियों द्वारा प्रादुर्भूत तथा परिसीमित थीं। किन्तु मनुष्य के मानस में ज्यों ही प्रकृति को पराजित करने की प्रवृत्ति ने जन्म लिया, और उसके फलस्वरूप मानवसमाज में ज्योंही शस्त्रास्त्र तथा यन्त्र इत्यादि का आविष्कार प्रारम्भ हुआ, त्योंही प्राकृतिक परिस्थितियों के प्रभुत्व का अन्त हो गया। तदनन्तर मानव के द्वारा प्रतिपल किया जाने वाला प्रकृति के ऊपर विजय पाने का प्रयास ही इतिहास के प्रत्येक परिवर्तन की प्रेरणा जुटाता रहा है। अतएव यदि इतिहास के अनन्त परिवर्तन का रहस्य किसी को हृदयंगम करना है तो उसको चाहिए कि वह प्रकृति के ऊपर विजय पाने के इस प्रयास की परम्परा का रहस्य हृदयंगम करे। वह परम्परा यन्त्रशास्त्र के इतिहास में प्रतिध्वनित होती है। अतएव यन्त्रशास्त्र के इतिहास की समीक्षा ही मानवजाति के इतिहास की सम्यक् समीक्षा है।

एक तीसरी समीक्षा इन दोनों समीक्षाओं को अधूरी बतलाती है और अपनी ओर से एक अन्य प्रेरणा की ओर संकेत करती है। यह समीक्षा मानती है कि मानवसमाज के प्रागैतिहासिक पूर्वजों के विषय में प्रथम समीक्षा सत्य है। उस पुरातन समाज में परिवर्तन की प्रेरणा वस्तुतः प्राकृतिक परिस्थितियों द्वारा प्रादुर्भूत तथा परिसीमित थी। इतिहास के प्रथम पर्वों के प्रसंग में द्वितीय समीक्षा को भी स्वीकार किया जा सकता है। मानवसमाज के हाथ में शस्त्रास्त्र तथा यन्त्र आते ही प्रकृति का प्रभुत्व गौण हो गया तथा यन्त्रशास्त्र की क्षमता प्रमुख। किन्तु यन्त्रों के आविष्कार के फलस्वरूप मानवसमाज में जो अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ और उस परिवर्तन के कारण परिवर्तन की प्रेरणा में जो रूपान्तर हुआ, उस को यह समीक्षा नहीं समझ पाई। वह परिवर्तन था मानवसमाज में वर्गविभेद का विकास। यन्त्रों के आविष्कार के पूर्व मानव-समाज वर्गविहीन था। किन्तु यन्त्रों का आविष्कार होते ही मानवसमाज में दो वर्गों का उदय हुआ। एक वह वर्ग जिसके पास यन्त्रों का स्वामित्व रहने के कारण समाज की सम्पत्ति का स्वामित्व भी आ गया। और दूसरा वह वर्ग जिस के पास यन्त्रों का स्वामित्व न रहने के कारण समाज की सम्पत्ति का स्वामित्व नहीं रहा। प्रथम वर्ग द्वितीय वर्ग का शोषण करके अपनी सम्पत्ति का परिरक्षण तथा प्रसार करने के लिए प्रयत्नवान हुआ। द्वितीय वर्ग शोषित होता हुआ उत्तरोत्तर उस शोषण के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए व्यग्र होता गया। और शोषक तथा शोषित वर्गों के इस परस्पर प्रतिद्वन्द्व ने मानवजाति के इतिहास की गतिविधि ही बदल डाली। यह प्रतिद्वन्द्व आज भी चल रहा है। शोषण का प्रकार बदलता रहा है। किन्तु शोषण के प्रत्येक प्रकार में दोनों वर्गों का प्रतिद्वन्द्व पूर्ववत् रहा है। शोषण की इस परम्परा के विविध पर्व तथा प्रत्येक पर्व में शोषण के प्रकार को समझ लेने पर ही इतिहास की सम्यक् समीक्षा सम्भव हो सकती है।

चौथी समीक्षा सम्पत्ति द्वारा उद्भूत वर्ग-विभेद को नहीं, प्रत्युत कामवासना के दमन को ही इस प्रसंग में अधिक महत्त्व देती है। यह समीक्षा बतलाती है कि प्रागैतिहासिक मानव-समाज में नर-नारी का मैथुन-व्यापार सर्वथा स्वच्छन्द था और वे लोग किसी भी प्रकार के किसी नियन्त्रण को स्वीकार न करके उन्मुक्त रूप से रति-सुख का उपभोग करते थे। तब समाज में सम्पत्ति का उदय हुआ, जिसने परिवार की प्रथा का सूत्रपात किया, जिससे पति और पत्नी के बीच होने वाला मैथुन ही विधेय माना जाने लगा, जिसके फलस्वरूप मनुष्य की कामवासना ने अवरुद्ध होकर अवचेतन तथा अचेतन मानस का आश्रय लिया। तथाकथित सभ्य समाज में माता और पुत्र का, पिता तथा पुत्री का, भ्राता और भगिनी का तथा इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार अन्य मानव-युगलों का मैथुन निषिद्ध माना जाता है। किन्तु मैथुन को निषिद्ध कर देने मात्र से कामवासना का विलोप नहीं हो जाता। वह तृप्ति के अन्य मार्ग खोज लेती है। अवरुद्ध कामवासना द्वारा तृप्ति की इसी साधना ने मानव-समाज की समस्त परवर्ती सभ्यता-संस्कृति को सृष्ट किया है, और वह अवरुद्ध कामवासना ही इतिहास की सारी गतिविधि की विधायक है। मानव-समाज के किस परिवार में, किस समय कामवासना कितनी अवरुद्ध है, यह रहस्य हृदयंगम कर लेने पर इतिहास का सारा रहस्य समझ में आ जाता है।

पाँचवी समीक्षा मानती है कि प्राकृतिक परिस्थितियाँ, यन्त्रशास्त्र का विकास, वर्गविभेद का उदय और कामवासना का दमन इत्यादि समस्त कारण मूलतः मान्य होकर भी अपने सीधे-साधे स्वरूप में स्वीकार नहीं किये जा सकते। इन समस्त कारणों को मानव-समाज में कार्यान्वित होने के लिए जिस माध्यम की आवश्यकता पड़ती है वह है मानव का मानस। मानव की प्राकृतिक तथा अन्यान्य परिस्थितियों द्वारा उद्भूत प्रवृत्तियाँ उसके मानस में विचार बन कर डूबती-उतराती हैं। विचार की यह उथल-पुथल बड़े-बड़े सिद्धान्तों और तत्त्वशास्त्रों का रूप धारण कर लेती है। और सिद्धान्तों तथा तत्त्वशास्त्रों के बीच होने वाला निरन्तर द्वन्द्व ही इतिहास में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन की प्रेरणा जुटाता है। यदि मानव-समाज के किसी परिवार के इतिहास का रहस्य हमें हृदयङ्गम करना है तो हमें उस परिवार के तत्त्वशास्त्र का इतिहास हृदयङ्गम करना पड़ेगा। मानव-समाज का प्रत्येक परिवार किसी भी समय अपने तत्त्वशास्त्र द्वारा अनुप्राणित तथा अनुप्रेरित होकर ही प्रवर्तित होता है। उस मूलप्रेरणा को पकड़े बिना किसी अन्य प्रेरणा की खोज करना मृगमरीचिका में भटकना है।

इस प्रकार हमने आधुनिक समय में प्रचलित मुख्य समीक्षाओं का परिचय दे दिया। ये सारी समीक्षाएँ इतिहास की एक ही परिभाषा को स्वीकार करती हैं। ये सब यह भी मानती हैं कि आदिम. मानव-समाज में उद्भूत होने वाली प्रवृत्तियों का उद्गमस्थल मानव-समाज अथवा मानव के मानस से बाहर था। तदनन्तर कुछ समीक्षाएँ उस प्रेरणा को अन्त तक मानव-समाज अथवा मानव के मानस से बाहर ही रखती हैं, और कुछ अन्य समीक्षाएँ उस प्रेरणा का कोई न कोई अन्तःकरण कर देती हैं। किन्तु अन्तःकरण की इस क्रिया से इनकी मूलभूत व्याख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। इन सब समीक्षाओं के लिए समवाय-गत मानव-समाज ही सशक्त है। व्यक्तिगत मानव-प्राणी, मानव-समाज का भाग्य-विधायक तो क्या, अपना भाग्य-विधायक भी नहीं बन सकता। यदि कोई व्यक्तिगत मानव-प्राणी अपने आपको अपना अथवा मानव-समाज का भाग्यविधाता समझता है तो यह उसका भावविलास मात्र है, यह उसकी भूल है। साथ ही ये सारी समीक्षाएँ यह भी मानती हैं कि मानव-समाज के विशेष-विशेष परिवारों में उत्थान-पतन के अपने पर्याय रहते हुए भी, मानव-समाज प्रतिपल प्रगतिशील रहा है। प्रगति की इस प्रक्रिया का प्रादुर्भाव कभी इस परिवार में हुआ, कभी उस परिवार में। और आज के पाश्चात्य में वह प्रगति एक अभूतपूर्व पराकाष्ठा पर जा पहुँची है। उस पराकाष्ठा का एक प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि मानव-समाज अब अपने इतिहास में विद्यमान मूल-प्रेरणा का रहस्य हृदयङ्गम करने के लिए प्रयत्नवान् है। इस प्रकार जो ज्ञान मानव-समाज को प्राप्त होने लगा है, उसकी सहायता से मानव-समाज उत्तरोत्तर और अधिकाधिक मात्रा में अपना भाग्यविधायक बनने में समक्ष होता जायेगा। उसी प्रकार जिस प्रकार प्रकृति के रहस्य समझकर मानव-समाज ने प्रकृति पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना सीखा है। अतएव मानव-समाज की पूर्ण आत्मसचेतनता का पर्व अब बहुत दूर नहीं रह गया।

अब हम यहूदी परिभाषा के अनुकूल इतिहास की समीक्षा का उल्लेख भी किए देते हैं। उस समीक्षा का मर्म है महापुरुष का महावाक्य। ईश्वर अपना सन्देश अपनी सृष्टि में प्रचारित करने के लिए समय-समय पर पैग़म्बर पठाता रहा है। इन पैग़म्बरों द्वारा दिए गए दिव्य संदेश का प्रचार एवं प्रसार ही इतिहास की परिवर्तनशीलता की पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। किन्तु इन पैग़म्बरों में सब के सब एक समान नहीं होते। इनकी भी एक परम्परा है, जिसमें पूर्ववर्ती पैग़म्बरों द्वारा दिया हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्देश परवर्ती पैग़म्बरों द्वारा दिए गए संदेश की तुलना में अधूरा है। तब एक दिन वह परम्परा अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होती है, और एक पूर्ण पैग़म्बर का अवतरण होता है। तदनन्तर इतिहास की समस्त गतिविधि का लक्ष्य एक ही रह जाता है—पूर्ण पैग़म्बर के सर्वाङ्गसम्पूर्ण सन्देश को संसार के प्राणीमात्र तक पहुंचा कर सारे संसार को उद्धार के कूल तक ले जाना। जो लोग इस लक्ष्य को जान कर तथा मान कर इस की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, वे इतिहास की धारा के साथ बहते हैं और सफलता के पात्र होने के साथ-साथ पुण्य के भागी भी होते हैं। जो लोग इस लक्ष्य का विरोध करते हैं अथवा इससे अनभिज्ञ रहते हैं, वे इतिहास की धारा से विमुख जाकर असफलता के पात्र ही नहीं, पाप के भागी भी बनते हैं।

यहाँ तक तो यहूदी मनीषा के समस्त सम्प्रदाय एकमत हैं। किन्तु इसके आगे उनके बीच मतभेद देखा जाता है। कारण, उन सम्प्रदायों के बीच इस विषय पर ऐक्य नहीं कि पूर्ण पैग़म्बर किसको माना जाए। यहूदी सम्प्रदाय मानता है कि हज़रत मूसा ही पूर्ण पैग़म्बर थे, उनके उपरान्त कोई अन्य पैग़म्बर न आ सकता है, न आना चाहिए, न आया ही है। अतएव इतिहास का लक्ष्य है हज़रत मूसा द्वारा दिए गए सन्देश को संसार के दिग्दिगन्त में प्रचारित एवं संचारित करना। जो लोग इस लक्ष्य का विरोध करते हैं, वे काफ़िर हैं और इतिहास की स्वाभाविक गतिविधि को अवरुद्ध कर रहे हैं। हज़रत मूसा का संदेश तो संसारव्यापी होकर रहेगा ही रहेगा। और उसका विरोध करने वाले लोग प्रलय के दिन अपने पाप के भार से अनन्त नरक में जा गिरेंगे। ईसाई सम्प्रदाय हजरत मूसा को पैग़म्बर मानता है, किन्तु पूर्ण पैग़म्बर नहीं। पूर्ण पैग़म्बर होने का श्रेय इस सम्प्रदाय के अनुसार हज़रत मसीह को मिला है। उनके उपरान्त कोई अन्य पैग़म्बर न आया है, न आएगा, न आना चाहिए। इतिहास का लक्ष्य यही है कि हज़रत मसीह का सन्देश संसारव्यापी हो जाए। जो लोग इस सन्देश से अनभिज्ञ हैं अथवा इसका विरोध करते हैं, वे काफ़िर हैं और प्रलय के दिन अपने पाप के परिणामस्वरूप अनन्त नरक में जा गिरेंगे। मुसलमान सम्प्रदाय हज़रत मूसा तथा हज़रत मसीह को पैग़म्बर मानता है। किन्तु उसके मतानुसार पूर्ण पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद हैं जिनके उपरान्त कोई पैग़म्बर न आया है, न आएगा, न आना चाहिए। हज़रत मुहम्मद का सन्देश ही संसारव्यापी होने का अधिकारी है, और इतिहास की समस्त गतिविधि उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रवर्तित हो रही है। जो लोग उस सन्देश को स्वीकार करते हैं, वे प्रलय के दिन स्वर्गारोहण करेंगे, और जो लोग उसका विरोध करते हैं, वे नरक में जा गिरेंगे।

यहूदी मनीषा द्वारा दी गई इतिहास की समीक्षाएँ आधुनिक मनीषा द्वारा दी गई समीक्षाओं से एक पक्ष में विपरीत होकर भी एक अन्य पक्ष में सर्वथा सहमत हैं। आधुनिक समीक्षाएँ इतिहास के महापुरुषों को कोई विशेष महत्व नहीं देतीं। वे मानती हैं कि सभी मनुष्य इतिहास की महानदी पर उद्भूत होने वाले बुलबुले हैं। साधारण मनुष्यों तथा महापुरुषों में यदि कोई अन्तर है तो केवल इतना ही कि महापुरुष लोग अपेक्षाकृत बड़े आकार के बुलबुले है। किन्तु गहन दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि किसी भी बुलबुले का अपने-आप में कोई विशेष महत्व नहीं। वे सब महानदी के आवर्त में बनते हैं, और फूट जाते हैं। छोटे बुलबुले जब बनते हैं तो अपने चारों ओर अधिक घास-फूस एकत्र नहीं कर पाते। बड़े बुलबुले अपेक्षाकृत अधिक घास-फूस जोड़ लेते हैं। छोटे बुलबुले फूटते हैं तो महानदी की धारा में कोई विशेष विक्षोभ नहीं होता। बड़े बुलबुले फूटते समय कुछ विक्षोभ उपजा जाते हैं। किन्तु सभी प्रकार के बुलबुलों का बनना और फूटना महानदी की धारा पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालता। वह धारा अपने आवेग से बहती जाती है और अपने लक्ष्य के निकट पहुँचती जाती है। इस समीक्षा के विपरीत यहूदी समीक्षा महापुरुषों को इतिहास का सर्वस्व मानती है। महापुरुष लोग इतिहास की महानदी में सहज ही प्रादुर्भूत होने वाले बुलबुले नहीं हैं, वे उस महानदी की धारा को प्रवर्तित तथा परिवर्धित करने वाले महास्रोत हैं।

यह हुआ आधुनिक तथा यहूदी समीक्षाओं का पारस्परिक विरोध। किन्तु साथ ही साथ इनके बीच एक बहुत बड़ी सहमति भी है। ये दोनों समीक्षाएँ मानती हैं कि इतिहास की धारा अज्ञान और अभाव के एक युग में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरम्भ हुई। उस धारा के मध्यवर्ती प्रसार में ज्ञान तथा उपलब्धि का उदय हुआ। उस उदय के कारण धारा में एक द्वन्द्व की सृष्टि हुई। और अब वह धारा उस द्वन्द्व का अतिक्रमण करके किसी पराकाष्ठा की ओर वही जा रही है। इतिहास के इस आवेग को कोई अवरुद्ध नहीं कर सकता। वह अपनी पराकाष्ठा पर जाएगी-ही-जाएगी। जो लोग इतिहास के लक्ष्य के प्रति अनभिज्ञ हैं अथवा उसका विरोध करते हैं, वे पाप के भागी हैं, वे पिस जायेंगे। और जो लोग इतिहास के लक्ष्य को समझ कर उसका साथ देते हैं, वे पुण्य के भागी हैं, वे पार हो जाएँगे। पाप और पुण्य, पिस जाना और पार हो जाना—इन सबके विषय में विभिन्न समीक्षाएँ विभिन्न परिभाषाएँ देती हैं। किन्तु पाप और पुण्य का आगम, पिस जाना और पार उतर जाना, इन सब समीक्षाओं में एक समान विहित है।

इसी प्रकार इन समस्त समीक्षाओं में परिवर्तन की परिधि भी प्रायः एक-सी है। इतिहास का काल-प्रमाण कई हजार वर्ष से अधिक नहीं। न ही इस मर्त्यलोक के परे काल के प्रवर्तन का कोई परिचय इन समीक्षाओं द्वारा दिया जाता है। इस मर्त्यलोक में होने वाला उत्थान-पतन, संघर्ष-सहयोग ही इन समीक्षाओं का सर्वस्व है। यहूदी समीक्षाएँ इस मर्त्यलोक के परे एक अन्य और दिव्य लोक स्वीकार करती हैं। किन्तु इतिहास के प्रवाह से उस दूसरे लोक का कोई सम्पर्क नहीं। वह सदा अपने स्थान में रहता है। और इतिहास की सारी उथल-पुथल की विडम्बना झेलता है हमारा मर्त्यलोक। अतएव परिणाम में ये यहूदी समीक्षाएँ उन आधुनिक समीक्षाओं के समान हैं जो केवल एक ही लोक अर्थात् मर्त्यलोक का ही अस्तित्व मानती हैं। ब्रह्माण्ड के आँगन में अन्यत्र जो कुछ हो रहा है, वह सब नगण्य न होकर भी निरर्थक है। कारण, इस मर्त्यलोक के बाहर कहीं कोई चेतना या तो है ही नहीं, अथवा यदि है तो सर्वथा कूटस्थ है। इसलिए किसी अन्य लोक के घात-प्रतिघात की बात करना मिथ्या मोह ही कहा जा सकता है।

अब हम इतिहास की भारतीय समीक्षा की ओर ध्यान देंगे। किन्तु उसके पूर्व हम संक्षेप रूप में एक अन्य समीक्षा का परिचय दे देना चाहते हैं। उसके फलस्वरूप भारतीय समीक्षा को हृदयंगम करना अपेक्षाकृत सुगमतर हो जाएगा। साथ-ही-साथ यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि भारतीय समीक्षा अपने आप में अकेली नहीं है। हमारा आशय इतिहास की ग्रीक समीक्षा से है जिसका आश्रय समय-समय पर यहूदी, ईसाई तथा मुस्लिम मनीषियों ने अपनी-अपनी समीक्षाओं को सबल बनाने के लिए लिया है और जो स्पैंग्लर इत्यादि कतिपय आधुनिक मनीषियों की समीक्षाओं में भी झलक रही है। ग्रीक समीक्षा का सर्वोत्कृष्ट परिचय हमको प्लैटॉन द्वारा प्रस्तुत सोक्रातेज के वचनामृत में उपलब्ध होता है। और वह समीक्षा यहूदी तथा आधुनिक समीक्षाओं से सर्वथा विपरीत है।

ग्रीक समीक्षा प्रथमतः यह स्वीकार नहीं करती कि इतिहास की धारा एक आदियुग से चलकर एक पराकाष्ठा की ओर प्रवाहित है। इतिहास की ग्रीक परिभाषा हमें ज्ञात नहीं। किन्तु इतिहास की ग्रीक समीक्षा को देखते हुए हम यह निष्कर्ष निर्द्वन्द्व निकाल सकते हैं कि उस परिभाषा के अनुसार भी मानवजाति के इतिहास का आदि अथवा अन्त नहीं। कारण, ग्रीक समीक्षा स्पष्ट शब्दों में निरन्तर संवर्त और विवर्त, सृष्टि और प्रलय की बात न कहकर भी, उत्थान तथा पतन की निरन्तर प्रक्रिया का परिचय स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करती है। इतिहास की धारा कभी पतनोन्मुख होती है, कभी उत्थानोन्मुख। पतन की पराकाष्ठा प्राप्त करके वह उत्थान की ओर उन्मुख होती है, और उत्थान की ऊर्ध्वतम भूमि पर पदार्पण करके पतन की ओर अभिमुख। इस व्यापार का न कोई आदि है, न अन्त। यह सदा से होता रहा है, सदा होता रहेगा। उत्थान के अनेक आन्दोलन आ चुके हैं, और आएंगे। पतन के अनेक आन्दोलन आ चुके हैं, और आएँगे।

द्वितीयतः ग्रीक समीक्षा यह स्वीकार नहीं करती कि इतिहास की प्रेरणा का स्रोत मनुष्य के मानस के बाहर है। इसके विपरीत वह मानती है कि मनुष्य के मानस में जिस समय जो गुण-धर्म विद्यमान होते हैं, वे ही बाहर व्यक्त होकर इतिहास की सृष्टि करते हैं। प्राकृतिक परिस्थितियाँ तो मनुष्य के मानस की प्रवृत्तियों की लीलास्थली मात्र हैं; यन्त्रशास्त्र, वर्गविभेद, कामवासना की तृप्ति, विचारों का संघर्ष उन प्रवृत्तियों के उपकरण मात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। यदि प्रवृत्तियों का प्रवाह परिवर्तित हो जाता है तो प्राकृतिक परिस्थितियों में मनुष्य द्वारा वांछित तथा व्यवहारित परिवर्तनों की दिशा भी बदल जाती है। इसी प्रकार यन्त्रशास्त्र का रूप, वर्गविभेद का विन्यास, कामवासना की पूर्ति अथवा संयम, विचारों की व्यूहरचना। ये सबके सब अपने आप बदल जाते हैं। और अन्तर की प्रवृत्तियों से आशय व्यक्तिगत मानवप्राणी की प्रवृत्तियों से नहीं, किसी विशेष वर्ग की प्रवृत्तियों से भी नहीं, प्रत्युत एक युग की सर्वसामान्य प्रवृत्तियों से है। युग की प्रवृत्तियाँ युगश्रद्धा का निर्माण करती हैं, और युगश्रद्धा उस युग के बाह्य रंग-रूप का। इस प्रकार युग-मानव के अन्तर में जो कुछ है, वही बाहर व्यक्त होता है। उसी को हम इतिहास कहते हैं। इतिहास अर्थात् अन्तर की बाह्य अभिव्यक्ति।

वह अन्तर कैसा है, उसमें वे कौन से गुणधर्म हैं जो युगानुरूप बाहर व्यक्त होकर इतिहास की सृष्टि करते हैं? इतिहास की ग्रीक समीक्षा इस प्रसंग में ग्रीक मानसशास्त्र का छोर छू लेती है। ग्रीक मानसशास्त्र के अनुसार मनुष्य के अन्तर में तीन प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके परस्पर घात-प्रतिघात तथा बाह्य अभिव्यक्ति से इतिहास की धारा प्रवाहित होती है। प्रथम प्रवृत्ति है सत्व जो ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पदार्थ तथा उस की प्रत्येक प्रक्रिया का सम्यक् रूप से साक्षात्कार करने में सक्षम है। द्वितीय प्रवृत्ति है तेज जो सत्व के द्वारा साक्षात्कार किए गए सत्य को जीवन में क्रियान्वित करने के लिए प्रेरणा तथा पराक्रम जुटाती है। तीसरी प्रवृत्ति है लोभ जो मनुष्य को परिग्रह तथा कामोपभोग की ओर ले जाती है। भारतीय तत्त्वशास्त्र की भाषा में इन तीनों प्रवृत्तियों को यथाक्रम सत्त्व, रजस् और तमस् इत्यादि तीन गुण कहा जा सकता है। प्रत्येक युग की युगश्रद्धा में इन तीनों प्रवृत्तियों में से किसी एक प्रवृत्ति का प्राधान्य पाया जाता है। और वही प्राधान्य उस युग के इतिहास का प्रणेता होता है। हाँ, युग-सन्धि के समय एक प्रवृत्ति का उत्तरोत्तर विलोप तथा दूसरी प्रवृत्ति का उत्तरोत्तर उदय देखा जा सकता है। जिस युग में सत्व की प्रवृत्ति का प्राधान्य होता है उसको स्वर्णयुग कहा जाता है। जिस युग में तेज की प्रवृत्ति का प्राधान्य होता है उसे ताम्रयुग, तथा जिस युग में लोभ की प्रवृत्ति का प्राधान्य होता है उसे लोहयुग।

ग्रीक तत्त्वशास्त्र ने इस ग्रीक मानसशास्त्र का आधार व्यक्त नहीं किया। किन्तु इतना स्पष्ट है कि मानस की ये प्रवृत्तियाँ अपने प्रत्यावर्तन में स्वतन्त्र नहीं हैं। व्यक्तिगत मानव-प्राणी साधना करके अपने अन्तर में किसी भी प्रवृत्ति का प्राधान्य प्रकट कर सकता है। किन्तु मानव-समाज में व्यक्त होने वाली युगप्रवृत्ति ब्रह्माण्ड की किसी अन्य और रहस्यमयी क्रिया-प्रक्रिया के अधीन हैं। अतएव स्वर्णयुग का ताम्रयुग में परिवर्तित होना और ताम्रयुग का लोहयुग में रूपान्तरित होना रोका नहीं जा सकता। और न ही इस चक्र का विपरीत प्रत्यावर्तन, अर्थात् लोहयुग से ताम्रयुग की ओर तथा ताम्रयुग से स्वर्णयुग की ओर प्रत्यावर्तन रोका जा सकता है। यह चक्र किसी नियमबद्ध नियति के वशीभूत होकर स्वयमेव प्रवर्तित होता रहता है।

इतिहास की ग्रीक समीक्षा ने इस युग-सिद्धान्त का परिचय अधिकतर राजसमाज की व्यवस्था का आश्रय लेकर दिया है। स्वर्णयुग में किसी धर्मनिष्ठ राजा का राज्य होता है। धीरे-धीरे राजा अपने धर्म से च्युत होने लगता है और निरंकुश शासक बन जाता है। तब ताम्रयुग का उदय होता है और राज्य का भार एक धर्मनिष्ठ शिष्टतन्त्र संभाल लेता है। कालक्रम में यह शिष्टतन्त्र भी धर्म-भ्रष्ट होकर स्वार्थ-तन्त्र का रूप धारण कर लेता है। तब लोहयुग का उदय होता है। स्वार्थतन्त्र का उच्छेद करके एक धर्मनिष्ठ जनतन्त्र राज्य की सत्ता अपने हाथ में लेता है। समय के फेर से यह जनतन्त्र भी धर्म से गिर जाता है। तब उसका स्थान लेता है एक अराजकतन्त्र जिसमें स्वार्थरत व्यक्तियों के स्वार्थरत समुदाय और दल समस्त प्रकार की परम्पराओं का उच्छेद कर डालते हैं और नित्यनूतन प्रगति के नारे उठाकर नित्य-नूतन अनाचार की ओर अग्रसर होते हैं। इस अराजकतन्त्र का अन्त होता है किसी आततायी के हाथों, जो रक्त की नदी बहाकर अपनी एकछत्र सत्ता की स्थापना करता है और निरंकुश राजसत्ता द्वारा उद्भूत उत्पीड़न को उसकी ऊर्ध्वतम भूमि तक पहुंचा देता है। और अन्ततः इस आततायी का उच्छेद होता है एक धर्मपरायण महापुरुष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा जो धर्मनिष्ठ राजा बन कर पुनरेण स्वर्णयुग का सूत्रपात करता है। युगपरिवर्तन की परम्परा फिर उसी प्रकार प्रवर्तित हो जाती है।

स्पैंग्लर इत्यादि कतिपय आधुनिक मनीषियों ने इतिहास की इस ग्रीक समीक्षा का आश्रय लेकर एक नई समीक्षा प्रस्तुत की है। वे कहते हैं कि मानव-जाति के इतिहास-जैसा कोई इतिहास नहीं। जिसको हम मानव-जाति का इतिहास कहते हैं। वह तो वस्तुतः अनेक जातियों का इतिहास हैं, और यह भी नहीं कहा जा सकता कि दो समकालीन जातियों ने एक दूसरी से, अथवा किसी परवर्ती जाति ने किसी पूर्ववर्ती जाति से कुछ सीखकर इतिहास की किसी शाश्वत अथवा सर्वसामान्य सम्पदा की सृष्टि की है। वस्तुतः प्रत्येक जाति के उत्थान और पतन की गाथा अपने-आप में सर्वथा अलग है। अलग और अनूठी भी। फिर भी प्रत्येक जाति के इतिहास में हम एक सर्वसामान्य प्रक्रिया का प्रसार देख सकते हैं। उस प्रक्रिया से परिचय प्राप्त करना ही इतिहास की सम्यक् समीक्षा को समझना है।

वह प्रक्रिया इस प्रकार देखी गई है। जाति मानों एक वृक्ष के समान है। उस वृक्ष के अनेक अवयव इधर-उधर फैल कर भी एक ही रस द्वारा पुष्ट होते हैं। वह रस इस वृक्ष के अन्तर में प्रवाहित होता रहता है। उसके परिपाक से वृक्ष पर पत्ते फूटते हैं, पुष्प खिलते हैं, फल पकते हैं। पत्तों, पुष्पों और फलों का फूटना, खिलना तथा पकना उस वृक्ष की सार्थकता भी है, और उसके विनाश का कारण भी। पत्ते, पुष्प और फल उस वृक्ष के अन्तर में बहने वाले रस को लुटाते जाते हैं। अतएव पत्तों, पुष्पों और फलों की कोटि उत्तरोत्तर हीनतर होती जाती है। अन्ततः एक समय आता है, जब कि वृक्ष के अन्तर में बहने वाला रस सर्वथा सूख जाता है। उस समय उसके ऊपर उद्भूत होने वाले पत्ते, पुष्प तथा फल भी नीरस तथा शुष्क-काय हो जाते हैं। तदनन्तर उस वृक्ष में से अन्य पत्ते, पुष्प और-फल उद्भूत करने की शक्ति विलुप्त हो जाती है। वह वृक्ष ठूंठ हो जाता है, गल-सड़ कर गिर जाता है, और दूसरे वृक्षों के लिए खाद जुटाने के अतिरिक्त उसका कोई अन्य उपयोग नहीं रह जाता।

पत्तों, पुष्पों तथा फलों की उत्तरोत्तर हीन होने वाली कोटियों की उपमा ऋतु-परिवर्तन से दी जा सकती है। प्रथम ऋतु है वसन्त। उस समय उद्भूत होने वाले पत्ते कोमल किसलय होते हैं, पुष्प गन्ध तथा मकरन्द से मचलने लगते हैं, फलों में मिठास भर उठता है। द्वितीय ऋतु है ग्रीष्म। उस समय उद्भूत पत्ते घने गहरे रंग के हो जाते हैं, पुष्पों में गन्ध और मकरन्द की मात्रा पराकाष्ठा प्राप्त करके चारों ओर बहते हुए वातास को विह्वल कर देती है, रसीले फलों के भार से वृक्ष झुक-झुक जाता है। तब तृतीय ऋतु का आगमन होता है। पतझड़ में पत्ते पीले पड़ने लगते हैं, पुष्पों की पँखुड़िया ढीली पड़ कर गिरा चाहती हैं, फल कसैले होते जाते हैं। और अन्त में आती है शिशिर ऋतु जब कि पत्ते झड़ जाते हैं। पुष्प सूख कर काले पड़ जाते हैं, और फल सड़ जाते हैं, धीरे-धीरे वृक्ष का सारा रस सूख जाता है और वह ठूँठ-सा खड़ा रह जाता है। तदनन्तर उसका यही उपयोग है कि वह धरा की मिट्टी में विलीन होकर अन्यान्य वनस्पति के लिए खाद जुटाए।

अन्तर के रस के इस बहिष्करण की क्रिया को स्पैंग्लर ने संस्कृति का सभ्यता में परिणत होना बतलाया है। संस्कृति जाति के अन्तर की सम्पदा है जिसकी अभिव्यक्ति महान् संगीत, महान् साहित्य, महान् शिल्प, महान् स्थापत्य के रूप में होती है। इन अभिव्यक्तियों का आकार-प्रकार सूक्ष्म होता है। किन्तु इनके भीतर प्राण की मात्रा अत्यधिक होती है। इसके विपरीत सभ्यता जाति का बाह्य आडम्बर है जिसके अन्तर्गत बड़े-बड़े नगर, बड़े-बड़े कल-कारखाने तथा अन्य प्रकार के स्थूल उपकरण होते हैं। इस आडम्बर का आकार-प्रकार स्थूल, कभी-कभी भीमकाय भी, होता है। किन्तु इसके भीतर प्राण की मात्रा अत्यल्प होती है। इस लिए कालक्रम में यह अपने ही भार से अथवा बाह्य आक्रमण के आघात से चूर होने के लिए तैयार हो जाती है। संस्कृति अनेक आघात सह कर भी अक्षुण्ण रहती है और अपने अन्तर में बहने वाले प्राण के बल से बारम्बार अपने घाव भर लेती है। किन्तु सभ्यता में वह क्षमता नहीं। उस पर जो भी घाव लगता है, वह भरता नहीं, सड़ जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर उसके भीतर भी विविध रोग उत्पन्न करने वाले दोषों की कमी नहीं रहती। अतएव उसका मरण अवश्यम्भावी होता है। और उसके साथ ही साथ वह जाति भी मर जाती है जिसने उस सभ्यता का सृजन किया था। सभ्यता अर्थात् जाति के वृक्ष का शिशिरकाल।

संस्कृति के सभ्यता में परिणत होने के कतिपय लक्षण भी स्पैंग्लर ने बतलाए हैं। एक लक्षण है कृषि का ह्रास तथा उद्योग-व्यापार की उन्नति। दूसरा लक्षण है ग्राम की अवनति तथा नगर का प्रसार। तीसरा लक्षण है ऐसे जनतन्त्र का उदय जिसमें कोई अधिकार-भेद नहीं रहता, और जो कोई भी परनिन्दा तथा आत्मस्तुति करने में अधिक चातुर्य का परिचय देता है, वही समाज का नेता बन जाता है। इन समस्त लक्षणों का परिपाक समाजवाद के रूप में होता है। स्पैंग्लर के मतानुसार समाजवादी नेता और वक्ता जाति के विनाश का अग्रदूत होता है। वह तभी पनपता है जबकि जाति के अधिवासभूत देश में गाँव उजड़ जाते हैं, और नगर विशालकाय बन जाते हैं। उन नगरों के भीतर भोगलिप्सा का ज्वालामुखी फूट पड़ता है। तब समाजवादी नेता तथा वक्ता उन पशु के समान मनुष्यों की निम्नतम प्रवृत्तियों का आश्रय लेकर समस्त सत्ता अपने हाथों में एकीभूत करने के लिए प्रयत्नवान् होता है। वह अध्यात्म को ढकोसला बतलाता है, नीति के नियमों को मिथ्याचार, शिष्टाचार को शोषक वर्गों का भाव-विलास तथा उच्च कोटि के समस्त साहित्य और शिल्प को कपोल-कल्पना। स्थूल के परे किसी भी सूक्ष्म तत्त्व को न समझ पाना समाजवादी मनोवृत्ति का विशेष गुण है। इसलिए समाजवाद के अन्तर्गत सब प्रकार के आचार का लोप होता है, और आततायी का बलात्कार ही एकमात्र प्रमाण रह जाता है।

ग्रीक समीक्षकों के समान स्पैंग्लर इत्यादि ने भी एक मानसशास्त्र तथा तत्त्वशास्त्र का अवलम्बन लेकर अपनी समीक्षा को सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण बनाया है। किन्तु विस्तार के भय से हम उस मानसशास्त्र अथवा तत्त्वशास्त्र का वर्णन यहाँ नहीं करेंगे। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि ग्रीक समीक्षा के समान स्पैंग्लर इत्यादि की समीक्षा भी अन्तर से बाहर की ओर है, और इसीलिए भारतीय समीक्षा के बहुत समीपस्थ है। ये समीक्षाएँ मानवप्राणी को अथवा मानवसमाज को प्राकृतिक परिस्थितियों का अथवा उन परिस्थितियों से प्रादुर्भूत अन्तर्द्वन्द्वों का कठपुतला नहीं मानतीं। न ही ये मानव तथा प्रकृति के बीच होने वाले संघर्ष की कहानी को इतिहास का सर्वस्व मानती हैं। ये स्थूल के परे एक सूक्ष्म तत्त्व का संकेत भी देती हैं।

अब हम इतिहास की भारतीय समीक्षा की रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। उसी को हमने इतिहास की सनातन समीक्षा भी माना है। उस समीक्षा का सिंहावलोकन करने के लिए यह वाञ्छनीय है कि उस के आधारभूत तत्त्वशास्त्र तथा मानसशास्त्र का एक पूर्व-परिचय दे दिया जाए। अन्यथा वह समीक्षा सम्यक्रूपेण समझने में पाठकों को किंचित कठिनाई का बोध होगा।

भारतीय तत्त्वशास्त्र का मूलमन्त्र है सच्चिदानन्द ब्रह्म की सम्यक् स्थापना। वे सच्चिदानन्द ब्रह्म जो विश्वातीत हैं, स्वयं ही विश्व का रूप भी धारण किए हुए हैं। विश्व का रूप धारण करते समय वे एक आत्मगोपन की लीला में प्रवृत्त होते हैं। आत्मगोपन की विविध अभिव्यक्तियाँ ही ब्रह्माण्ड के विविध लोक हैं। हमारा यह मर्त्यलोक उन लोकों के मध्य में स्थित है और उन सब लोकों में प्रवेश पाने का एकमात्र द्वार भी है। मर्त्यलोक से ऊपर जो लोक हैं, उनमें सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होती जाती है। ऊर्ध्वतम लोक अर्थात् सतलोक में वे सच्चिदानन्द पूर्णरूपेण अभिव्यक्त हैं, अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हैं। इसी प्रकार मर्त्यलोक से नीचे के लोकों में सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर निकृष्टतर होती जाती है। निम्नतम लोक अर्थात् अन्धलोक में सच्चिदानन्द अपने आप को पूर्णतया छुपा लेते हैं। यह हुआ भारतीय तत्त्वशास्त्र विहित लोक-संस्थान का सिद्धान्त।

भारतीय युग-परिवर्तन का सिद्धान्त इस लोक-संस्थान के सिद्धान्त के साथ संयुक्त है। लोक-संस्थान के सिद्धान्त के अनुसार हमारा यह मर्त्यलोक अन्य सब लोकों का प्रवेश-द्वार ही नहीं, अपितु उन सब लोकों की लीलास्थली भी है। ऊपर के लोक नीचे उतर कर मर्त्यलोक में अभिव्यक्त होते हैं, और नीचे के लोक ऊपर उठकर। अन्य लोकों का मर्त्यलोक में उतरना-चढ़ना ही युग-परिवर्तन का प्रवर्तक है। जिस समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊर्ध्वतम अर्थात् सतलोक मर्त्यलोक में अवतीर्ण हुआ होता है, उस समय को मर्त्यलोक का सतयुग कहा जाता है। जिस समय निम्नतम अर्थात् अन्धलोक मर्त्यलोक में उठ आता है, उस समय को मर्त्यलोक का कलियुग कहा जाता है। सतयुग की पराकाष्ठा होती है उस समय जब कि सतलोक के धर्म मर्त्यलोक में पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो जाते हैं। तदनन्तर सतलोक प्रत्यावर्तन करने लगता है और निम्नतमलोक अपने धर्मों को मर्त्यलोक की ओर उठाने लगता है। जिस समय अन्धलोक के धर्मों की अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से मर्त्यलोक में हो जाती है उस समय कलियुग की पराकाष्ठा प्राप्त होती है। तदनन्तर अन्धलोक प्रत्यावर्तन करने लगता है। इसी प्रकार बारम्बार यह चक्र अनादि काल से चल रहा है, और अनन्तकाल तक चलेगा। बीच-बीच में संवर्त-विवर्त होते रहते हैं। किन्तु प्रत्येक सृष्टि के कालक्रम में यह चक्र इसी प्रकार चलता रहता है।

युग-परिवर्तन के प्रसंग में कालक्रम का यह आभास केवल मर्त्यलोक को मानदण्ड मान लेने के कारण ही होता है। अन्यथा सतयुग भी नित्य है और कलियुग भी। इसी प्रकार त्रेता तथा द्वापर भी नित्य हैं। कारण, ब्रह्माण्ड के एक-न-एक लोक में प्रत्येक युग के धर्मों की निर्द्वन्द्व स्थिति निरन्तर है। सतलोक में सतयुग सदा वर्तमान रहता है। इसी प्रकार अन्धलोक में भी कलियुग सदा वर्तमान रहता है। दूसरे शब्दों में, मर्त्यलोक में जिस समय सतयुग नहीं रहता, तब भी ब्रह्माण्ड के एक अन्य लोक में तो वह होता ही है। इसी प्रकार मर्त्यलोक में जब कलियुग नहीं रहता तब भी ब्रह्माण्ड के एक अन्य लोक में तो वह होता ही है। कालक्रम में किसी भी युग का क्षय नहीं होता, केवल मर्त्यलोक में से विलोप होता है। युग-परिवर्तन के सिद्धान्त का यह रहस्य भली-भाँति हृदयंगम हो जाना चाहिए।

कारण, इस रहस्य के साथ एक अन्य रहस्य संयुक्त है। उस रहस्य के अनुसार कलियुग में जन्म लेने वाले मानवप्राणी के लिए सतयुग का और सतयुग में जन्म लेने वाले मानवप्राणी के लिए कलियुग का साक्षात्कार तथा उपभोग सर्वथा सम्भव है। वह रहस्य है—

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

अर्थात् पिण्ड में जो कुछ है, वही ब्रह्माण्ड में है। अथवा, दूसरे शब्दों में, ब्रह्माण्ड का सर्वस्व पिण्ड में प्रतिबिम्बित अथवा समाविष्ट है। पिण्ड की व्याख्या मानसशास्त्र द्वारा होती है। भारत का प्रकृत मानसशास्त्र योगशास्त्र है। अतएव हम योगशास्त्र का संक्षिप्त परिचय देकर इतिहास की समीक्षा के साथ मानसशास्त्र का सम्बन्ध स्पष्ट करेंगे।

योग मानता है कि ब्रह्माण्ड में जितने लोक हैं, उतनी ही भूमियाँ मनुष्य के चित्त में विद्यमान हैं। वस्तुतः मनुष्य के चित्त की कोई भी अवस्था अपने आप में कुछ नहीं। वह अवस्था ब्रह्माण्ड के किसी न किसी लोक के पिण्ड में होने वाली अभिव्यक्ति का ही एक अन्य नाम है। अतएव ब्रह्माण्ड के किसी भी लोक से सम्पर्क स्थापित करने के लिए, उस लोक में प्रवेश पाने के लिए, उस लोक के धर्मों तथा शक्तियों को मर्त्यलोक के जीवन में उतारने के लिए, इतना भर आवश्यक है कि मानव-प्राणी अपने चित्त की तदनुकूल भूमि में स्थित हो जाये। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार हमारा यह मर्त्यलोक ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों का प्रवेशद्वार तथा लीलास्थल है, उसी प्रकार हमारा यह मानव-चित चित्त की समस्त भूमियों का प्रवेशद्वार तथा लीलास्थल है। और चित्त की विभिन्न भूमियों के माध्यम से ही ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोक पिण्ड में व्यक्त होते हैं। अतएव पिण्ड की मर्त्यचेतना ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों का प्रवेशद्वार तथा उनकी लीलास्थली भी है।

पिण्ड की सर्वसाधारण चेतना में केवल मर्त्यलोक के ही धर्म अभिव्यक्त होते हैं। किसी किसी पिण्ड की चेतना इस भूमि से नीचे गिर जाती है। तब उसमें निम्नस्थ लोकों के धर्म अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु साधना के द्वारा कोई भी पिण्ड अपनी चेतना को शुद्ध करके ऊर्ध्वायमान कर सकता है। तब उसकी चेतना में उत्तरोत्तर ऊपर के लोकों के धर्म अभिव्यक्त होते हैं। ऊर्ध्वायण की इस प्रक्रिया को इतना आगे ले जाया जा सकता है कि पिण्ड की चेतना सतलोक का स्पर्श करले, सतलोक के साथ एकीभूत हो जाए, सतलोक के समस्त धर्मों को पिण्ड के जीवन में व्यक्त कर दे। नीचे के लोकों की ओर अधःपतन की प्रक्रिया भी इसी प्रकार है। पिण्ड की चेतना पतित होते-होते अन्धलोक का स्पर्श कर लेती है, अन्धलोक के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ एकीभूत हो जाती है, और अन्धलोक के धर्मों को अभिव्यक्त करने लगती है। सतलोक के धर्म हैं सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह इत्यादि। अन्धलोक के धर्म हैं अनृत, हिंसा, परिग्रह इत्यादि।

पिण्ड की मर्त्यचेतना में वर्तमान धर्मों को देखकर पिण्ड को सत्पुरुष अथवा असत्पुरुष इत्यादि की संज्ञा दी जाती है। उसी प्रकार ब्रह्माण्ड के मर्त्यलोक में वर्तमान धर्मों को देखकर मर्त्यलोक को सतयुग अथवा कलियुग इत्यादि की संज्ञा दी जाती है। जिस समय मर्त्यलोक के अधिकांश पिण्डों की चेतना में सतयुग के धर्मों का उदय होता है, उस समय मर्त्यलोक में सतयुग माना जाता है। और जिस समय मर्त्यलोक के अधिकांश पिण्डों की चेतना में कलियुग के धर्मों का प्रसार होता है, उस समय मर्त्यलोक में कलियुग का उदय समझा जाता है। प्रसार के इस परिमाण में ही युग का मानदण्ड निहित है। यह नहीं कहा जा सकता कि कलियुग में किसी भी पिण्ड का सतलोक में ऊर्ध्वगमन असम्भव है, अथवा सतयुग में किसी भी पिण्ड का अन्धलोक में अधःपतन नहीं हो सकता। कारण, ब्रह्माण्ड के लोकों के समान पिण्ड के चित्त की प्रत्येक भूमि भी नित्य है। जिस समय पिण्ड की मर्त्य-चेतना में से चित्त की किसी भूमि का क्षय होता है, उस समय वह भूमि विलुप्त नहीं हो जाती। उसका केवल प्रत्यावर्तन ही होता है। उसी प्रकार जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के लोकों का मर्त्यलोक में से प्रत्यावर्तन होता रहता है।

इस प्रकार भारतीय तत्त्वशास्त्र तथा मानसशास्त्र की रूपरेखा हमने प्रस्तुत कर दी। इतिहास की भारतीय समीक्षा इन्हीं सिद्धान्तों में से निष्पन्न होती है। इस स्थल पर इतना स्पष्टीकरण कर देना वाञ्छनीय होगा कि भारतीय तत्त्वशास्त्र तथा मानसशास्त्र के ये सिद्धान्त अन्यान्य तत्त्वशास्त्रों तथा मानसशास्त्रों के समान केवल तार्किक बुद्धि की व्यूहरचनाएँ नहीं हैं। इन शास्त्रों की स्थापना भारत के ऋषियों तथा मुनियों के द्वारा किए गए साक्षात्कार के आधार पर हुई है, और उन महापुरुषों द्वारा बतलाए हुए साधना के पथ का अवलम्बन लेकर कोई भी मनुष्य इन शास्त्रों के सत्य का साक्षात्कार स्वयं कर सकता है। इसीलिए इन शास्त्रों को सनातन माना गया है। और इनके आधार पर की गई समीक्षा ही इतिहास की सनातन समीक्षा है।

इतिहास की सनातन समीक्षा भारतवर्ष के वैदिक साहित्य में सर्वत्र मिलती है। रामायण, महाभारत तथा अष्टदश पुराणों में जो इतिहास पाया जाता है, वह इसी समीक्षा से ओतप्रोत है। मनु इत्यादि स्मृतिकार इसी समीक्षा का आश्रय लेकर वर्णाश्रम-धर्म तथा अन्यान्य धर्मों की स्थापना करते हैं। इस समीक्षा को समझे बिना भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के मर्म का स्पर्श कर पाना सर्वथा दुष्कर है। भारतवर्ष की ही क्या, किसी भी देश की और किसी भी युग की सभ्यता-संस्कृति का मर्म इस समीक्षा की सहायता के बिना समझ में नहीं आ सकता। आज के युग में भारतवर्ष तथा अन्यान्य देशों के इतिहास की जो दुर्गति देखी जा रही है, उसका एकमात्र कारण यही है कि मनीषि-मण्डल में इस समीक्षा का तिरस्कार किया जा रहा है तथा अन्यान्य मनगढ़न्त समीक्षाओं का आश्रय लिया जा रहा है। इसीलिए इतिहास के स्वर्णयुगों को बर्बरता के युग तथा बर्बरता के इस युग को स्वर्णयुग कहने की भूल की जा रही है।

अब हम सनातन समीक्षा का सार पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करेंगे। तदनन्तर उस समीक्षा के आधार पर मानव जाति के अतीत तथा अनागत का सिंहावलोकन किया जायगा। इस सिंहावलोकन की क्रिया में आधुनिक पाश्चात्य तथा अन्यान्य सभ्यता-संस्कृतियों का उल्लेख अनिवार्य है। इस प्रकार इतिहास की सनातन समीक्षा द्वारा वस्तुतः सभ्यता-संस्कृति का मानदण्ड हमारे सामने आयेगा।

इतिहास की सनातन समीक्षा का प्रथम आधार है काल की महिमा। सनातन समीक्षा में अन्यान्य समीक्षाओं के समान काल को एक निष्क्रिय परिवेष्टन मात्र नहीं माना गया। काल सच्चिदानन्द की ही शक्ति है जो ब्रह्माण्ड के पसारे को प्रवर्तित करती रहती है। वह शक्ति सर्वथा सक्रिय है। इस सक्रियता का निरूपण महाभारतकार ने इस प्रकार किया है :—

कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे।
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः॥
कालो हि कुरुते भावान् सर्वलोके शुभाशुभान्।
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः॥
अतीतानागता भावाः ये च वर्तन्ते साम्प्रतम्।
तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि॥

अर्थात् "इस संसार में जो भी भाव तथा अभाव और सुख तथा दुःख है, उस सब का मूल काल है। काल ही प्राणियों का सृजन करता है, काल ही उनका संहार। संहार की क्रिया संचालित होने पर काल ही उसका शमन करता है। काल ही समस्त लोकों में शुभ तथा अशुभ इत्यादि समस्त भावों का कर्त्ता है। काल प्रजा की प्रलय करता है, और फिर उसकी सृष्टि भी। जिस समय अन्य सब कुछ सुप्त होता है, उस समय काल जागता रहता है। काल का अतिक्रमण संभव नहीं। काल समस्त प्राणियों में एकभाव से एकसमान विचरण करता है। अतीत, अनागत तथा वर्तमान—जो भी भाव हैं, उन सबको काल द्वारा निर्मित समझो, और मोह में मत पड़ो।"

यह काल क्या है? इस प्रश्न का उत्तर मानवीय भाषा में नहीं दिया जा सकता। कारण, सच्चिदानन्द के समान काल का स्वरूप भी अचिन्तनीय तथा अनिर्वचनीय है। किन्तु, काल की क्रिया का साक्षात्कार किया जा सकता है। ऐसे एक साक्षात्कार का वर्णन भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में मिलता है, जहाँ विराट्रूपधारी भगवान्, अर्जुन द्वारा उनका परिचय पूछे जाने पर, कहते हैं—कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो। ऐसे ही वर्णन भारत के प्राचीन साहित्य में अन्यत्र भी उपलब्ध होते हैं। उन वर्णनों को हृदयंगम करके ही कोई समझ सकता है कि इतिहास के काल का परिमाण कितना अनन्त है, और आधुनिक इतिहासकारों की काल-गणना कितनी संकीर्ण तथा क्षुद्र है।

सनातन काल-गणना का संकेत श्रीमद् भगवद्गीता में इस प्रकार दिया गया है:—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

अर्थात् "जो लोग ब्रह्मा के सहस्रयुगी दिन को तथा उनकी सहस्रयुगी रात को जानते हैं, वे ही रात और दिन के काल-परिमाण को जानने वाले हैं। ब्रह्मा के दिन का आगमन होने पर यह समस्त सृष्टि अव्यक्त में से व्यक्त होती है, और ब्रह्मा की रात का आगमन होने पर यह समस्त सृष्टि उसी अव्यक्त में विलीयमान हो जाती है। इस प्रकार ये समस्त भूत बार-बार जन्म लेकर क्षय को प्राप्त होते हैं। ये रात के आगमन पर विलीयमान होते हैं, और दिन के आगमन पर फिर उदय हो जाते हैं।"

अतएव काल के परिमाण को समझने के लिए ब्रह्मा के दिन-रात का परिमाण समझना होगा। इस समस्त काल गणना का आधार इस मर्त्यलोक का मानवीय अहोरात्र है। मनुष्य का एक दिन और उस की एक रात को एक अहोरात्र माना गया है। ऐसे पन्द्रह अहोरात्र में पितरों का एक दिन, और पन्द्रह अहोरात्र में पितरों की एक रात होती है। अर्थात् मनुष्य का एक मास पितरों के एक अहोरात्र के समान है, जिस में का शुक्लपक्ष पितरों का दिन है तथा कृष्णपक्ष पितरों की रात। पितरों के छः अहोरात्र में देवताओं का एक दिन तथा छः अहोरात्र में देवताओं की एक रात होती है। अर्थात् मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं के एक अहोरात्र के बराबर है। उत्तरायण के छः मास देवताओं के दिन के बराबर है, और दक्षिणायन के छः मास उन की रात के बराबर। तदनन्तर समस्त काल गणना देवताओं के वर्षों के रूप में होती है। देवताओं का एक वर्ष मनुष्यों के तीन-सौ साठ वर्ष के बराबर है।

देवताओं के बारह हजार वर्ष बीतने पर एक चतुर्युग बीतता है। उस चतुर्युग में सतयुग देवताओं के ४८०० वर्ष के बराबर, त्रेता ३६०० वर्ष के बराबर, द्वापर २४०० वर्ष के बराबर, तथा कलियुग १२०० वर्ष के बराबर होता है। इस प्रकार के इकहत्तर चतुर्युग मिला कर एक मन्वन्तर की काल-गणना की जाती है। और चौदह मन्वन्तर अर्थात् ९९४ चतुर्युग तथा युगसन्धियों के काल-प्रसार के ६ युग अर्थात् एक हजार चतुर्युग मिला कर ब्रह्मा के एक दिन के बराबर हैं। ब्रह्मा की रात्रि भी उसी परिमाण की होती है। ब्रह्मा के इस अहोरात्र को कल्प

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं।

सनातन काल-गणना का प्रसार इसके परे भी है। तीन-सौ साठ कल्प मिला कर ब्रह्मा का एक वर्ष होता है। प्रत्येक ब्रह्मा की आयु इस प्रकार के सौ वर्ष के बराबर होती है। और यह काल-परिमाण विष्णु के एक दिन के समान है। विष्णु की एक रात्रि के काल का परिमाण भी इतना ही है। विष्णु के दिन का आगमन होने पर ब्रह्मा का जन्म होता है, और उनके दिन के अवसान पर अर्थात् उनकी रात्रि के आगमन पर ब्रह्मा का मरण। और इसका कोई हिसाब नहीं कि भूतकाल में कितने ब्रह्मा हो चुके तथा भविष्य में कितने और ब्रह्मा होंगे। इस प्रकार काल के प्रवाह का ओर-छोर अग्राह्य है।

काल के इस अनादि-अनन्त प्रवाह में न जाने कितने ब्रह्माण्ड बने हैं और बिगड़े हैं, न जाने कितने मर्त्यलोक मूर्त हुए हैं और मिटे हैं, न जाने कितनी पृथिवियों का प्रादुर्भाव तथा विलोप हुआ है, न जाने कितनी जातियों की जीत और हार हुई है, न जाने कितने राष्ट्रों की रण-हुंकार तथा रुदनध्वनि सुनी गई है, और न जाने कितनी सभ्यता-संस्कृतियों का उदय तथा अस्त हुआ है। वर्तमान ब्रह्मा की आयु के ही पचास वर्ष बीत गए। इनमें से प्रत्येक वर्ष में तीन-सौ साठ बार ब्रह्माण्ड बने और बिगड़े हैं। वर्तमान ब्रह्मा का जो इक्यावनवाँ वर्ष इस समय चल रहा है उस के वर्तमान अहोरात्र में भी छः मन्वन्तर बीत चुके हैं। प्रत्येक मन्वन्तर के अन्त में हमारी इस प्रस्तुत पृथिवी ने आप्लावन इत्यादि के जो अघात सहे हैं, उन के परिणामस्वरूप इसके ऊपर बने हुए द्वीपों, महाद्वीपों, नदियों, पर्वतों, सागरों और वनों के रंग-रूप और आकार-प्रकार न जाने क्या से क्या हो गए हैं। अतएव पृथिवी के प्रस्तुत अथवा लाख-दो-लाख पुराने विन्यास का आश्रय ले कर तथा यत्र-तत्र प्राप्य कुछ-एक ध्वंसावशेषों का खनन करके इतिहास के काल का निर्णय कर डालना सागर के समीप कुँआ खोदने के समान है।

इतिहास की सनातन समीक्षा कम से कम एक कल्प के कालमान को आधार बना कर ही की जा सकती है। उस कल्प के आवर्त में ब्रह्माण्ड के इस मर्त्यलोक में ही नहीं, अन्यान्य लोकों में भी बहुत-कुछ उथल-पुथल तथा हेर-फेर होती रही है। उस सब उथल-पुथल तथा हेर-फेर का घात-प्रतिघात इस मर्त्यलोक पर भी प्रतिपल होता रहा है। अतएव इस मर्त्यलोक की कोई भी घटना स्वतःसम्पूर्ण नहीं। किसी भी घटना को ब्रह्माण्ड के सारे घटना-क्रम को समझे बिना सम्यक् प्रकार से नहीं समझा जा सकता।

इतिहास के घटनाक्रम में जो कार्य कारण-सम्बन्ध बैठाने की जो पद्धति प्रयोजनीय है,उस का प्रसार इस मर्त्यलोक में मूर्त कार्य-कारण-सम्बन्ध तक ही क्यों किया जाए? उसका प्रसार ब्रह्माण्ड के ओर-छोर तक होना चाहिए। कारण, ब्रह्माण्ड के किसी भी कक्ष अथवा कोने में जो कुछ होता है, वह ब्रह्माण्ड के समस्त कक्षों तथा कोनों में होने वाली क्रिया-प्रक्रियाओं का परिणाम तथा कारण है। अतएव मानव-जाति के दस-पाँच हजार वर्ष के घटनाक्रम को स्वतःसम्पूर्ण मान कर उसी के पौर्वापर्य के बीच कार्य-कारण-सम्बन्ध बैठाना, भुवनभास्कर के प्रचण्ड प्रकाश में तैलप्रदीप जलाने के समान है। उस प्रदीप के प्रकाश में कुछ भी दिखलाई नहीं दे सकता।

इतिहास की सनातन समीक्षा का दूसरा आधार है ब्रह्माण्ड के लोक-प्रसार का, काल के आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन में, मर्त्यलोक के माध्यम से मूर्त होना। मूर्त होने की इस क्रिया में एक चक्र की गति उपलब्ध होती है। आज की इतिहास-सम्बन्धी समीक्षाएँ काल की इस चक्र-गति को स्वीकार न कर के उसकी एक सीधी प्रगति को ही स्वीकार करती हैं। किन्तु यह उनकी भूल है। उन समीक्षाओं द्वारा यह भूल इसीलिए होती है कि उनकी दृष्टि काल-प्रसार के एक पर्व-मात्र पर निविष्ट है। उस पर्व में परिवर्तन की जो शृंखला प्रकट होती है, उसी को परिवर्तन की एकमात्र परिधि मान कर वे समीक्षाएँ प्रगति की एक परिभाषा कर डालती हैं। फिर उस परिभाषा के आधार पर उस पर्व के घटनाक्रम का मूल्यांकन किया जाता है। युग-परिवर्तन के प्रकृत सिद्धान्त की कषपट्टिका पर कसा जा कर यह घटनाक्रम प्रगति का परिचायक भी हो सकता है, तथा अधोगति का भी। इस प्रसंग में लक्षणीय यह है कि युग-परिवर्तन की दिशा किस ओर से किस ओर है। यदि वह दिशा सतयुग से कलियुग की ओर है तो वह घटनाक्रम अधोगति का परिचायक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और यदि वह दिशा कलियुग से सतयुग की ओर है तो वह घटनाक्रम प्रगति का परिचायक है।

आजकल जो राष्ट्र तथा जातियाँ इस धरा पर विद्यमान हैं अथवा पुरातत्त्व की सहायता से जिन राष्ट्रों तथा जातियों का इतिहास संग्रहीत हुआ है, उन सबकी पुरातन परम्परा ऐसे युगों की कहानियाँ कहती है जिनमें सत्त्व की दृष्टि से मनुष्य आज की तुलना में बहुत बढ़ा-चढ़ा था। भारतवर्ष की रामायण, महाभारत तथा अन्यान्य पुराण-कथाएँ, ग्रीस की ईलियड तथा औडेसी, ईरान का शाहनामा, मिस्र के शिलालेख, फिलिस्तीन की पुरानी बाईबल उन सत्त्वशील युगों की स्मारक हैं। किन्तु आज का इतिहासकार इन पुरातन ग्रन्थों तथा शिलालेखों में वर्णित महापुरुषों के महान कर्म-कलाप को कथाकारों की कपोल-कल्पना अथवा कवि की अतिशयोक्ति कहकर उड़ा देता है। साथ ही वह उस कर्म-कलाप को आज के कर्म-कलाप की कषपट्टिका पर कसकर खरा-खोटा भी ठहराता है। किन्तु यह समस्त क्रिया उस इतिहासकार के अज्ञान तथा आज की सभ्यता के अहंकार की ही सूचक है।

व्यक्तिगत मानवप्राणी के मानदण्डों का मनन करने से साधारणतया यह सूचित होता है कि जिस विचार अथवा आचार को वह अपने लिए शक्य अथवा शोभन मानता है, उसी विचार अथवा आचार को प्रत्येक अन्य मानव-प्राणी के लिए भी शक्य अथवा शोभन समझता है। सभ्यता के विषय में भी मानदण्ड की यही मनोवृत्ति मननीय है। कोई भी सभ्यता अपने लिए जिस विचार अथवा आचार को शक्य अथवा शोभन मानती है, उसी आचार अथवा विचार को वह प्रत्येक अन्य सभ्यता के लिए भी शक्य अथवा शोभन समझती है। किन्तु गहन दृष्टि से देखने पर मानदण्ड की यह प्रणाली सर्वथा असम्यक् है। मानदण्ड वही माना जाना चाहिए जो उच्चतर को नीचतर की और बृहत्तर को संकीर्णतर की तुला पर न तोल कर, उच्चतर को उच्चतर और बृहत्तर को बृहत्तर के रूप में ही स्वीकार कर ले।

इस दृष्टि से देखने पर वर्तमान युग की समस्त उपलब्धियाँ इसके समीपस्थ पूर्ववर्ती युगों की तुलना में नीचतर तथा संकीर्णतर सिद्ध होती हैं। अतएव यह मान लेने में हम को किसी बाधा का बोध नहीं होना चाहिए कि आज का युग उन पुरातन युगों की तुलना में अधोगति का ही परिचायक है। इसीलिए इतिहास की सनातन समीक्षा में इस युग को कलियुग कहकर पुकारा गया है। इस कलियुग का आरम्भ अभी पाँच हजार वर्ष पूर्व हुआ था। काल की इस अवधि को ही मानव-जाति के इतिहास का सर्वस्व मान लेने के कारण आज का इतिहासकार वे भयानक भूलें करता है जिनका संकेत हम इसके पूर्व कर चुके हैं। इस अवधि में जो युगधर्म आविर्भूत हुए हैं। वे उत्तरोत्तर घनीभूत होते जा रहे हैं, और जिस समय ने अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होंगे उसी समय इस युग का क्षय आरम्भ होगा तथा एक नई चतुर्युगी के सतयुग का सूत्रपात होगा। मानव-जाति के अधुना उपलब्ध इतिहास को इसी तुला पर तोल कर उसकी समीक्षा करना सम्यक् होगा। आज के युग को प्रगति की पराकाष्ठा मान कर पुरातन युगों को प्रागैतिहासिक पर्वों की कपोल-कल्पना कहना ठीक नहीं।

इस स्थल पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि इतिहास की गति चक्राकार क्यों हैं, सतयुग के उपरान्त कलियुग क्यों आता है, और कलियुग फिर सतयुग का जन्मदाता किस प्रकार बन जाता है। इतिहास की समीक्षा के प्रसंग में यह प्रश्न सम्भवतः सर्वथा समीचीन नहीं। यह प्रश्न वस्तुतः तत्त्वशास्त्र के क्षेत्र का है, जहाँ विश्वव्यापार की एक व्याख्या इसका समाधान प्रस्तुत करती है। तत्त्वशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश करने का यहाँ प्रयोजन नहीं। भारतीय तत्त्वशास्त्र के लोक-संस्थान-सम्बन्धी सिद्धान्त से युग-परिवर्तन के इस सिद्धान्त का जो कुछ सम्बन्ध है, वह हम इसके पूर्व ही समझा चुके। भारतीय मानसशास्त्र के साथ भी युग-सिद्धान्त के सम्बन्ध का साधारण वर्णन हम कर चुके। वे सच्चिदानन्द ब्रह्म एक लोक तथा एक युग में क्यों पूर्णतया अभिव्यक्त होते हैं और दूसरे लोक तथा दूसरे युग में क्यों अपना आत्मगोपन करते हैं—इन प्रश्नों का उत्तर वेदान्त की विविध व्याख्याओं में विविध प्रकार से दिया गया है। उनमें जो भी व्याख्या जिसको जँचे, वह उस व्याख्या को स्वीकार कर ले। किन्तु इतिहास की चक्रगति के विषय में भारत के वैदिक तथा अवैदिक, सभी मत-मतान्तर सहमत हैं। और हमने केवल उस चक्रगति का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही इंगित यहाँ किया है। अस्तु।

इतिहास की सनातन समीक्षा का तीसरा आधार है अध्यात्मवाद जो सब प्रकार के अधिभूतवाद अर्थात् जड़-वाद का निषेध करता है और सब प्रकार के अधिदैवतवाद को अपने भीतर समाविष्ट कर लेता है। अध्यात्मवाद के अनुसार बाह्य संसार की प्रत्येक अभिव्यक्ति अन्तर के किसी स्पन्दन का परिणाम है। जड़वाद मानता है कि बाह्य परिस्थितियाँ ही अन्तर में प्रतिबिम्बित होकर विचार, भावना, विश्वास, आदर्श इत्यादि बन जाती हैं। फिर अन्तर की इन प्रतिच्छायाओं का बाह्य परिस्थितियों के साथ घात-प्रतिघात होता है, और काल-क्रम में सभ्यता-संस्कृति का सकल जटिल जंजाल बनता चला जाता है। किन्तु अध्यात्मवाद मानता है कि सर्वप्रथम अन्तर में एक युग-श्रद्धा का आविर्भाव होता है और काल-क्रम में वह युग-श्रद्धा ही स्थूल रूप धारण करके बाहर के संसार में अभिव्यक्त हो जाती है। इस प्रकार सभ्यता-संस्कृति का समस्त पसारा प्रत्येक युग में एक युग-श्रद्धा का आश्रय ले-कर खड़ा रहता है। यदि वह युग-श्रद्धा बदल जाए तो उस सभ्यता-संस्कृति का वह आश्रय छिन जाता है और वह धरासात् होने लगती है। सतयुग की एक युग-श्रद्धा होती है। अतएव सतयुग का विचार, आचार, अनुष्ठान, राज-समाज-व्यवस्था, शिल्प और शास्त्र ये सब उस युग-श्रद्धा के अनुकूल रूप धारण कर लेते है। कलियुग की युग-श्रद्धा कुछ और होती है। अतएव कलियुग की सभ्यता-संस्कृति का ताना-बाना कुछ और होता है।

युग-श्रद्धा का मर्म क्या है? यह कैसे जाना जाए कि किस युग की युग-श्रद्धा क्या है? इस प्रश्न का उत्तर सनातन समीक्षा अत्यन्त सम्यक् और सुगम प्रकार से देती है। यदि किसी युग की युगश्रद्धा समझनी हो तो केवल यह देख लेना चाहिये कि उस युग में मानव की मीमांसा किस प्रकार की जा रही है। कलियुग में मानव की मीमांसा साधारणतया यह की जाती है कि वह आहार, निद्रा, भय और मैथुन के वशीभूत एक विशेष प्रकार का पशु-मात्र है जो अपनी बुद्धि का प्रयोग इन प्रवृत्तियों की परितृप्ति अथवा परिस्कृति के लिए करता है। साधारण पशु में यह बौद्धिक क्षमता नहीं होती। मनुष्य में यह क्षमता विद्यमान है। किन्तु इस क्षमता का अर्थ इसके अतिरिक्त कुछ नहीं करना चाहिये कि यह प्राकृत मानस की प्रवृत्तियों की उपकरण मात्र है। इस क्षमता को ज्ञान इत्यादि का उपकरण मानना भावविलास और भूल है। सतयुग की मानव-मीमांसा मनुष्य को साक्षात् सच्चिदानन्द की प्रतिमूर्ति मानती है। अतएव सत्, चिद् तथा आनन्द में अवस्थित होना ही मनुष्य का अधिकार है, पाशव प्रवृत्तियों की परितृप्ति अथवा परिस्कृति नहीं। इस मीमांसा के अनुसार मनुष्य की बुद्धि का प्रकृत प्रयोग यही हो सकता है कि वह मनुष्य के बहिर्मुख मानस को अन्तर्मुख करके उसे उस के सच्चे स्वरूप की ओर ले जाए। बुद्धि वास्तव में पूर्ण चित् का क्षीण प्रकाश है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि कलियुग तथा सतयुग की मानव-मीमांसाओं में कैसा आकाश-पाताल का अन्तर है। यही अन्तर उन दोनों युगों की युगश्रद्धाओं का मानदण्ड भी है।

यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि मानव-मीमांसा वस्तुतः ब्रह्माण्ड-मीमांसा का ही पर्याय है। मानव पिण्ड है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। जो मानव-मीमांसा मानती है कि मनुष्य में पशुता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, वह यह भी नहीं मानती है कि ब्रह्माण्ड का पसारा केवल पशुता को ही प्रश्रय देता है। इसके विपरीत जो मानव-मीमांसा यह मानती है कि मनुष्य सच्चिदानन्द की ही प्रतिमूर्ति है वह यह भी मानती है कि सारा ब्रह्माण्ड ही सच्चिदानन्द द्वारा व्याप्त है। अतएव किसी युग की युग-श्रद्धा को समझने के लिए चाहे उस युग की मानव-मीमांसा का पल्ला पकड़ लीजिए, चाहे उस युग की ब्रह्माण्ड-मीमांसा का, निष्कर्ष एक ही प्रकार का निकलेगा।

इतिहास की सनातन समीक्षा के विषय में और अधिक विस्तार करना इस लेख के अन्तर्गत सम्भव नहीं है। अत-एव हम इतिहास की समीक्षा का तात्पर्य-निवेदन करके इस लेख को समाप्त करते हैं। इस प्रकार की समीक्षा केवल बुद्धि का विनोद नहीं है। हमारे दैनन्दिन जीवन पर इस समीक्षा का गहरा प्रभाव पड़ता है।

किसी भी देश में, किसी भी युग के राजनीतिक मत-मतान्तर उस देश के इतिहास की विविध समीक्षाओं के साथ संयुक्त होते हैं। अतएव उस देश का मनीषी-मण्डल जब-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब राजनीति की चर्चा करता है तब-तब वह, अनिवार्यतः, इतिहास की चर्चा पर उतर आता है। और देखा जाता है कि एक ही देश के इतिहास की एक ही तथ्यमाला विविध मनीषियों के मन में विविध समीक्षाओं की धारा प्रवाहित कर रही है।

इसी प्रकार उस देश की अध्यात्म-परम्परा, उसका तत्त्वशास्त्र, साहित्य, शिल्प इत्यादि, संक्षेप में, उसकी सारी सभ्यता और संस्कृति विविध प्रकार से व्याख्यायित होते देखे जाते हैं। व्याख्याओं की इस विविधता के गर्भ में भी हमें उस देश के इतिहास की विविध समीक्षाएँ प्राप्त होती हैं। सारांश यह है कि किसी भी देश के इतिहास की एक न एक समीक्षा-विशेष का अवलम्बन लिये बिना उस देश की किसी भी कृति अथवा उपलब्धि की किसी भी व्याख्या-विशेष का प्रतिपादन सम्भव नहीं।

भारतवर्ष में अधुना प्रत्येक प्रसंग पर अनेक मतमतान्तर देखे जाते हैं। हमारे देश का राजनीतिक प्रसंग तो स्पष्टतया विभिन्न दलों के वाद-विवाद का प्रांगण बना हुआ है। ध्यान से देखने पर यह भी तुरन्त ज्ञात हो जाता है कि यह राजनीतिक वादविवाद अपनी प्रतिध्वनि अन्यान्य प्रसंगों में भी प्रतिक्षिप्त कर रहा है। और किसी भी प्रसंग के वाद-विवाद की पृष्ठभूमि का प्रत्यावलोकन करते ही संशय नहीं रह जाता कि प्रत्येक पक्ष भारतीय इतिहास की किसी-न-किसी समीक्षा-विशेष का आश्रय लिए हुए है।

उदाहरणार्थ, भारतीय अध्यात्म-परम्परा को ही ले लीजिए। एक पक्ष है जो बौद्ध, जैन तथा तत्समान अन्यान्य अवैदिक धाराओं को भारतवर्ष की अप्रतिम देन तथा इस देश की सभ्यता-संस्कृति के उत्कर्ष का कारण मानता है। एक विरोधी पक्ष इन अवैदिक धाराओं को भारतवर्ष की अध्यात्म-साधना में एक संकीर्णता का प्रवेश और इस देश की सभ्यता-संस्कृति के पतन का कारण मानता है।

तब तुरन्त ही प्रश्न उपस्थित होता है कि भारतवर्ष की सभ्यता-संस्कृति का उत्कर्ष किसे कहा जाए अथवा, दूसरे शब्दों में, भारतवर्ष के दीर्घकालीन इतिहास के कौन-से पर्व को उत्कर्ष का युग माना जाए। अवैदिक धाराओं का अभिनन्दक निश्चय ही उत्तर देगा कि अशोक का राज्य-काल भारतवर्ष के इतिहास में सबसे उत्कृष्ट युग था। किन्तु इन अवैदिक धाराओं का निन्दक निश्चय ही अशोक के राज्य-काल को भारतवर्ष के पतन का युग बतलाएगा और अपनी दृष्टि के अनुसार हमारे इतिहास के किसी अन्य युग को भारतवर्ष के उत्कर्ष का युग ठहराएगा।

इसी प्रकार भारतीय साहित्य, शिल्प, तत्त्वशास्त्र, समाजशास्त्र, संक्षेप में, भारत की समग्र सभ्यता और संस्कृति के प्रसंग में भी। इन में से किसी भी प्रसंग पर उठने वाले वाद-विवाद के प्रत्येक पक्ष की पृष्ठभूमि इतिहास की एक-न-एक समीक्षा-विशेष द्वारा पोषित प्रतीत होती है। आज भारतवर्ष में जो भी राजनीतिक दल दिखलाई देते हैं, वे सभी भारतीय इतिहास की किसी न किसी समीक्षा-विशेष की दुहाई देते सुने जाते हैं। शासक दल के कर्णधार श्रीजवाहरलाल नेहरू स्वयं इतिहासवेत्ता हैं जिन्होंने अपनी एक पुस्तक में विश्व के इतिहास की तथा एक अन्य पुस्तक में भारत के इतिहास की एक समीक्षा-विशेष प्रस्तुत की है।

भारतवर्ष के इतिहास की जो भी समीक्षाएँ और उन समीक्षाओं पर आश्रित जो भी रूपरेखाएँ अधुना उपलब्ध होती हैं वे पाश्चात्य मनीषियों की दृष्टि से प्रस्तुत की गई हैं और फलस्वरूप सबकी सब जड़वाद की दृष्टि से ओत-प्रोत हैं। और भारतीय इतिहास की प्रचलित समीक्षाओं के आधार पर भारतीय सभ्यता-संस्कृति के विभिन्न प्रसंगों की जो भी व्याख्याएँ आज प्रसार पाए हुए हैं, वे सब भी जड़वाद की मनीषा से विद्ध हैं।

अतएव यदि यह वाञ्छनीय है कि भारतवर्ष की सभ्यता-संस्कृति की विभिन्न प्रसंगों की एक अध्यात्मवादी व्याख्या प्रस्तुत की जाए तो सर्वप्रथम भारतीय इतिहास की एक अध्यात्मवादी समीक्षा तथा उस समीक्षा द्वारा पोषित रूपरेखा प्रयोजनीय है। राजनीति के प्रसंग में तो इस प्रकार का अध्यवसाय नितान्त अपरिहार्य है। कारण, भारतवर्ष की समस्त राजनीति पर दिन-प्रति-दिन जड़वाद की छाया घनीभूत होती जा रही है, और उन दलों का अध्यवसाय, जो भारत के प्राचीन तथा सनातन परम्पराओं के अभ्युथान के लिए प्रयत्नशील हैं, दिन-प्रति-दिन परा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जयोन्मुख होता जा रहा है।

भारतीय इतिहास की जड़वादी समीक्षा के मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं ? वे ही जो किसी भी इतिहास की जड़वादी समीक्षा के होते हैं। उन सिद्धान्तों में प्रथम सिद्धान्त यह है कि कालचक्र के क्रम में प्रगति का भी एक क्रम स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रगति अर्थात् प्रकृति को पराभूत करके मानव-जीवन में स्थूल और इन्द्रिय-सुलभ सौख्य का संग्रह उत्तरोत्तर बढ़ाते जाना। इस न्याय से प्रगति की अभी तक उद्भूत पराकाष्ठा पाश्चात्य देशों में, विशेषकर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में, प्राप्त होती है। अतएव पाश्चात्य देशों की प्रस्तुत सभ्यता-संस्कृति ही समस्त देशों के इतिहास में प्रकट प्रगतिशीलता का एकमात्र मानदण्ड हो सकती है।

इतिहास की इस समीक्षा के अनुसार भारतवर्ष के इतिहास में प्रस्तुत युग ही उसके समस्त अतीत युगों की अपेक्षा उत्कृष्टतम है। ब्रिटिश राज्यकाल का युग इस युग की अपेक्षा हेय था, मुस्लिम राज्यकाल हेयतर। और इसी प्रकार भारतीय इतिहास का प्रत्येक परवर्ती युग उसके पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा उत्कृष्टतर रहा है। बीच-बीच में ऐसे भी युग आए हैं जब प्रगति की यह धारा किसी परदेशीय पराक्रम अथवा किसी स्वदेशीय प्रतिक्रिया का आघात पाकर कुछ काल के लिए अवरुद्ध हो गई है। किन्तु भारतवर्ष के सारे इतिहास को एक विहंगम दृष्टि से देखने पर प्रगति का एक क्रम आज तक सर्वथा सुस्पष्ट है।

यह हुआ जड़वादी समीक्षा का प्रमुख पक्ष। इसका एक गौण पक्ष भी है, जो इसलिए प्रस्तुत हो गया है कि भारतवर्ष कई सौ वर्ष तक परदेशीय साम्राज्यवाद का शिकार भी रह चुका है। भारतवर्ष के उस प्रसंग का अवलम्बन लेकर यह जड़वादी समीक्षा भारतवर्ष की समस्त पुरातन परम्पराओं का पूर्ण प्रत्याख्यान करती है। कारण, उन परम्पराओं का एकमात्र परिणाम यही निकला कि भारतवर्ष परतन्त्र हो गया। यदि भारतवर्ष को प्रगति करने के साथ-साथ परतन्त्रता के पाश से भी अपना परित्राण करना है, तो उसके लिए यह विशेषतया अपरिहार्य है कि वह अपनी समस्त पुरातन परम्पराओं का पूर्ण प्रत्याख्यान करे। किसी अन्य राष्ट्र के लिए, जो कभी परतन्त्र नहीं रहा, उसकी पुरातन परम्पराओं का, उन परम्पराओं के प्राणवान् पर्व में अथवा आज भी, कुछ मूल्य हो सकता है। किन्तु परतन्त्रता के पाप से अभिशप्त भारतवर्ष के लिए तो उसकी किसी भी पुरातन परम्परा का मूल्य न उन परम्पराओं के प्राणवान् पर्व में था, न आज है, और न भविष्य में किसी दिन होगा।

इस समीक्षा के विपरीत भारतवर्ष के इतिहास की अध्यात्मवादी समीक्षा हमें बतलाती है कि इस देश का सनातन स्वधर्म रहा है पूर्ण ब्रह्म की उपासना करके उस परम सत्य को मानवीय जीवन के प्रत्येक प्रसंग में प्रकट करना। भारतवर्ष के वेद-वेदाङ्ग, इतिहास-पुराण तथा धर्मसूत्र और स्मृतियाँ उसी उपासना तथा साधना के साक्षी हैं। मनुष्य का जीवन सत्त्वनिष्ठ हो, चिन्मय हो, आनन्दमय हो—वेद भगवान् का यही आह्वान है। ऐसे शुद्ध जीवन में वैभव भी होता है, ऐश्वर्य भी होता है, पराक्रम भी होता है। उस शुद्ध जीवन की तुलना में इन्द्रिय-ग्राह्य स्थूल सुखों से सम्पन्न जीवन पशु के जीवन के समान है। पाशव जीवन-पद्धति के बाह्य आडम्बर से अभिभूत होने वाला मानस पाशव मानस है। उस मानस की शुद्धि हुए बिना दिव्य जीवन की स्थापना सम्भव नहीं।

अतएव भारतवर्ष के इतिहास के मर्म से अवगत होने के लिए हमें सर्वप्रथम यह समझना होगा कि उसके किस युग में उसकी वह सनातन साधना कितने अंश में चरितार्थ रही है। उस साधना का ह्रास ही भारतवर्ष के ह्रास का कारण है। और उस साधना का उत्कर्ष ही भारतवर्ष को उत्कृष्ट करेगा। भारतवर्ष की सभ्यता-संस्कृति के किसी भी पर्व अथवा पक्ष को किसी भी अन्य मापदण्ड से मूल्यांकित करना महापाप है। और जहाँ तक आज के जड़वादी पाश्चात्य की सभ्यता का सम्बन्ध है, वह तो भारतवर्ष के किसी भी प्रसंग में कभी भी कोई प्रमाण नहीं हो सकती। उस सभ्यता का पूर्ण प्रत्याख्यान करके ही भारतवर्ष अपनी आत्म-विस्मृति को दूर कर सकेगा, और अपने निजत्व की ओर जागरूक होकर अपना प्रकृत आत्मपरिचय दे पाएगा।

भारतवर्ष के इतिहास में परतन्त्रता का अभिशाप इसी लिए अभिव्यक्त हुआ कि यह देश अपनी सनातन साधना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अनेकांश में विस्मृत कर बैठा। जिस समय भारतवर्ष अपनी सनातन साधना में निष्ठ था उस समय भारतवर्ष के समान वैभव-सम्पन्न, शील-सम्पन्न और शक्ति-सम्पन्न देश इस धरा पर दूसरा नहीं था। इस का प्रमाण हमको सारे एशिया में मिलता है, योरप में मिलता है, अमेरिका तथा अफ्रीका में मिलता है। भारत के मनीषी तथा विजेता विश्व के कोने-कोने में गए, भारतवर्ष की अध्यात्म-परम्परा संसार के दिग्दिगन्त में प्रचारित हुई, भारतवर्ष का शिल्प, साहित्य, संगीत तथा शिष्टाचार सब देशों के शिल्प, साहित्य, संगीत और शिष्टाचार का एकमात्र मानदण्ड बना।

अतएव भारतवर्ष की प्रत्येक पुरातन परम्परा केवल अपने प्राणवान् युग में ही नहीं, प्रत्युत आज भी भारतवर्ष के लिए मूल्यवान है। और भारतवर्ष की प्रत्येक पुरातन परम्परा भविष्य में भी हमारे लिए प्रमाण रहेगी। कारण, इस देश की प्रत्येक परम्परा केवल पुरातन ही नहीं, साथ ही साथ सनातन भी है। और जो सनातन है, वह सब युगों में, सब देशों में, सब मनुष्यों के लिए सत्य है। उस परम्परा की अभिव्यक्ति का प्रकार परिवर्तित हो सकता है। किन्तु जब तक उसके अन्तर में प्रवाहित उसके प्राण अक्षुण्ण हैं, तब तक वह सर्वथा अव्याहत है। हमारे लिए उसके उस प्राण-प्रवाह को पकड़ना ही प्रयोजनीय है। दूसरे क्षण भारतवर्ष के सारे इतिहास का तार-तार हमारी पकड़ में आ जाएगा।

भारतवर्ष की जड़वादी व्याख्या के अनुसार भारतवर्ष की अपनी आत्मा जैसा कोई तत्त्व कभी रहा ही नहीं। भारतवर्ष अर्थात् भूगोल का एक भूखण्ड जिस पर अमुक-अमुक पर्वत विद्यमान हैं, अमुक-अमुक नदियाँ बहती हैं, अमुक-अमुक कृषिज तथा खनिज पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इत्यादि। और इस भूखण्ड पर किसी विशेष जाति का कोई विशेष अधिकार नहीं माना जा सकता। जिस भी जाति ने जिस समय भी इस देश को जीत लिया, उसी जाति का उस समय का इतिहास इस देश का इतिहास है। भारतवर्ष में अनेकानेक जातियाँ समय-समय पर बाहर से आईं, और यहाँ बस गईं। नवागत जातियों तथा यहाँ पर पहिले से बसी हुई जातियों के प्रतिद्वन्द्व का इतिहास ही भारतवर्ष का इतिहास है। यहाँ की समस्त सम्यता और संस्कृति विभिन्न जातियों के उस प्रतिद्वन्द्व का ही परिणाम है। अतएव भारतवर्ष की संस्कृति तथा सम्यता का अर्थ है अनेक सभ्यताओं और संस्कृतियों की खिचड़ी।

अध्यात्मवादी समीक्षा इसके विपरीत यह मानती है कि भारतवर्ष वस्तुतः एक आत्मा है जिस ने भूगोल के एक विशिष्ट भूखण्ड को अपना लीला-क्षेत्र बनाकर अपने स्वरूप को एक विशिष्ट सभ्यता-संस्कृति के रूप में व्यक्त किया है। भारतवर्ष की एक विशिष्ट जाति, हिन्दू जाति, उस आत्मा का वहन करती है और उस सभ्यता-संस्कृति की पोषक तथा परित्राता है। उस आत्मा ने, उस सम्यता-संस्कृति ने, उस जाति ने बाहर से आने वाली अनेकानेक अन्य आत्माओं, अन्य सभ्यता संस्कृतियों तथा अन्य जातियों के साथ समागम एवं संघर्ष किया है। बाहर से आने वाले इन तत्त्वों को भारतवर्ष के आत्मभूत तत्त्वों ने आत्मसात् भी किया है, रूपान्तरित भी किया है, और बहिष्कृत भी किया है। इस समस्त घात-प्रतिघात तथा क्रिया-प्रक्रिया का इतिवृत्त भी भारतवर्ष के इतिहास का एक पक्ष है।

भारतवर्ष कुछ-एक शताब्दियों तक परतन्त्र रहा है। इसलिए जड़वादी समीक्षा भारतवर्ष के समस्त इतिहास को बाहर से आने वाले आक्रान्ताओं के इतिहास के रूप में ही देखती है। वह समीक्षा भारतवर्ष की समस्त सभ्यता-संस्कृति को उन आक्रान्ताओं की सभ्यता संस्कृति का प्रतिबिम्ब मानती है। वह समीक्षा इस देश के समस्त साहित्य, शिल्प संगीत तथा तत्त्वशास्त्र इत्यादि में परदेशी साहित्य, शिल्प, संगीत तथा तत्त्वशास्त्र की छाप खोजती रहती है। परदेशी सभ्यता-संस्कृति के इस प्रकार प्रतिबिम्बित होने की प्रक्रिया ही मानो भारतीय सभ्यता-संस्कृति का समूचा इतिहास है।

इस के विपरीत भारतवर्ष के इतिहास की अध्यात्मवादी समीक्षा इस देश की अधिष्ठाता एवं परित्राता जाति के पराक्रम के इतिहास को ही भारतवर्ष का प्रकृत इतिहास मानती है। वह पराक्रम कब, किस दिशा में, क्यों और किस प्रकार प्रस्फुटित हुआ; वह पराक्रम कब, किस दिशा में, क्यों और किस प्रकार पराभूत हुआ—यही है भारतवर्ष के इतिहास का ऐतिह्य। इस ऐतिह्य को ही एकमात्र सूत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझकर भारतवर्ष के इतिहास के समस्त घटनाक्रम को मणिगण के समान इस में पिरो देना ही अध्यात्मवादी व्याख्या के समीप समीचीन है। और पराक्रम के इस प्रस्फुरण तथा पराभव के इतिहास में भारतवर्ष की समस्त सभ्यता-संस्कृति के उत्थान तथा पतन का इतिहास भी समाविष्ट है।

अब रही काल-निर्णय की समस्या। पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा प्रचारित समीक्षाओं में भारतवर्ष के सारे इतिहास का काल-निर्णय प्रथमतया उस जड़वादी समाजशास्त्र के आधार पर होता है जिसके अनुसार मनुष्य समाज कई-एक सहस्र वर्ष पूर्व तक सर्वथा बर्बर था। भारतवर्ष के इतिहास में भी ये इतिहासकार बर्बरता के एक दीर्घकालव्यापी युग की कल्पना करते हैं, और उस युग को प्रागैतिहासिक युग कहकर पुकारते हैं। वैदिक तथा पौराणिक युग भी इस समीक्षा में प्रागैतिहासिक ही माने जाते हैं। भारतवर्ष का इतिहास इस समीक्षा के अनुसार भगवान् बुद्ध के काल से प्रारम्भ होता है। फिर भगवान बुद्ध के काल को किसी सम्वत् की शृंखला में बद्ध करने के लिए यह समीक्षा किसी भारतीय सम्वत्-परम्परा को प्रयोजनीय नहीं मानती। सिकन्दर के आक्रमण को ही भारतवर्ष के इतिहास की प्रमुख तथा प्रथम उल्लेखनीय घटना मानकर यह समीक्षा हमारे सारे इतिहास का काल-निर्णय कर डालती है।

अध्यात्मवादी समीक्षा इस प्रकार के काल-निर्णय को अमान्य ठहराती है। वह नहीं मानती कि भारतवर्ष के इतिहास का कोई युग प्रागैतिहासिक अर्थात् बर्बर रहा है। वह भारतवर्ष के इतिहास के विभिन्न पर्वों को साहित्य के पौर्वापर्य के आधार पर वैदिक, पौराणिक इत्यादि भी नहीं मानती। न ही वह आक्रान्ताओं को प्रमाण मानकर भारतीय इतिहास के किसी पर्व को ग्रीक, मुस्लिम अथवा ब्रिटिश इत्यादि संज्ञाएँ देने के लिए प्रस्तुत है। अध्यात्मवादी व्याख्या महाभारत के युद्ध की, हमारी परम्परा द्वारा सर्वसम्मत, तिथि को ही भारतीय इतिहास के काल-निर्णय का सर्वोत्कृष्ट सूत्र मानती है। और महाभारत के पूर्व तथा उपरान्त जिन साम्राज्यों का उल्लेख हमारे पुराणों में है, उन सबको वह समीक्षा भारतवर्ष के सम्यक् इतिहास में यथोचित स्थान प्रदान करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक अध्यात्मवादी समीक्षा का आश्रय लेते ही भारतवर्ष के इतिहास की वर्णना का सारा आकार-प्रकार ही परिवर्तित हो जाता है। तदनन्तर उस वर्णना से जो प्रेरणा मिलती है, वह जड़वादी वर्णना से प्राप्त प्रेरणा से सर्वथा विपरीत है। उस प्रेरणा के परिणामस्वरूप प्रत्येक प्रस्तुत प्रसंग में प्रतिफलित होने वाले प्रतिद्वन्द्व का रूप भी परिवर्तित हो जाता है।

अतएव इतिहास की समीक्षा की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। जो लोग भारतवर्ष के सनातन धर्म के पक्षपाती हैं तथा अभीप्सा करते हैं कि वह धर्म सारे संसार में फैल जाए, उन को इतिहास की सनातन समीक्षा स्वयं समझनी तथा दूसरों को समझानी चाहिए। इतिहास की सनातन समीक्षा भारतवर्ष की सनातन साधना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

●

अनुपम उपहार

आपके इष्ट मित्रों को आपकी ओर से शाश्वत वाणी का शाश्वत समाज-शास्त्र विशेषांक तथा वर्ष भर के अन्य ११ अंक रहें। वार्षिक शुल्क ५ रुपए मात्र तथा चार पाठकों का शुल्क एक साथ भेजने पर २५ प्र० श० कमीशन, १५) भेज कर आप चार मित्रों को हमारा ग्राहक बना सकते हैं।

सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गुरुदत्त

हिन्दू-संस्कृति अर्थात् वैदिक विचारधारा की श्रेष्ठता—इस दृष्टिकोण को आधार बनाकर राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं अन्य समस्याओं की युक्तियुक्त विवेचना तथा विश्लेषण, साहित्य के माध्यम द्वारा प्रस्तुत करना श्री गुरुदत्त जी की विशेषता है। इस समय तक आपके लगभग ५६ उपन्यास, छोटे-बड़े आकार में प्रकाशित हो चुके हैं तथा आपका प्रत्येक उपन्यास रोचकता में एक दूसरे से बढ़ कर है।

श्री गुरुदत्त की रचनाएँ

प्रगतिशील	२.७५	छलना	६.००	अन्तिम यात्रा	१.००
विक्रमादित्य साहसांक	६.००	अवतरण	६.००	विडम्बना	६.००
प्रवृत्ति	५.७५	सम्भवामि युगे-युगे	८.००	विश्वासघात	६.००
विकार	२.५०	सहस्रबाहु	६.००	बहती रेता	५.००
द्रष्टा	५.००	मेरी पसन्द	२.५०	भावुकता का मूल्य	६.००
गृह-संसद	५.५०	धरती और धन	६.००	विकृत छाया	५.००
विश्वास	२.५०	दासता के नये रूप	६.००	सभ्यता की ओर	३.००
पाणिग्रहण	६.००	पत्रलता	७.००	भाग्य रेखा	३.००
न्यायाधिकरण	७.००	नगर परिमोहन	६.००	दो भद्र पुरुष	३.००
जात न पूछे कोय	२.५०	कला	६.००	स्वाधीनता के पथ पर	६.००
जीवन-ज्वार	७.००	आवरण	५.००	पथिक	६.००
स्नेह का मूल्य	२.५०	लुढ़कते-पत्थर	६.००	स्वराज्यदान	६.००
जन-प्रवाह	८.००	मानव	५.००	उन्मुक्त प्रेम	६.००
पुष्यमित्र	३.७५	गुण्ठन	५.००	प्रवंचना	५.००
संस्खलन	६.००	विलोम गति	६.००	भूल	१.००
सफलता के चरण	५.७५	उमड़ती घटाएँ	६.००	पंकज	१.००
दिग्विजय	६.००	वाम मार्ग	७.००	बीतीबात	१.००
विवेक	६.००	देश की हत्या	५.५०	विद्या-दान	१.००
एक और अनेक	६.००	मायाजाल	५.००	ज़माना बदल गया	९.००

भारती साहित्य सदन ३०/९० कनॉट सरकस, नई दिल्ली-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में शिक्षा

श्री गुरुदत्त

समाज की उन्नति अथवा अवनति उसकी अच्छी और बुरी शिक्षा-पद्धति पर निर्भर है। यों तो शिक्षा, मनुष्य जीवन भर ग्रहण करता रहता है, इस पर भी यह मुख्यतः स्कूलों तथा कौलेज में प्राप्त की जाती है।

स्वराज्य-प्राप्ति के अनन्तर भारत में स्कूल तथा कौलेज धड़ा-धड़ खुल रहे हैं। इन स्कूल-कौलेज के अतिरिक्त प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों के लिए भी शिक्षा के केन्द्र खोले जा रहे हैं। इस प्रकार साक्षरों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। बच्चों के स्कूल कौलेजों के और प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों के अतिरिक्त देश में अन्य अनेकों साधनों, रेडियो, सिनेमा इत्यादि, द्वारा भी शिक्षा का प्रसार हो रहा है।

इस पर भी भारत में मानवता का ह्रास हो रहा है। झूठ, चोरी, ठगी, बेईमानी, रिश्वतखोरी, कानून भंग, हठ, उदण्डता, अनाचार, दुराचार, बलात्कार और अन्य सब प्रकार के दुर्गुणों में वृद्धि हो रही है। अवस्था यहाँ तक पहुँच गई है कि कोई सरकारी महकमा ऐसा नहीं रहा, जहाँ रुपया देकर काम न चल सके, कोई व्यवसाय ऐसा नहीं रहा जिस में कोई अनजान आदमी इस विश्वास से कारोबार कर सके कि वह वहाँ ठगा नहीं जायेगा। भले और सरल-चित्त व्यक्ति आत्मविश्वास खो चुके हैं। वे नहीं जानते कि किस समय उन की जेब कतरी नहीं जायेगी अथवा कब उन का बच्चा पथभ्रष्ट नहीं किया जायेगा। ऐसा कभी भी किया जा सकता है।

नगरों में सिनेमा इत्यादि मनोरंजन के सामान खूब मिलते हैं। शृंगार सामग्री की दुकानों पर भीड़ लगी रहती है। चमक-दमक के कपड़े खूब चलते हैं। परन्तु अच्छी भोजन-सामग्री तथा घी, दूध कम लोग लेते हैं। फल तो विरले ही खा सकते हैं। इनके लिए लोग धन व्यय नहीं कर सकते। जीवन की यह विषमता—आवश्यक-अनावश्यक तथा उपयोगी-अनुपयोगी वस्तुओं में भेद-भाव न कर सकना भारत में व्यापक होती जाती है।

स्कूल, कौलेजों में विद्यार्थी अनियमित, अनियन्त्रित और अनुपकारी जीवन व्यतीत करते हैं। दिन-प्रति-दिन उनका चरित्र, मानसिक विकास, हृदय की उदारता और ज्ञान का स्तर गिरता चला जाता है। पढ़ाई के विषयों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है, परन्तु विद्यार्थी की मानवी शक्तियों में ह्रास होता जा रहा है। जातीय निर्माण में जाति के घटकों को उन्नत करने की आवश्यकता होती है, परन्तु इस देश में निर्माण-योजनाओं से घटक अधिकाधिक पतन की ओर जाते प्रतीत होते हैं।

भारत में दो पञ्चवर्षीय योजनाएँ चल चुकी हैं। तीसरी पञ्चवर्षीय योजना आरम्भ हो रही है। पिछली दो योजनाओं का प्रभाव देखने पर पता चलेगा कि इस के परिणाम स्वरूप देश में रहने वाला मानव पतन की ओर अग्रसर हो रहा है। हमारा अभिप्राय यह है कि असत्यवादी, असहनशील, असहिष्णु, क्रूर, चोर, ठग, बेईमान, विश्वास के अयोग्य, इन्द्रिय-लोलुप, लोभी और क्रोधी अधिक और अधिक हो रहे हैं।

देश समृद्ध हो रहा है। नये-नये उद्योग-धंधे खुल रहे हैं। सब सुख-सुविधा के सामान अधिकाधिक सुगमता से प्राप्त होने लगे हैं, परन्तु इन सामानों से मानव में दुर्गुणों की वृद्धि ही हुई है। इस से देश में दुःखों का ही प्रसार हो रहा है।

इन दुर्गुणों को देश के नेतागण भी देखते हैं और वे जनता को उपदेश भी देते देखे जाते हैं, शिक्षा-सुधार की भी चर्चा है, परन्तु वही ढाक के तीन पात। बात वहाँ की वहाँ ही रहती है और जिस ढालू चिकनी भूमि पर भारत के समाज को ला कर बैठा दिया गया है, उस पर बैठा यह नीचे की ओर लुढ़कता ही चला जा रहा है।

यह सब क्यों है?

शिक्षा के विकास के साथ-साथ यह ह्रास निश्चय ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस बात का सूचक है कि कहीं खराबी, न्यूनता अथवा असंतुलन विद्यमान है। हमारा यह दृढ़ मत है कि भारत में शिक्षा के स्थान पर कुशिक्षा दी जा रही है। यही कारण है कि पढ़े-लिखे चरित्र-हीन, दुर्बलात्मा, हीन मानसिक शक्तियों वाले और विकृत बुद्धि वाले निर्माण हो रहे हैं।

भारतीय मीमांसा शास्त्र के अनुसार, मनुष्य का निर्माण शरीर, मन और आत्मा तीन पदार्थों के संयोग से हुआ माना जाता है। महाभारत में महर्षि व्यास इस को ऐसा मानते हैं—

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो निवर्त्य मनसा शुचिः
दशद्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात् परं ततः
संचोदनाभिर्मतिमानात्मानं चोदयेदथ
तिष्ठन्तमजरं तं तु यत् तदुक्तं मनीषिभिः
म० भा० शान्ति पर्व, अ० ३०६ श्लोक १०,११।

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि पवित्र मन से श्रोत्रादि इन्द्रियों को वश में करे। बाईस प्रकार की प्रेरणाओं द्वारा उस जरा रहित आत्मा को चौबीस तत्त्वों के समुदाय रूप प्रकृति से परे रक्खे और परमात्मा की ओर ले जाये।

इसी प्रकार मनु महाराज लिखते हैं—

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह।
याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम्॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम्
येन वेदयते सर्वं सुखं दुखं च जन्मसु॥
मनु अ० १२ श्लोक १९,१३।

यह जीव और मन दोनों एकत्र होकर धर्म और अधर्म के फल को इस जन्म और दूसरे जन्म में पाते हैं और संचित कर्मों के कारण शरीर धारण करते हैं।

सब देहधारियों के शरीर में रहने वाले जीव को अन्तरात्मा कहते हैं। यह मन से पृथक् है। मन सुख-दुःख का भोगने वाला है और जीव सब कुछ जानता और अनुभव करता है।

इस सब का अभिप्राय यह है कि मनुष्य में शरीर, मन और आत्मा इकट्ठे होकर पाप-पुण्य करते हैं और उस के अनुरूप ही दुःख-सुख पाते हैं।

आज सब देशों में और मुख्यतः भारत में शिक्षा अधूरी है। यही, आज संसार में, व्यापक दुःख का कारण है। प्रायः सब स्थानों पर शिक्षा का शरीर से ही सम्बन्ध रह गया है। मन और आत्मा का विकास शिक्षा का विषय नहीं रहे।

शरीर की अवहेलना नहीं की जा सकती। यह स्वस्थ और सबल होना ही चाहिये; परन्तु मनुष्य का विकास मन और आत्मा को छोड़कर पूर्ण नहीं हो सकता। अतः मन और आत्मा की शिक्षा का भी शिक्षा-पद्धति में उचित स्थान होना चाहिये।

भारत में इसकी और भी अधिक आवश्यकता है। यह देश एक सहस्र वर्ष तक अस्वाभाविक राजनीतिक प्रभाव में रहा है। इसने इसके घटकों में अनेकों प्रकार के मानसिक और आत्मिक विकार उत्पन्न कर रखे हैं। उन को दूर किये बिना केवल शारीरिक विकास पतन बढ़ाने वाला ही सिद्ध होगा।

आज भारत में शिक्षा का आधार इस विश्वास पर बना है कि मनुष्य में शरीर ही शरीर है। मन मस्तिष्क का दूसरा नाम है। मस्तिष्क शरीर का एक अंग मात्र है और शरीर के साथ ही बनता तथा बिगड़ता है। आत्मा तो है ही नहीं, ऐसा माना जाता है।

इस आधार पर दी हुई शिक्षा का फल दो दिशाओं में ही हो सकता है। प्रथम शारीरिक सुखों की उपलब्धि के लिये अधिकाधिक साधन जुटाने में। इन साधनों को जुटाने में कोई भी उपाय प्रयुक्त किये जा सकते हैं। दूसरा यह कि यदि ये उपाय धर्म, कानून, मानवता, के विरोधी हैं तो उन में दूसरों के विरोध को प्रभावशून्य करने के लिए शक्ति प्राप्त की जाये, जिस से कानूनी पकड़ से बचा जाये; मानवता के नाम पर विरोध करने वालों की अवहेलना की जा सके। परिणाम यह हो रहा है कि धनी-मानी तथा शक्तिशाली, कानून एवं भले व्यक्तियों की सम्मति की अवहेलना करने में सबल होने का यत्न करते हैं। वे मानते हैं कि वे अपने धन और बल के आश्रय सुखों का भोग सकेंगे। उस भोग से हानि तथा दुःख पाने वाला व्यक्ति जीवन काल में उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकेगा और जीवन के पश्चात् तो उन का कुछ रहना ही नहीं है।

केवल शरीर के पोषण की शिक्षा अधूरी और व्यापक दुःख कारक होती है। इस कारण जब तक शिक्षा का केवल यह आधार है, तब तक कुतुब की लाट पर खड़े हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर भी सुधार सुधार की पुकार करें, कुछ परिणाम नहीं निकलेगा। औद्योगिक उन्नति में पराकाष्ठा भी प्राप्त कर लें, पाप कर्मों में वृद्धि होती ही जायेगी और दुःख, क्लेश, झगड़े बढ़ते जायेंगे।

हमारा यह दृढ़ मत है कि भारतीयों में धर्म के ह्रास और दुःखों की वृद्धि का कारण मिथ्या शिक्षा ही है। इस शिक्षा का आधार भौतिकवाद (Materialism) ही इन का स्रोत है। इस आधार को बदलने से ही शिक्षा देश तथा समाज की उन्नति में समर्थ होगी।

यह सुधार कैसे हो ?

यह एक महान प्रश्न है। इसी पर विचार करने के लिए यह लेख लिखा गया है।

कुछ लोग कहते हैं कि विश्वविद्यालय अपने पाठ्यक्रम निश्चय करने में स्वतंत्र हैं। इन विश्वविद्यालयों के बड़े बड़े पढ़े-लिखे अध्यापक शिक्षा में सुधार करने में सर्वथा सबल हैं और वे कर भी रहे हैं।

हमारा मत है कि न तो ये लोग स्वतंत्र हैं, न ही इनमें सुधार करने की योग्यता है। जिस रोग का इन्हें सुधार करना है, उस रोग के ये स्वयं रोगी हैं। आज विश्वविद्यालयों के अध्यापक, कुलपति और पाठ्य समितियों (Faculties) के सदस्य स्वयं भौतिकवादी (Materialistic) शिक्षा की उपज हैं। अतः हमारे मतानुसार शिक्षा में जिस सुधार की आवश्यकता है, उसको वर्तमान विश्वविद्यालयों के अधिकारी करने में सर्वथा अयोग्य हैं।

विश्वविद्यालयों को स्वतन्त्रता भी नहीं है। इसका एक स्पष्ट उदाहरण, शान्ति निकेतन विश्वविद्यालय का है जिसको अपने 'उपदेशसूत्र' (MOTTO), 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' के मिटा देने पर ही सरकारी अनुदान की प्राप्ति हुई थी।

अतः शिक्षा में सुधार के लिये विश्वविद्यालय के प्रबन्ध, अनुदान की प्रक्रिया, पाठ्य-क्रमों के निर्धारण में आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

वर्तमान अध्यापक जिन-जिन विषयों को पढ़ाते हैं, उन को उनके पढ़ाने की स्वीकृति दी जा सकती है; परन्तु शिक्षा में अभाव को वे दूर नहीं कर सकते। कारण यह कि वे स्वयं अधूरी शिक्षा प्राप्त ही हैं। अध्यात्म की शिक्षा के लिए इस विषय के जानकार बाहर से लाकर विश्वविद्यालयों में बैठाने होंगे।

जैसे एक कैमिस्ट्री का अध्यापक गणित अथवा तत्व-शास्त्र (Philosophy) नहीं पढ़ा सकता और एक अर्थ-शास्त्र का अध्यापक वनस्पति शास्त्र नहीं पढ़ा सकता, वैसे ही वर्तमान अध्यापक और अन्य अधिकारी न तो अध्यात्म विद्या का पाठ्यक्रम बना सकते हैं, न ही वे उस पाठ्यक्रम को पढ़ा सकते हैं। इसके लिए तो भारतीय मीमांसा शास्त्र के समझने वाले और उस पर निष्ठा रखने वाले विद्वान ही नियुक्त करने पड़ेंगे।

समस्या यह है कि देश में नैतिक पतन द्रुतगति से हो रहा है। ज्यों-ज्यों देश में उद्योगों तथा सुख-साधनों का विस्तार हो रहा है, त्यों त्यों मानवों में मानवता का लोप होता जा रहा है। भारत सरकार इस का सुधार नये-नये और कड़े से कड़े कानून बनाकर करना चाहती है और लोग इन कानूनों में छिद्र ढूंढ़ने और उनकी अवहेलना करने के लिए यत्न करते रहते हैं।

हमारा कहना है कि नैतिक पतन कानून से नहीं रोका जा सकता। कानून आज तक किसी भी सुधार को लाने में सफल नहीं हुआ। नैतिक सुधार लाने के केवल दो उपाय हैं। प्रथम, वातावरण बदलकर ऐसा जनमत बना देना कि अनैतिकता असफल हो जाये। दूसरा, मानव के मन में इस के लिए ग्लानि उत्पन्न करना। ये दोनों उपाय शिक्षा द्वारा ही हो सकते हैं।

कानून से अनैतिकता दूर करने का ढंग है, पुलिस अथवा सेना के बल से उन साधनों को दूर कर देना, जिनसे अनैतिकता सम्पन्न होती है। इस प्रकार अनैतिकता दूर नहीं होती। यह इतनी छिप जाती है कि इसको पकड़ सकना भी कठिन हो जाता है।

देश में इसके दो उदाहरण तो इस समय भी देखे जा सकते हैं। शराब बनाना वर्जित कर शराब बन्दी करने का यत्न किया जा रहा है और इसमें सफलता मिल नहीं रही। इसी प्रकार वेश्यावृत्ति को बन्द करने के लिए, वेश्याओं के कटरे उठाने का यत्न किया जा रहा है। इसमें भी सफलता नहीं मिली। इन बुराइयों को दूर करने के लिए कानून तथा पुलिस का प्रयोग किया गया है। परिणाम ये हो रहे हैं कि ये बुराइयाँ किसी अन्य रूप में अधिक व्यापक हो रही हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर युद्धों को रोकने के लिए शस्त्रास्त्रों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाने का यत्न किया जा रहा है। इससे युद्ध नहीं रुक सकते।

शराब पीने वाले भी रहे हैं और रहेंगे। वेश्यावृत्ति होती रहेगी और युद्ध भी होंगे। साधनों के मिटा देने तथा नाश कर देने से लोग नये साधन ढूंढ लेंगे। इन और इसी प्रकार के अन्य नैतिक दुर्गुणों को दूर करने के लिए मनोवृत्ति को बदलने की आवश्यकता है और यह ठीक ढंग की शिक्षा से ही हो सकता है। शिक्षा का ढाँचा, जो इस समय केवल भौतिकवादी है, को बदलकर पूर्ण, अर्थात् शरीर, मन और आत्मा तीनों के सम्बन्ध में बनाना पड़ेगा। शिक्षा भौतिकवाद के शिकंजे में जकड़ी है। इस को इससे मुक्ति दिलानी होगी।

भौतिकवादियों से शिक्षा की मुक्ति

ऐसे लोग हैं जो प्राणी को केवलमात्र प्रकृति का रूप मानते हैं। चेतना को प्रकृति की एक अवस्था विशेष मानते हैं। आधुनिक विज्ञान, अपने प्रारम्भिक काल से, चेतना को प्रयोगशाला में निर्माण करने का यत्न कर रहा है। जिस समय यह 'यूरिया' (urea), एक प्राणिज पदार्थ, को प्रयोगशाला में निर्माण करने में सफल हुआ था, यह अपने को प्राणी की चेतना का रहस्य जानने के अत्यन्त समीप मानने लगा था। उसके उपरान्त बहुत कुछ जाना जा चुका है, परन्तु अभी तक वैज्ञानिक, जो प्रकृति से ही प्राणी के निर्माण में लगा है, ऐसा कर सकने में सफल नहीं हुआ।

विज्ञान का नियम है कि जब तक किसी विचार (theory) को परीक्षण द्वारा सिद्ध न किया जाये, उसको वाद (hypothesis) अथवा एक वास्तविकता (fact) नहीं माना जा सकता। यह तो वर्तमान काल के विद्वानों की अनर्गलता है कि वे जीवन (life) को प्रकृति की एक अवस्था मानने का हठ कर रहे हैं। इसमें हमारा मत है कि विज्ञान को इसमें खोज करने दी जाये। जब यह इस के रहस्योद्घाटन में सफल हो जायेगा, तब तक जो कुछ विदित है, उसके अनुसार ही अपना व्यवहार निश्चय किया जाय। एक विचार (theory) को वास्तविकता मानना तो अवैज्ञानिक हो जायेगा।

इसके विपरीत, जीवन में नित्य ऐसी बातें देखने में आती हैं जिनसे यह परिणाम निकलता है कि एक प्राणी में इस शरीर, जो मृत्यु के समय नष्ट हो जाता है, के अतिरिक्त एक ऐसा तत्त्व रहता है जो मरने के उपरान्त भी रहता है। इस संसार में नियम, व्यवस्था इसी बात को सिद्ध करती है। एक मनुष्य का अंगहीन अथवा निर्बुद्धि उत्पन्न होना और उससे उस व्यक्ति का दुःखी रहना इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि शरीर के अतिरिक्त इसमें एक अन्य तत्त्व है, जो जन्म से पूर्व था और जन्म के समय इसमें आया था और तब के कर्मों का फल अब भोग रहा है। इस प्रकार से परिणाम निकालने वाली विद्या को तत्त्वशास्त्र अर्थात् अध्यात्म विद्या कहते हैं।

भारतीय तत्त्व शास्त्र इसको उच्च स्वर से घोषित करता है कि शरीर में एक आत्मा नाम की वस्तु रहती है। महाभारत और मनुस्मृति के प्रमाण, इस विषय में दिये जा चुके हैं। कठोपनिषद् का तो विषय ही यह है। वह कहता है कि मरने के अनन्तर आत्म तत्त्व रहता है और वह गूढ़ तत्त्व है—

तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

कठो० अ० १, व० २ मं० १२।

उस वस्तु का, जो मरने के उपरान्त रहती है, दर्शन (आँखों से देखना) कठिन है। वह (शरीर के) सब स्थानों पर रहता है। इस पर भी हृदय स्थान में प्रविष्ट है। वह अनादि और अमर है। यह अध्यात्म योग द्वारा जाना जाता है। इस आत्म-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर बुद्धिमान मनुष्य हर्ष तथा शोक त्याग देते हैं।

इस विषय में और भी लिखा है—

आत्मानंꣳरथिनं विद्धि शरीरंꣳरथमेव तु
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

कठो० अ० १, व० ३ मं० ३,४।

आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारथि जान और मन को लगाम समझ।

विवेकी मनुष्य इन्द्रियों को घोड़े बतलाते हैं। विषयों को उनका मार्ग कहते हैं और शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं।

हमारा कहना यह है कि जब मनुष्य में शरीर के अतिरिक्त एक मन और दूसरा आत्म तत्त्व भी है और ये कर्मफल के भोक्ता अर्थात् सुख-दुःख के पाने वाले हैं तो मानव कल्याण के लिए इनका ज्ञान और विकास भी शिक्षा का विषय होना चाहिए।

आज स्कूलों और कौलेजों में दी जाने वाली शिक्षा भौतिकवादी कहाती है। यह इस कारण कि इस शिक्षा में प्रकृति के व्यक्त रूप अर्थात् उन रूपों को, जो संसार में दृष्टि गोचर हैं, ही सम्मिलित किया जाता है। भारतीय मीमांसा शास्त्र प्रकृति के अव्यक्त और व्यक्त रूप को मानते हुए, उसकी शिक्षा को ग्राह्य मानते हुए भी आत्मा और फिर परमात्मा के ज्ञान के बिना, शिक्षा को अपूर्ण मानता है। इनमें दोनों तत्त्वों का वर्तमान शिक्षा में कोई स्थान नहीं है। अतः यह शिक्षा अधूरी है। इसके परिणाम भी अधूरे हैं और बहुधा हानिकारक सिद्ध हो रहे हैं।

अतः वर्तमान शिक्षा को भौतिकवाद के घेरे से निकाल इसको पूर्ण ज्ञान की शिक्षा बनाना प्रथम एवं आवश्यक कार्य है। यह तो पाठ्यक्रम बनाने वालों का काम है कि वे उन सब उपायों का प्रयोग करें जिनसे विद्यार्थी इन दो गूढ़ तत्त्वों को हृदयंगम कर सकें। शिक्षा का आधार प्रकृति, आत्मा और परमात्मा तीनों ही होने चाहिएँ।

आत्म तत्त्वों (आत्मा और परमात्मा) का ज्ञान वर्तमान अध्यापक नहीं करा सकते। उनमें से अधिकाँश न तो इन तत्त्वों पर विश्वास करते हैं और न ही इनका उनको ज्ञान है। वे अपने-अपने विषय के ज्ञाता हो सकते हैं, परन्तु इस विषय से वे सर्वथा अनभिज्ञ ही हैं। अतः आत्म-तत्त्व के ज्ञाताओं को इस शिक्षा-प्रणाली में स्थान मिलना चाहिए।

किसी भी विषय का पूर्ण ज्ञान तो मानव को हो नहीं सकता। यदि हो सकता तो आगे अन्वेषण के लिए स्थान नहीं रह जाता। रसायन शास्त्र, भौतिकी, चिकित्सा-शास्त्र, आयुर्वेद इत्यादि कोई भी विषय ले लें, उसमें उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि होती रहती है। इसी प्रकार आत्म तत्त्वों के विषय में भी पूर्ण ज्ञान तो कभी किसी को होना सम्भव नहीं। इस कारण इस विषय में जो कुछ भारतीय शास्त्र ने, आज तक, जाना है, उसकी शिक्षा तो होनी ही चाहिए। इस विषय में भी आगे विचार और अन्वेषण होते रहना चाहिएं।

जब हम अध्यात्म विद्या को शिक्षा का एक अंग बनाने के लिए कहते हैं तो कुछ मूर्ख इसमें दो आपत्तियां करते हैं।

एक तो यह कि वे बैलों पर सवार होना, मोटी बाजरे की रोटियाँ खाना, तथा मोटे सूती कपड़े पहिनना ही इस अध्यात्म विद्या का लक्षण समझते हैं। इन मूर्खों का विचार है कि अध्यात्मवादी वर्तमान भौतिक उन्नति का, जिसमें हवाई जहाज, अन्तरिक्ष की खोज इत्यादि, तथा अनेकानेक प्रकार के उद्योग-धंधों का विस्तार हो रहा है, विरोध करेंगे।

एक दूसरी मूर्खतापूर्ण बात वे यह कहते हैं कि जो वस्तु हाथ की तली पर रखकर दिखाई न जा सके, वह कैसे शिक्षा का विषय हो सकती है?

ये दोनों आपत्तियाँ अज्ञानता अथवा पक्षपात की सूचक हैं। ये अध्यात्मवादी सांसारिक उन्नति के विरोधी ही होंगे, ऐसी कोई बात नहीं। हाँ, वे उस सांसारिक उन्नति का विरोध अवश्य करेंगे जो मानवता की विरोधी होगी। वे उस उन्नति को पसन्द नहीं करेंगे, जिससे मानव बन्धनों में बँध जाये और स्वतंत्रता का आनन्द प्राप्त न कर सके।

भारतीय तत्त्व शास्त्रियों (philosophers) ने इन आत्म-तत्त्वों के विषय में बहुत खोज की है और इन तत्त्वों की प्रकृति और गुणों के विषय में बहुत कुछ जान गये हैं। इसके अतिरिक्त इस ज्ञान का सम्बन्ध वे मनुष्य की दिन-चर्या के साथ प्राप्त कर चुके हैं। आत्म-तत्त्वों के ज्ञान का क्रियात्मक प्रयोग भी एक सीमा तक जाना जा चुका है। इस सब खोज का निर्णयात्मक खंडन नहीं किया जा सका। अतः इसको शिक्षा का विषय वैसे ही बनाया जा सकता है, जैसे रसायन शास्त्र इत्यादि को बनाया गया है। रसायन शास्त्र पढ़ने के लिए भी पहिले प्रारम्भिक ज्ञान की आवश्यकता रहती है। पीछे ही इस शास्त्र की उच्च शिक्षा दी जा सकती है। साथ ही इस शास्त्र का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्त अभी तक नहीं आया। यही बात अध्यात्म विषय के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए।

अध्यात्म विद्या भौतिक विद्या के साथ-साथ चल सकती है। दोनों में कहीं विरोध नहीं है, प्रत्युत दोनों एक दूसरे का समर्थन करेंगी। यह ठीक है कि दोनों में भिन्नता होने से दोनों को एक ही व्यक्ति नहीं दे सकता।

जैसे यह माना जाता है कि विज्ञान (रसायन शास्त्रादि) का प्रारम्भिक ज्ञान सब विद्यार्थियों को होना चाहिए, वैसे ही यह भी आवश्यक है कि अध्यात्म विद्या का प्रारम्भिक ज्ञान सब विद्यार्थियों को होना चाहिए। इसकी भी उच्च शिक्षा इसका विशेष ज्ञान प्राप्त करने वालों को ही दी जा सकेगी और इसमें भी अन्वेषण कार्य चलेगा।

शिक्षा की राजनीतिक दासता से मुक्ति

प्राचीन भारत में शिक्षा राज्य का विषय कभी नहीं रहा। राज्याधिकारियों का यह अधिकार कभी नहीं माना गया कि वे यह बतायें कि अमुक वस्तु पढ़ी जाये अथवा अमुक न पढ़ी जाय। इसपर भी राज्य की ओर से इसके लिए धन दिया जाता था।

मुसलमानी काल में भी राज्य ने मकतबों की पढ़ाई में कभी हस्तक्षेप नहीं किया। यही कारण था कि सात सौ वर्ष तक मुसलमानों के राज्य के अनन्तर भी देहातों तक में भी पाठशालाएँ और वेदाध्ययन के केन्द्र विद्यमान थे। जो कुछ ह्रास उनमें हुआ वह देश में अराजकता के कारण ही हुआ। राज्य में शान्ति न रह सकने के कारण ही वे पाठशालाएँ और वेद-विद्या के केन्द्र निम्न स्तर के बनते चले गये। इस पर भी राज्य ने उन पर अपना प्रभुत्व जमाने का यत्न कभी नहीं किया।

जब अंग्रेज यहाँ आये तो उनको यहाँ के राज्य का कार्यभार उठाने के लिये कर्मचारी चाहिए थे। वे यह भी चाहते थे कि राज्य का कार्य अंग्रेज़ी भाषा में हो, जिससे अंग्रेज़ उच्चाधिकारी राज्य-कार्य की देखभाल कर सकें। साथ ही अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य का प्रचार करने में यह प्रयोजन था कि यहाँ रहने वालों में अंग्रेज़ी रहन-सहन और आचार-विचार की प्रतिष्ठा बढ़ सके। अतः सरकारी स्कूल-कौलेज नाम की वस्तु का इस देश में जन्म हुआ।

इस समय भी देश में शिक्षा का काफी प्रचार था। साधारण लोग पढ़-लिख सकते थे। कुछ हिन्दी में, कुछ अन्य भाषाओं में। इनमें उर्दू और फ़ारसी भी सम्मिलित थीं। इन साधारण लोगों के अतिरिक्त संस्कृत, फ़ारसी तथा अन्य स्थानीय भाषाओं में उच्च शिक्षा प्राप्त लोग भी थे। हकीम, वैद्य, वेद-शास्त्री और कुरआन के हाफ़िज़ बहुत भारी संख्या में मिलते थे।

लोग यह देशीय शिक्षा बिना दाम दिये प्राप्त कर सकते थे। और स्कूल कौलेजों की शिक्षा में कुछ-न-कुछ फीस ली जाती थी। अतः इनकी पढ़ाई के लिये जनता को आकर्षित करने के लिये यहाँ के पढ़े-लिखों को संस्कृत, फ़ारसी इत्यादि की पढ़ाई किये हुओं से अधिक मान-प्रतिष्ठा दी जाने लगी। इनको सरकारी नौकरियाँ, तहसीलदारियाँ इत्यादि दी जाने लगीं। ऐसे पढ़े लोग, ऐसी पदवियों पर नियुक्त होने लगे जहाँ उनका अधिकारियों से सम्पर्क बनने लगा और वे उनसे अपने सम्बन्धियों, मित्रों इत्यादि की सिफारिश कर उनको विशेष लाभ पहुँचाने लगे। कचहरियों के मुख्तार और वकील इन पढ़ी-लिखी जनता में से बनाये जाने लगे। इस प्रकार स्कूल कौलेजों की पढ़ाई की ओर जनता की रुचि बढ़ने लगी और पाठशालाओं तथा मकतबों की चटाइयाँ खाली रहने लगीं।

तदनन्तर एक समय आया, जब ईसाइयों ने भी सरकारी स्कूल-कौलेजों जैसे अपने स्कूल-कौलेज खोलने आरम्भ कर दिये। ईसाइयों का प्रत्यक्ष उद्देश्य यह था कि वे लोग, जिन के हाथ में शासन की बागडोर जा रही है, ईसाई प्रभाव में आ जाएँ।

भारत वर्ष के कुछ पढ़े-लिखे लोग ईसाइयों की इस चाल को समझ गये और उन्होंने भी ईसाइयों के मुकाबिले में हिन्दू स्कूल कौलेज खोलने की योजना चला दी। पँजाब और उत्तरी भारत में आर्य समाज ने इस दिशा में बहुत कार्य किया। बंगाल इत्यादि में ब्रह्म समाज ने और मद्रास में थियोसौफिकल सोसायटी ने काम किया। उत्तरी भारत में आर्य समाज की देखा-देखी, सनातन धर्म, सिख और दूसरी धार्मिक सभा-समाजों ने भी ऐसे स्कूल कौलेज खोले, जिनमें वही शिक्षा दी जाने लगी, जिसको पढ़ कर लोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नौकरी प्राप्त कर सकें।

इन धार्मिक सभाओं तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के लिये धन, जनता से चन्दा एकत्रित कर लिया जाने लगा। इस देश में विद्यादान की बहुत महिमा थी। अतः क्लर्क पैदा करने वाली शिक्षा को विद्या का नाम दे-देकर दानी सज्जनों से धन एकत्रित किया जाने लगा। वे संस्थाएँ भी, जो विद्या दान का नाम ले-लेकर लाखों चन्दा एकत्रित करती थीं, इस प्रकार जाति के बच्चों को ऐसी शिक्षा देना, जिससे वे सरकारी नौकरी प्राप्त करने के योग्य हो सकें और सरकार से मान-प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकें, विद्यादान कहने लगीं।

ऐसा समय भी आया, जब संस्कृत और वेदादि शास्त्र की शिक्षा को अशिक्षित व्यक्ति निर्माण करने वाली, निर्धनों के बच्चों के उपयुक्त तथा पाधा और पुरोहितों के निर्माण करने वाली कहा जाने लगा। वे संस्थाएँ भी जो विद्या के नाम पर लाखों रुपए चन्दे प्राप्त करती थीं, अंग्रेजी के अध्यापक को पचहत्तर रुपये और संस्कृत के अध्यापक को बीस-पच्चीस रुपये वेतन देती थीं।

अभिप्राय यह है कि सरकार ने देश की पूर्ण शिक्षा-पद्धति को अपने ढाँचे में ढाल लिया। इसमें वे स्कूल-कौलेज भी जो जनता के चन्दे पर चलते थे, सहायक हो गये। कुछ संस्थाएँ, लाहौर के डी० ए० वी० कौलेज और स्कूलों की भाँति, सरकारी नियंत्रण से बाहर रहने के लिये सरकारी अनुदान लेने से इनकार करती रहीं। इस पर यूनिवर्सिटी के ऐसे नियम-उपनियम बनाये गये, जिससे स्कूलों को डायरैक्टर आफ एजुकेशन के अधीन करना पड़ा। इस समय स्कूल कौलेज स्वेच्छा से वही शिक्षा देने लगे, जिसको देने के लिये सरकार करोड़ों रुपये व्यय करती थी।

अब देश में स्वराज्य हो गया है और समाजवादी सरकार बन रही है और स्कूल तथा कौलेजों के प्रबन्ध, पाठ्यक्रम और विद्यार्थियों के रहन-सहन को पूर्णतः सरकार के अधीन किया जा रहा है और शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण अंग्रेज़ी काल से कहीं अधिक होता जा रहा है।

इसका नियन्ता डायरेक्टर आफ ऐजुकेशन बनाया गया है, जो सरकार का नौकर होता है। यह अधिकारी, स्कूल-कौलेजों की पाठ्यविधि, इमारतों, फर्नीचर, अध्यापकों की नियुक्ति, उनके वेतन, पुस्तकालयों में पुस्तकों, अभिप्राय यह कि स्कूल सम्बन्धी प्रत्येक बात पर नियंत्रण रखता है। किन्हीं राज्यों में जनता के दान से चलने वाले स्कूलों की मैनेजिंग कमेटियों में भी डायरैक्टर का प्रतिनिधि रहता है। यह अधिकारी शिक्षामंत्री के अधीन होता है और शिक्षामंत्री सत्तारूढ़ दल की नीति चलाता है।

विश्वविद्यालयों में भी शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण रहता है। इस नियंत्रण की विधि तो विश्वविद्यालय के विधान से बनती है। उस कानून से अनेकों प्रकार के प्रतिबन्ध हैं, जो विश्वविद्यालय को चालू रखने के लिये मानने पड़ते हैं। विश्वविद्यालयों के खोलने के लिये न केवल कानून का प्रतिबन्ध है, प्रत्युत उसके पास स्थायी कोष, इमारत और चालू रखने के लिये धन का प्रतिबन्ध भी है। कोई भी विद्वान अथवा विद्वानों का समूह केवल पढ़ाई के आधार पर विश्वविद्यालय नहीं खोल सकता। उनको कम से कम करोड़ों रुपये अपने पास रखने ही चाहियें। शिक्षा की श्रेष्ठता गौण है, भूमि, इमारत, फर्नीचर और स्थाई कोष मुख्य बन जाते हैं। इस पर यूनिवर्सिटी ग्रांट कमीशन है, जिस को सरकार नियुक्त करती है और वह लाखों रुपयों का अनुदान देते हुए सरकारी नीति का संचालन करता है।

इसी प्रकार बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटि के नाम से हिन्दू शब्द नहीं रहा। शान्ति निकेतन के विषय में हम लिख चुके हैं। यह एक इतना प्रबल नियंत्रण सरकार अर्थात् सत्तारूढ़ दल के हाथ में है कि शिक्षा को राजनीतिक बँधनों में कैदी कहना ही उपयुक्त होगा।

सबसे बड़ा, शिक्षा पर सरकार का नियंत्रण सरकारी नौकरियाँ हैं। सरकारी नौकरी पाने के लिये यूनिवर्सिटी की डिग्री अथवा सर्टिफिकेट का होना परमावश्यक है। सरकार अपना प्रभाव शिक्षा पर अधिक और अधिक करने के लिये, देश में कार्यालयों, उद्योगों और अन्य देश के कामों को अधिकाधिक अपने अधीन करती जाती है। धीरे-धीरे देश में नौकरियाँ देने वाली सबसे बड़ी संस्था सरकार बन गयी है। ऐसा अनुमान लगाया जा रहा है कि निकट भविष्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार ही एक संस्था रह जायेगी, जिसमें देश के युवक-युवतियाँ नौकरी पा सकेंगे। न कोई 'प्राईवेट' उद्योग रह सकेगा, न ही व्यापार। न कोई कम्पनी रहेगी न दूकान। तब तो स्कूल कॉलेज सरकार का आदेश पालन करने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं कर सकेंगे।

यह एक ऐसी अवस्था हो जायेगी, जैसी एक पालतू जानवर की होती है। यह कितनी सुखकारक होगी, विचार का विषय ही है। मनुष्य एक समुन्नत मन वाला प्राणी है। वह मन पालतू पशुओं की भाँति एक प्रकार के ही नियंत्रण (Regimentation) को पसन्द नहीं कर सकता। मनुष्य मनुष्य में भिन्नता है और उस भिन्नता के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने में ही एक ईकाई है। अतएव मनुष्य की शिक्षा में भी अनुकूलन शक्ति होनी आवश्यक है। यह अनुकूलन शक्ति शिक्षा के संचालन में फीताशाही (Bureaucratic Control) से नहीं हो सकती। अतः शिक्षा सरकारी नियंत्रण से मुक्त होनी चाहिये।

राज्य के बँधनों में बँधी शिक्षा दासता की मनोवृत्ति बनाने वाली ही होगी। विशेष रूप में जब राज्य प्रणाली दलबन्दी (Party System) पर चलती हो। ऐसी राज्य-प्रणाली में शासक-दल बदलता रहता है। इससे शिक्षा का आधार भी बदलता रहेगा। आज काँग्रेस दल सत्तारूढ़ है, कल कोई हिन्दू दल भी सत्ता रूढ़ हो सकता है। उस समय अंग्रेज़ी की महिमा कम होने लगेगी, हिन्दी का चलन बढ़ेगा। कोई वाम-पक्षीय दल भी सत्तारूढ़ हो सकता है, तब भाषा हिस्दुस्तानी परन्तु लिपि लैटिन हो जायेगी।

यह केवल भाषा और लिपि का ही प्रश्न नहीं है। इसके साथ विषयों का भी सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। एक सरकार एक प्रकार की शिक्षा पर बल देगी और दूसरे दल की सरकार दूसरी प्रकार की शिक्षा पर। आज सैक्युलर स्टेट है। कल यह नहीं भी रह सकती। इससे शिक्षा में अन्तर पड़ेगा ही। सब से बड़ी बात यह है कि शिक्षा में ये सब परिवर्तन इस कारण नहीं होंगे कि देश के विद्वान इनको चाहेंगे, प्रत्युत इसलिये कि परिवर्तनशील शासन इनको चाहेगा। प्रजातंत्रात्मक शासन प्रजा के अधीन होता है। जनता के अधीन शिक्षा कर देने का अभिप्राय ऐसा ही है जैसे किसी स्कूल-कौलेज में पाठ्यक्रम बनाने में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की सम्मति ली जाये।

शिक्षा को राज्याधीन अर्थात् देश की राजनीति से बाँधने का अर्थ होगा कि शिक्षा मानव कल्याण की वस्तु न रह करकिसी राजनीतिक गुट के कल्याण के लिये रह जायेगी। यह मानव की मानसिक हत्या करने के तुल्य होगा।

हमारा यह दृढ़ मत है कि शिक्षा का दूर का भी सम्बन्ध राज्य अर्थात् शासन से नहीं होना चाहिये। लोग इसकी असम्भवता की बात करते हैं। उनको करोड़ों विद्यार्थियों की शिक्षा, राज्य से स्वतंत्र रखकर, करनी असम्भव प्रतीत होती है। वे समझते हैं कि धन देने वाली सरकार को इस पर नियंत्रण रखना ही होगा। वे देश की आवश्यकताओं की पूर्ति को सरकार की सहायता के बिना सम्भव नहीं मानते और सहायता देने से वे सहायता देने वाले का हस्तक्षेप स्वाभाविक समझते हैं।

यह हीन्न भावना (inferiority complex) तो समाजवादियों ने देशवासियों में उत्पन्न कर रखी है। विद्यार्थियों की संख्या अधिक है तो शिक्षकों की संख्या अधिक होनी चाहिये न कि एक अनधिकारी का हस्तक्षेप होना चाहिये। एक विशाल देश में विशाल कार्य के लिये कार्य-कर्त्ताओं की संख्या में वृद्धि होनी चाहिये। देश की विशाल जनता में से विशाल संख्या में अध्यापक भी बन जायेंगे।

करोड़ों विद्यार्थियों की शिक्षा के लिये धन भी तो जनता ही देती है। विशाल देश की विशाल कर देने वाली जनता विशाल धन-राशि दे देगी। इन सब बातों में सरकार का नियंत्रण क्यों आवश्यक हो गया? जब कोई धनीमानी सेठ किसी शैक्षणिक संस्था को धन देता है तो वह धन देने से उस संस्था के पाठ्यक्रम में हस्तक्षेप का अधिकारी नहीं बन जाता। तो एक सरकार धन देकर हस्तक्षप की अधिकारिणी कैसे बन गयी? सरकार अरबों रुपये जनता से कर के रूप में लेती है, तो इसको वह धन जनता के कल्याण में व्यय करना चाहिये। यदि जनता का कल्याण शिक्षा को राजनीतिक दलों के प्रभाव से मुक्त करने में है तो सरकार को धन बिना नियंत्रण के देना ही होगा, अन्यथा सरकार कर प्राप्त करने की अधिकारी नहीं रह जाती। शिक्षा पर नियंत्रण विद्वानों का होना चाहिये। उन विद्वानों को, जो अपने वेतन और अपनी उन्नति तथा नियुक्ति के लिये सरकार की दया पर निर्भर न हों।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कैसे हो सकता है अर्थात् कैसे शिक्षा सरकारी नियंत्रण से मुक्त हो सकती है, यह हम इसी लेख में आगे चलकर लिखेंगे। इसके लिये शासन और धनी-मानी दानियों की मनोवृत्ति बदलने की आवश्यकता है। धन दान देने से अथवा सरकार की ओर से किसी संस्थान का अनुदान मिलने से, धन पाने वाली संस्था उस दानी अथवा सरकार के अधीन ही हो, आवश्यक नहीं। इस देश में यह सदा से होता आया है। दान देने वाला दान पाने वाली संस्था का स्वामी नहीं बन जाता।

सरकारी नियन्त्रण हटाने के लिए प्रथम पग स्कूल-कौलेजों तथा विश्वविद्यालयों के सर्टिफिकेट, सरकारी अथवा गैरसरकारी नौकरियाँ पाने में किसी प्रकार से भी मापदण्ड नहीं माने जाने चाहिएँ। शिक्षा केन्द्र तो विद्यार्थी को शिक्षित करने के लिये होना चाहिएँ। नौकर रखने के लिये सरकारी महकमों अथवा असरकारी कार्यालय अपनी-अपनी परीक्षा लेकर भरती करें। इन परीक्षाओं में बैठने के लिए किसी स्कूल कालेज में पढ़ाई करने के सर्टिफिकेट की आवश्यकता न हो। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हो जायेगा कि विश्वविद्यालय तथा विद्यालय शुद्ध विद्या और ज्ञान प्राप्त करने के केन्द्र रह जायेंगे। एक तो समाज की रूपरेखा ऐसी होनी चाहिये कि सरकार को कम से कम नौकर रखने की आवश्यकता पड़े। दूसरे सरकारी कर्मचारी भरती करने के लिए विद्यालय, महाविद्यालय अथवा विश्वविद्यालय में पढ़ाई किये होने के प्रमाणपत्र प्रभावहीन हों। नौकरी प्राप्त करने के लिये भरती होने की परीक्षा पास करनी आवश्यक हो।

जब-जब किसी सरकारी अथवा गैरसरकारी संस्थान (organization) को कर्मचारियों की आवश्यकता हो, तब तब वह विज्ञापन द्वारा घोषित करें कि उनको अमुक कार्य के लिए अमुक विषयों के ज्ञाता कर्मचारियों की आवश्यकता है और अमुक ढंग से परीक्षा होगी। परीक्षा के लिए प्रार्थी साधारण सा शुल्क देकर बैठ सकें। किसी भी कक्षा तक पढ़ा हुआ अथवा कहीं न पढ़ा हुआ प्रार्थी परीक्षा में बैठ सके। ऐसा हो जाने से महाविद्यालय अथवा विश्वविद्यालय नौकरी प्राप्त करने की शिक्षा न देकर केवल विद्या के केन्द्र रह जायेंगे और इससे शिक्षा का स्तर ऊँचा किया जा सकेगा। पाठशालाओं, विद्यालयों अथवा महाविद्यालयों में पढ़ाई करने के प्रमाणपत्र उच्च शिक्षा केन्द्रों में प्रवेश मात्र के लिये काम आयेंगे।

शिक्षा का संचालन

राजकीय नियंत्रण से मुक्त शिक्षा के लिये, मुख्य रूप में, चार बातों के प्रबन्ध की आवश्यकता होगी।

(१) धन, (२) शिक्षक, (३) शिक्षा का स्तर, (४) व्यापकता।

इन चारों बातों पर पृथक् पृथक् वर्णन करेंगे। इनके वर्णन से पूर्व हम शिक्षा के विभाजन के विषय में लिख देना चाहते हैं।

शिक्षा चार विभागों में बँटे। (१) प्रारम्भिक शिक्षा। इसमें विद्यार्थी ५ वर्ष की आयु से लेकर १३ वर्ष की आयु तक के लिए जायें। यह प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य हो। प्रत्येक बालक-बालिका को इस आयु में किसी न किसी पाठशाला में पढ़ने के लिए जाना आवश्यक हो। इसमें पाठशालाएँ दो प्रकार की हों। एक वे जिनमें विद्यार्थी १० वर्ष की आयु के नीचे पढ़ें। इनमें लड़के-लड़कियाँ इकट्ठे पढ़ सकते हैं। दूसरे वे जिनमें १० से १३ वर्ष की आयु के बच्चे पढ़ेंगे। इस स्तर पर पाठशालाएँ लड़के और लड़कियों के लिए पृथक्-पृथक् होंगी। इस पर भी इन दोनों विभागों में शिक्षा, अनिवार्य और एक ही प्रकार की हो।

द्वितीय विभाग—इस विभाग में विद्यार्थी १३ वर्ष की आयु से १८ वर्ष की आयु तक के हों। यह शिक्षा अनिवार्य नहीं हो। जिनको यह शिक्षा दी जाये, उन्हें विद्यालय-प्रवेश परीक्षा देनी हो। इन विद्यालयों की संख्या अधिक से अधिक की जाये जिससे कि प्रवेश-परीक्षा में उत्तीर्ण सभी छात्रों को प्रवेश मिल सके। यह आशा की जा सकती है कि जाति के आधे से अधिक बच्चे इस विभाग की शिक्षा को प्राप्त करें। वे बच्चे जो किसी भी विद्यालय में प्रवेश नहीं पा सकेंगे, वे उद्योग-धन्धों और निम्न प्रकार की नौकरियों में लग सकेंगे। इस पर भी ये बच्चे काम-धंधा करते हुए स्व-शिक्षा से उन्नति कर उच्च स्तर के काम-धंधों में तथा नौकरियों में जा सकेंगे। यह ऊपर लिखा जा चुका है कि नौकरी-प्राप्ति के लिए परीक्षा में बैठने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए किसी विद्यालय अथवा महाविद्यालय में पढ़ाई किये होने के प्रमाणपत्र की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

तृतीय विभाग में बच्चे १८ वर्ष की आयु से २१ वर्ष की आयु तक के हों। इस स्तर के शिक्षा-केन्द्र महाविद्यालय कहायें। इन की शिक्षा भी अनिवार्य नहीं हो। इनमें भी प्रवेश प्रथम विद्यालयों की शिक्षा समाप्त करने का प्रमाणपत्र तथा प्रवेश परीक्षा से मिल सके। विद्यालय की शिक्षा समाप्ति के प्रमाण पत्र की शर्त विशेष परिस्थितियों में हटाई भी जा सके। अर्थात् पाठशाला में पढ़ने के अनन्तर किसी काम-धंधे में लगे हुए स्व-शिक्षा से योग्यता प्राप्त विद्यार्थी भी महाविद्यालयों की प्रवेश परीक्षा में विशेष स्वीकृति से बैठ सकें।

लड़के और लड़कियों के लिये पृथक-पथक विद्यालय और महाविद्यालय हों। महाविद्यालयों की शिक्षा समाप्ति की परीक्षा वे विश्वविद्यालय ले सकेंगे जिनके साथ महाविद्यालय सम्बन्धित हों। यह सम्बन्ध विषयों के अध्ययन के कारण बनेगा न कि भौगोलिक स्थापना के कारण।

शिक्षा का चतुर्थ विभाग विश्वविद्यालयों की शिक्षा का हो। इनमें केवल मात्र वे विद्यार्थी प्रवेश पा सकेंगे, जो किसी एक विषय में स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त करने तथा अन्वेषण कार्य करने के लिये आयें। इनमें प्रवेश अति सीमित होगा। स्नातक परीक्षा में बहुत अधिक अंक लेकर उत्तीर्ण विद्यार्थी ही इसमें प्रवेश ले सकें। इस शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय विद्यार्थियों के निवास, भोजन तथा वस्त्रादि की व्यवस्था अपने खर्चे पर करे। अध्यापक और विद्यार्थी इकट्ठे रहें। इस स्तर पर लड़के-लड़कियों की शिक्षा एक ही स्थान पर हो सके।

वे बच्चे जो महाविद्यालयों में प्रवेश नहीं पा सकेंगे, वे प्रायः उच्च श्रेणी की नौकरियों के लिये यत्न करेंगे अथवा उद्योग-धंधों में खप सकें।

महाविद्यालयों में शिक्षित स्नातक जो किसी विश्वविद्यालय का प्रमाण-पत्र प्राप्त किये हों, वे अध्यापक, डाक्टर, हकीम, वैद्य, इन्जीनियर, वकील, न्यायाधीश इत्यादि पदवियों के लिए हों।

विश्वविद्यालयों में अन्वेषण कार्य में संलग्न और वहाँ की शिक्षा समाप्त किये विद्यार्थी उद्योग-धंधों में अन्वेषण कार्य के लिए योग्य समझे जायें। ये अन्वेषण कार्य विश्वविद्यालय, सेना, पुलिस तथा उद्योग-धंधों के स्वामी करवायें। कोई व्यक्ति स्वेच्छा से भी अन्वेषण कार्य कर अपनी खोज के परिणामों को मूल्य प्राप्त कर सके।

धन

प्रायः देशवासियों की अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा सरकार का हस्तक्षेप स्वीकार करने में मुख्य बहाना धन का ही है। उनका कहना है कि इस कार्य से सरकार ने अपना हाथ खींचा तो इतना खर्चा कहाँ से आयेगा? ऐसा प्रतीत होता है कि इनके विचार में सरकार कोई धनी-मानी व्यक्ति है जो धन का निर्माण करता है। सरकार के पास जनता का ही धन है और जनता वह धन जनता के कल्याण में व्यय करने के लिये ही सरकार को देती है।

वास्तविक समस्या है कि सरकार जो धन जनता से इकट्ठा करती है, उसको व्यय करने के लिये वह दूसरों को दे अथवा न दे। क्यों न दे? इसमें कारण यह कहा जाता कि लोग इसका दुरुपयोग करेंगे। अर्थात् सरकार में जो लोग होंगे, वे सर्वसाधारण से भिन्न प्रकार के होंगे। वे आकाश से उतर कर आयेंगे और सर्वसाधारण भूतल के रहने वाले होंगे।

ये सब व्यर्थ की बातें हैं। अनुदान तो सरकार अब भी देती है और सरकारी कर्मचारियों के अतिरिक्त लोग उन अनुदानों की धन राशि को व्यय करते हैं। सरकार के लेखा-जोखा निरीक्षक उन अनुदानों का हिसाब-किताब देखते हैं। इतने से तो सरकार की शिक्षा में हस्तक्षेप नहीं माना जाता। हस्तक्षेप तो 'डायरेक्टर आफ ऐजुकेशन' के अन्य कामों से उत्पन्न होता है और उनसे ही शिक्षा में विकृति आती है।

हमको धन के विषय में कुछ भी कठिनाई प्रतीत नहीं होती। देश में अपार धन है। सरकार ने उस अपार धन का बहाव अपनी ओर कर लिया है। यह बहाव की दिशा ठीक है अथवा ग़लत है, इस पर विवेचना इस लेख का विषय नहीं। इसको छोड़ कर हम यह कहना चाहते हैं कि यदि सरकार ने इतने भारी कर लगा रक्खे हैं कि व्यक्ति के पास दान-दक्षिणा के लिये कुछ अधिक बचता ही नहीं तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सरकार का कर्तव्य है कि शिक्षा का पूर्ण व्यय वहन करे।

हमारा यह दृढ़ मत है कि व्यय करने में सरकार के कर्मचारी कभी भी उतने मितव्ययी नहीं हुए, जितने निःशुल्क, सेवा भाव से, काम करने वाले साधारण व्यक्ति होते हैं। इस कारण शिक्षा जब जनता के हाथ में चली जायेगी, तो इतनी मँहगी नहीं रहेगी, जितनी सरकारी महकमे के हाथ में है।

इसके अतिरिक्त शिक्षा विभाग का बहुत-सा धन व्यर्थ की इमारतों, उनमें फरनीचर और अन्य अनावश्यक उपकरणों पर होता है। हमारी योजना में शिक्षा बच्चों की १३ वर्ष की आयु तक निःशुल्क और अनिवार्य होनी चाहिये। साथ ही इस काल में शिक्षा का मुख्य बल भाषा, व्यावहारिक गणित और अध्यात्म की प्राम्भिक शिक्षा देने में होना चाहिये। इनकी शिक्षा के लिए कुछ बहुत लम्बे-चौड़े उपकरणों (साज़ो-सामान) की आवश्यकता नहीं रहेगी और न ही इन पाठशालाओं के लिये बड़ी-बड़ी इमारतों की आवश्यकता रहती है।

होना यह चाहिये कि पाठशालाएँ उद्यानों में, धर्मशालाओं, मन्दिरों, मस्जिदों अथवा अन्य सार्वजनिक स्थलों में लगनी चाहिएँ। गाँवों की पञ्चायतें अथवा कस्बों में नगरपालिकाएँ तथा निगम इन स्थानों को पाठशालाओं के लिये दिलवायें।

कोई भी अध्यापन कार्य करने की योग्यता रखने वाला व्यक्ति एक पाठशाला खोल सकता है। अथवा कोई सभा, समाज धर्मसंस्था व आयोग पाठशाला खोल सके। सरकार, यदि यह वर्तमान स्तर पर कर प्राप्त करती है तो विद्यार्थियों की संख्या के अनुसार पाठशाला खोलने वाले को अनुदान दे। यह अनुदान तीन रुपये से पाँच रुपये तक प्रति विद्यार्थी प्रतिमास हो सकता है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस स्तर की शिक्षा के लिये सरकार को आठ करोड़ विद्यार्थियों के लिये तीन सौ करोड़ रुपये के लगभग चाहियें। भारत के राज्यों को यह धन देना ही चाहिये। यदि इस आयु के बच्चों की शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य की जायेगी तो सरकार को, कम से कम, इतना रुपया व्यय करना ही होगा। यदि सरकार यह कार्य स्वयं करेगी तो व्यय और भी अधिक होगा।

स्कूलों का समय ऐसा रखा जा सकता है जो किसी भी स्थान और ऋतु में अनुपयुक्त न हो।

सरकार का काम है कि वह देखे कि पाँच वर्ष से चौदह वर्ष की आयु का कोई बालक-बालिका किसी पाठशाला में जाता है अथवा नहीं? न जाने वाले के संरक्षकों को विवश किया जा सकता है कि वह जाये। सरकार का दूसरा काम है कि वह यह देखे कि अनुदान प्राप्त करने वाला अध्यापक अथवा संस्था पाठशाला और अनुदान के अनुसार विद्यार्थी रखता है अथवा नहीं?

एक अध्यापक चालीस से पचास विद्यार्थियों को सुगमता से पढ़ा सकता है। विशेष रूप में जब पढ़ने वाले बच्चे एक ही श्रेणी के हों और डेढ़ सौ रुपये का अनुदान उनको पढ़ाने के लिये पर्याप्त होगा। शेष रुपया पाठशाला के लिये उपकरण इत्यादि पर व्यय होना चाहिए।

यह अनुदान का धन तथा विद्यादान की महिमा अध्यापकों तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के लिये एक महान प्रेरणा होगी, जिससे ऐसी पाठशालाएँ लाखों की संख्या में खुल जानी असम्भव नहीं हैं। हम तो यह भी चाहेंगे कि जनता को इस काम के लिये प्रेरणा दी जाये तो इस धन-राशि में से अधिकांश सार्वजनिक दान-दक्षिणा से प्राप्त हो सकेगी और सरकार इस धन-राशि में से बचा कर उच्च शिक्षा पर व्यय कर सकेगी।

१३ वर्ष की आयु से ऊपर के बच्चों की शिक्षा अनिवार्य होने की आवश्यकता नहीं। यह भी अनुमान होना चाहिये कि आठ से दस करोड़ बच्चों में से एक-सवा करोड़ बच्चे प्रति वर्ष पाठशालाओं में से निकलेंगे और इनमें से लगभग पचास-साठ लाख के लिये विद्यालयों की आवश्यकता होगी। और इन पचास-साठ पर भी लगभग तीन से चार सौ करोड़ रुपया ही व्यय होना चाहिये। विद्यालयों के लिये इमारतों की, फरनीचर की तथा उपकरणादि की आवश्यकता होगी। सरकारी अनुदानों तथा धनी-मानी सेठों की दान-दक्षिणा से यह धन प्राप्त किया जा सकता है।

लगभग एक-सवा लाख पाठशालाओं से पढ़े विद्यार्थी, जो विद्यालयों में स्थान नहीं पा सकें, समाज में अन्य प्रकार का काम करने लगें। विद्यालयों में प्रवेश शुद्ध योग्यता के आधार पर हो। वे जो प्रवेश परीक्षा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुत्तीर्ण हों वे कुली, कबाड़ी, चपरासी इत्यादि के कार्य में लग सकें। इनमें से ही सेना के लिये सैनिक, पुलिस के सिपाई और इसी प्रकार के कार्यों के लिए भरती किये जायें। खेतों में काम करने वाले अथवा लोहार, बढ़ई इत्यादि कामों के करने वाले भी इसी स्तर की शिक्षा प्राप्त बच्चे लिये जायें।

साधारण पाठशालाओं में से पढ़े बच्चे या तो उक्त प्रकार के कार्य करें अथवा दस्ती काम करने वालों के साथ कार्य कर कोई दस्तकारी सीखें। यह अपनी-अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुसार ही कर सकें।

विद्यालयों की शिक्षा १८ वर्ष की आयु तक चलेगी। प्रति वर्ष परीक्षा लेकर वे विद्यार्थी जो पढ़ाई में लग्न नहीं रहेंगे, विद्यालय से पृथक् किये जा सकेंगे। लड़के और लड़कियों के लिए विद्यालय पृथक्-पृथक् हों।

वे बच्चे जो विद्यालयों की पाँच वर्ष की शिक्षा पूर्ण कर १८ वर्ष के हो जायें, महाविद्यालयों में प्रवेश पा सकें। इनके लिये भी प्रवेश परीक्षा हो। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि तीस-चालीस हजार विद्यालयों से प्रति वर्ष निकलने वाले विद्यार्थियों में से बीस लाख प्रतिवर्ष ही महाविद्यालयों में प्रवेश पा सकें। महाविद्यालयों की शिक्षा तो केवल अति योग्य विद्यार्थियों के लिये ही हो। महाविद्यालयों की शिक्षा तीन वर्ष की हो और इनमें सदा साठ-सत्तर लाख विद्यार्थी पढ़ें। शिक्षा का स्तर अत्यन्त ऊँचा हो और विद्यार्थी अपने-अपने विषय की विशेष शिक्षा प्राप्त कर ही निकलें।

महाविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी विश्वविद्यालयों द्वारा परीक्षा देकर स्नातक की पदवी पा सकें ये अध्यापक, विद्यार्थी, वैद्य, डॉक्टर, इन्जीनीयर, वकील, न्यायाधीश इत्यादि कार्यों के लिये अथवा सरकारी कार्यालयों में उच्च पदवियों के लिये उपयुक्त समझे जायें।

महाविद्यालयों का खर्चा भी सरकार के अनुदानों और सार्वजनिक दान-दक्षिणा से चले।

विश्वविद्यालय तो केवल मात्र विद्वान लोग ही खोल सकें। जब कोई विद्वान किसी एक अथवा अधिक विषयों का विश्वविद्यालय खोलना उचित समझें तो वह जनता और सरकार के सामने उस विश्वविद्यालय के खोलने के लाभ-हानि का वृत्तान्त उपस्थित करें। जब कोई सार्वजनिक संस्था अथवा सरकार उस विषय के विश्वविद्यालय की आवश्यकता अनुभव करें तो विश्वविद्यालय वह खुलना ही चाहिये, उसके लिये धन आना ही चाहिये।

ये विश्वविद्यालय विषय-विशेष में अन्वेषण कार्य के लिये ही हों। किसी विषय के अन्वेषण के लिए आवश्यक अध्ययन का प्रबन्ध तो हो ही, परन्तु इनका मुख्य कार्य उस विषय में अन्वेषण चलाने का हो। ये अन्वेषण कार्य विषय के विशेष विद्वानों के आश्रय ही चलें। जब किसी कारण से किसा विषय का विशेष विद्वान उपलब्ध नहीं रहे, तो उस अन्वेषण कार्य को बन्द कर देना होगा। और यदि उस विश्वविद्यालय के पास कोई अन्य विषय और उसके विद्वान नहीं हों तो विश्वविद्यालय बन्द करना होगा।

ऐसे विश्वविद्यालय देश में सैंकड़ों होंगे और इनपर भी सौ-दो सा करोड़ की धन-राशि सार्वजनिक दान-दक्षिणा से एवं सरकारी अनुदानों से व्यय हो।

इस प्रकार लगभग दस करोड़ पाठशालाओं के विद्यार्थियों, चार-पाँच करोड़ विद्यालयों के विद्यार्थियों, सत्तर-अस्सी लाख महाविद्यालय तथा एक लाख विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए पूर्ण व्यय लगभग ८०० करोड़ रुपया हो और शिक्षा जैसी आवश्यक बात के लिये इतना धन देश में से निकालना कठिन नहीं होगा। यह धन केन्द्रीय सरकार, राजकीय सरकारें, नगर निगम और पंचायतें तथा धनी-मानी लोग दान-दक्षिणा द्वारा देने में समर्थ हैं। इसका अधिकांश तो केवल देश के सेल्स टैक्स में से ही प्राप्त हो जायेगा।

हमारा यह मत है कि जनता के हाथ में इस धन का अपव्यय, सरकारी कर्मचारियों के हाथ की अपेक्षा कम होगा। इस पर भी सरकारी आय-व्यय निरीक्षक (auditors) इस व्यय का समय-समय पर निरीक्षण कर सकते हैं।

शिक्षा का स्तर

मुख्य बात शिक्षा की ही है। हमने यह ऊपर वर्णन किया है कि शिक्षा को दो बन्धनों से मुक्त करना परमावश्यक है। सर्वप्रथम भौतिकवाद से। हमने यह समझाने का यत्न किया है कि भौतिक उन्नति का किसी जाति में अपना स्थान है परन्तु भौतिक उन्नति भौतिकवाद से एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्न वस्तु है। भौतिकवादी तो मनुष्य को केवल मात्र शरीर ही समझता है और शारीरिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करना ही मानव जीवन का ध्येय मानता है।

इसके विपरीत भौतिक उन्नति के अर्थ तो मन और आत्मा की उन्नति के साथ-साथ भौतिक उन्नति अर्थात् शरीर के सुख-साधनों में उन्नति, के हैं।

अतः शिक्षा का क्रम इस बात का ध्यान रखकर ही रखना होगा। दूसरी बात थी राजनीतिक नियंत्रण से शिक्षा की मुक्ति। यह सरकार के शिक्षा में हस्तक्षेप न करने से ही हो सकती है।

सरकारी शिक्षा पर नियंत्रण उठा लेने से शिक्षा का एक जैसा स्तर (standard) और शिक्षा से जातीय ऐक्य को स्थित रखने का प्रश्न उत्पन्न होता है। हमारा यह निश्चित मत है कि शिक्षा को राजनीतिक नियंत्रण से मुक्त रखने के साथ, उक्त दोनों प्रश्नों का सम्बन्ध नहीं है। शिक्षा का स्तर और राष्ट्रीय ऐक्य रह सकता है और कदाचित अधिक अच्छी तरह से रह सकता है, यदि इस पर से सरकारी नियंत्रण उठा लिया जाये।

विद्यालयों में प्रवेश परीक्षा को ठीक ढंग से चलाने पर पाठशालाओं की पढ़ाई को उचित स्तर तक ले जाया जा सकता है। साथ ही पाठशालाओं के पाठ्यक्रम के नियत करने से राष्ट्रीय विरोधी शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता हैं। राष्ट्र विरोधी शिक्षा देना एक अपराध घोषित करना होगा, जिसके लिए कठोर दण्ड होगा। इस पर भी हमारा विचार है कि जाति में से अपराध उन्मूलन प्रेरणा से ही हो सकता है, न कि कानून और दण्ड-विधान से। राष्ट्रीय विरोधी शिक्षा दण्डित करने से हमारा आशय किसी सम्प्रदाय का विरोध नहीं है। हम साम्प्रदायिक शिक्षा को राष्ट्र विरोधी शिक्षा नहीं मानते। शर्त यह है कि सम्प्रदाय राजनीतिक आधार पर न हों।

सम्प्रदायों के आधार अनेक हैं। यथा भौगोलिक स्थिति। उदाहरण के रूप में बंगाली, गुजराती, तमिलियन आन्ध्रियन इत्यादि इसी प्रकार सम्प्रदाय का आधार भाषा, वस्त्र, भोजन, अथवा मजहब (पंथ) इत्यादि अनेक हो सकते हैं। इन सब में व्यक्ति को स्वतंत्रता और इनका समावेश शिक्षा में करने की स्वीकृति होनी चाहिये। प्रतिबन्ध यह होना चाहिए कि इनके आधार पर राजनीतिक अस्तित्व अथवा अधिकार संचय करना अपराध हो। ये सम्प्रदाय राष्ट्र के अंग बन फल-फूल सकते हैं। सम्प्रदाय राष्ट्र नहीं बन सकता।

उदाहरण के रूप में राष्ट्रभाषा का प्रश्न है। यह निश्चय हो जाने के अनन्तर कि अमुक भाषा राष्ट्र की भाषा होगी, उस भाषा का विरोध अथवा उसके स्थान पर किसी अन्य भाषा को बैठाने का यत्न राष्ट्रद्रोह होगा। जनमत को प्रेरित करना तो द्रोह नहीं है। किन्तु जब किसी अल्पमत को देश पर बलपूर्वक लादने का यत्न किया जायेगा अथवा जब मतभेद होने पर अल्पमत देश तथा राष्ट्र से अलग होने की बात कहेगा, तब जनमत को प्रेरित करना भी द्रोह हो जायेगा। उदाहरण के रूप में तमिल भाषाभाषी अपने बच्चों को तामिल पढ़ायें। वे तमिल के माध्यम से अपने बच्चों की शिक्षा चला सकते हैं, परन्तु जब वे तमिल अथवा अंग्रेजी को राज्यभाषा बनाने के लिए कहेंगे और उनकी बात न मानी जाने पर देश छोड़ देने की बात कहेंगे तो निस्सन्देह वह देशद्रोह होगा। उनके लिये एक ही मार्ग है। वह है अंग्रेजी अथवा तमिल की श्रेष्ठता राष्ट्रभाषा से अधिक जनता के मन में अंकित करें। जब बहुमत उनके पक्ष में हो जायेगा, तब संसदीय निर्णय से उनकी बात मानी जायेगी।

इस विषय में अंग्रेजी अथवा लेटिन लिपि वालों की बात का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। अंग्रेज़ी के पक्ष में उनका यह कहना रोका नहीं जा सकता कि अंग्रेजी समृद्ध और हिन्दी से अधिक प्रचारित भाषा है। परन्तु अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे अल्पसंख्यकों का हठ करना कि वे हिन्दी नहीं पढ़ेंगे अथवा उनका यह अटल कथन कि लेटिन लिपि देवनागरी लिपि से अधिक सुविधा से प्रयुक्त हो सकती है, दंडनीय हो सकता है। यह ठीक है कि इतनी सी बात के लिए दंडनीय विधान की सहायता की आवश्यता नहीं। हाँ, जनमत से इनका मुख बन्द करने की आवश्यकता अवश्य है। किसी अटल बात का प्रचार अथवा उसको मनाने के लिए हठ की कहीं तो समाप्ति होनी ही चाहिये।

भाषा की भान्ति अन्य साम्प्रदायिक आधारों के विषय में भी कहा जा सकता है। एक मुसलमान को इस्लाम का वह अंश प्रसारित करने का अधिकार तो है, जहाँ तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लाम काफिरों के प्रति घृणा और अत्याचार नहीं सिखाता। इस प्रकार के अंश, जिनमें मुहम्मद साहब पर ईमान न लाने वालों को काफिर माना जाता है, और उनसे घृणा तथा उनपर बलात्कार का सुझाव है, देश के कानून के विपरीत होने से वर्जित होने चाहिएँ यही बात अन्य सम्प्रदायों की हो सकती है।

जब शिक्षा राजकीय विषय नहीं रहेगी, तब शिक्षा में उक्त प्रतिबन्धों के अन्तर्गत सम्प्रदाय की शिक्षा दी जा सकेगी।

शिक्षा में केवल प्रतिबन्धों के अन्तर्गत रहने की बात ही नहीं है, प्रत्युत राष्ट्र की एकता शिक्षा का अंग होना चाहिये। हमारा यह मत है कि भारत में वर्तमान राज्य ने शिक्षा को अपने हाथ में ले कर जहाँ असाम्प्रदायिक शिक्षा को तो मना कर दिया है; वहाँ राष्ट्र के विषय में शिक्षा का अभाव अथवा विकृति उत्पन्न कर दी है। राष्ट्र के लिए निष्ठा और श्रद्धा उत्पन्न करने के स्थान देश के उद्योग-धन्धों के लिए रुचि उत्पन्न करने का यत्न राष्ट्र की मिथ्या कल्पना उत्पन्न करना है। राष्ट्र उद्योग-धन्धे नहीं हैं, न ही ये देश की सड़कें, नदी, नाले, और बाँध हैं। राष्ट्र की एक अन्य कल्पना शिक्षा में घुसती आ रही है। वह है असाम्प्रदायिकता को राष्ट्रवाद मानना। राष्ट्रवाद इससे सर्वथा भिन्न मन की उस भावना को कहते हैं, जिससे देश में रहने वाले जनसमूह के प्रत्येक घटक के लिए आदर-सम्मान और स्नेह संचारित हो। यह शिक्षा द्वारा ही हो सकता है और शिक्षा का पाठ्यक्रम इसका ध्यान रखकर ही बनाया जाना चाहिए।

पाठ्यक्रम

प्रारम्भिक शिक्षा, जो पाठशालाओं में दी जानी चाहिये, में विषयों की भरमार नहीं होनी चाहिये। इसमें प्राथमिकता भाषा को मिलनी चाहिये। इन आठ वर्षों में भाषा का सर्वोच्च ज्ञान हो जाना चाहिये। भाषा में क्षेत्रीय भाषा और राष्ट्रभाषा ही होनी चाहिये।

भाषा के साथ विहङ्गम ज्ञान इतिहास का तथा व्यावहारिक गणित का भीं होना चाहिये। आध्यात्मिक शिक्षा प्रारम्भ से ही होनी चाहिये।

पूर्ण समय, जो विद्यार्थी के पास पढ़ने के लिए हो, का ५०% भाषा ज्ञान के लिए, २०% गणित और २०% इतिहास के लिए, शेष १०% आध्यात्मिक शिक्षा के लिए होना चाहिये।

इतिहास में भूगोल का संक्षिप्त ज्ञान और वर्तमान राज्य-प्रणाली का ज्ञान सम्मिलत हो।

अध्यापक अथवा सार्वजनिक संस्थाएँ पाठशालाओं को निजी रूप पर चलायेंगी। इस कारण इनमें शिक्षा का स्तर निश्चय करने के लिए विद्यालयों में प्रवेश परीक्षा का स्तर निश्चय होना चाहिये। इससे स्वयमेव पाठशालाओं के शिक्षा-स्तर का निश्चय हो जायगा।

प्रारम्भिक शिक्षा में संगीत और कुछ चित्र कला इत्यादि का ज्ञान भी आवश्यक है और यह अध्यातम का एक अंग होना चाहिये।

पाठशालाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए पढ़ने वाले विषयों की भरमार नहीं होनी चाहिये। आवश्यक बात है भाषा की। भाषा का ज्ञान उच्च हो जाने से पाठशालाओं से निकलने वाले विद्यार्थी किसी भी विषय में स्व-शिक्षा (Self Study) कर सकने में सबल हो जायेंगे।

यह शिक्षा जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, अनिवार्य और निःशुल्क होनी चाहिये। इस कारण यह ऐसी होनी चाहिये, जो सब विद्यार्थी ले सकें और फिर यदि वे उच्च शिक्षा न भी प्राप्त कर सकें तो जीवन में इससे लाभ उठा सकें। यही कारण है कि इतिहास इत्यादि साधारण शिक्षा के साथ भाषा के ज्ञान पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। भाषा सब प्रकार की विद्याओं का मार्ग है अतः इसका पर्याप्त ज्ञान होना चाहिये।

अध्यात्म शिक्षा तो पूर्ण शिक्षाकाल में चलनी चाहिये। इस कारण इसकी, नित्य, इतनी मात्रा ही मिलनी चाहिये जितनी हज़म हो सके। अध्यात्म शिक्षा के व्यावहारिक अंग पर बल मिलना चाहिये।

माध्यमिक शिक्षा—इस को देने की संस्थाओं को विद्यालय का नाम दिया गया है। ये विद्यालय लड़कियों और लड़कों के लिए पृथक्-पृथक् होने चाहियें। यह शिक्षा निःशुल्क तो हो, परन्तु अनिवार्य न हो। इनमें वे बच्चे ही शिक्षा पा सकें जो इनकी प्रवेश-परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हों। प्रवेश-परीक्षा का स्तर विश्वविद्यालयों की एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समिति निश्चय करे। इस परीक्षा में उतने विद्यार्थी ही उत्तीर्ण किये जायें, जितनों के लिए विद्यालयों में स्थान हो। ऐसा प्रबन्ध और प्रेरणा होनी चाहिये कि जाति के कम से कम पचास प्रतिशत बच्चे इनमें प्रवेश प्राप्त कर शिक्षा ले सकें।

जहाँ प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक बच्चे का अधिकार है, वहाँ माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करना केवल योग्य विद्यार्थियों का ही अधिकार है। इस स्तर पर निर्धन विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त करने में सहायता भी मिलनी चाहिये।

लड़के लड़कियों के विद्यालय पृथक्-पृथक् केवल चरित्र के विचार से ही नहीं किये गये, प्रत्युत इनकी शिक्षा में विभिन्नता के कारण भी किये गये हैं।

विद्यालयों के लिए इमारतें और सामान आवश्यक हैं। इस स्तर की शिक्षा के लिए सरकारी अनुदान और दान-दक्षिणा के लिए प्रेरणा अधिक होनी चाहिये।

इस स्तर पर क्षेत्रीय भाषा और राष्ट्र भाषा की शिक्षा अनिवार्य नहीं रहनी चाहिये। उन भाषाओं की शिक्षा इन विद्यार्थियों के लिए ही होनी चाहिये, जो इनमें साहित्याचार्य बनना चाहते हों। ये भाषाएँ वैकल्पिक विषयों में होंगी।

इस स्तर पर देश की किसी एक अन्य क्षेत्रीय भाषा का साधारण ज्ञान प्राप्त करना एक विषय होगा। इसके साथ एक विषय रुचि तथा इच्छानुसार कोई ललित कला हो। एक विषय दस्तकारी, जिस में मशीन फिटिंग, बढ़ई, लोहार, खिलौने बनाने इत्यादि होंगे, लेना हो।

इन उक्त विषयों के अतिरिक्त तीन अन्य विषय भी हों। इन तीन विषयों में एक अनिवार्य विषय विज्ञान हो और दूसरे दो विषयों में उच्च गणित, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, तत्त्वशास्त्र, राष्ट्रभाषा, क्षेत्रीय भाषा इत्यादि में से कोई दो हों।

इस प्रकार अनिवार्य विषय विज्ञान और अध्यात्म हो। वैकल्पिक विषय में क्षेत्रीय भाषाओं में एक, दस्तकारियों में एक, ललित कलाओं, और गणित इतिहासादि में से दो हों। अर्थात् विद्यार्थी को कुल छः विषय पढ़ने होंगे।

इन में समय-विभाग इस प्रकार हो। विज्ञान २०% गणितादि दो विषय २०-२०%। अध्यात्म, ललितकला, शिल्पकला और क्षेत्रीय भाषा १०-१०%।

पाठशालाओं की भाँति विद्यालयों की शिक्षा का स्तर स्थिर करने के लिए भी महाविद्यालयों में प्रवेश परीक्षा का स्तर निश्चय करना होगा। इसको निश्चय करने के लिए भी विश्वविद्यालय की एक समिति होगी।

उच्च शिक्षा केन्द्रों को महाविद्यालय कहा जाये। इसमें विद्यार्थी १८ वर्ष की आयु से २१ वर्ष की आयु तक के लिए जायें। महाविद्यालयों की प्रवेश परीक्षा में बैठने के लिए विद्यालयों की पाँच वर्ष की शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थी तो बैठ सकें। साथ ही इन विद्यालयों में न पढ़े हुए, पाठशालाओं से पढ़ आगे शिक्षा न ले सकने वाले विद्यार्थी भी, विश्वविद्यालय परीक्षा समिति की स्वीकृति से, बैठ सकें।

पाठ्यक्रम में अध्यात्म विद्या के अतिरिक्त तीन विषय हों। एक मुख्य विषय। यह कोई एक विज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र, तत्त्वशास्त्र, कोई ललित कला, राजनीति, इतिहास, भाषा विज्ञान इत्यादि में से होगा। साहित्य भी एक विषय हो सकता है।

इस मुख्य विषय के साथ एक सहायक विषय हो। यह रसायनशास्त्र के साथ भौतिकी और भौतिकी के साथ रसायनशास्त्र। अर्थशास्त्र के साथ राजनीति और राजनीति के साथ अर्थशास्त्र अथवा तत्त्वशास्त्र। इसी प्रकार गणित के साथ भौतिकी।

तीसरा विषय कोई विदेशीय भाषा अथवा संस्कृत हो। विदेशीय भाषा अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जर्मन, रूसी इत्यादि में से कोई एक हो।

इनका समय-विभाग इस प्रकार हो। मुख्य विषय ४०%, सहायक विषय ४०%, विदेशीय भाषा १०% और अध्यात्म १०%।

विद्यालयों की अन्तिम परीक्षा स्नातक-परीक्षा कहाये और यह परीक्षा सम्बन्धित विश्वविद्यालय ले। विश्वविद्यालयों के विषय में हमारी कल्पना यह है कि वे एक अथवा अनेक विषयों के अन्वेषण केन्द्र हों और महाविद्यालयों की स्नातक परीक्षा के स्तर उसी विषय के विश्व विद्यालय निश्चय करें। जहाँ एक ही विषय के, देश में, एक से अधिक विश्वविद्यालय हों, वहाँ स्नातक परीक्षा समिति उन सब विश्वविद्यालयों की संयुक्त समिति हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका अभिप्राय यह है कि देश में शिक्षा स्नातक उत्पन्न करने के लिये है। देश के सब विद्यार्थी स्नातक बन नहीं सकते अथवा सब विद्यार्थियों को विद्यालय और महाविद्यालयों के मार्ग से स्नातक पद तक पहुँचाने की आवश्यकता नहीं। इस कारण स्नातक परीक्षा में, विशेष स्वीकृति से, कोई भी परीक्षार्थी बैठ सकता है। परीक्षा का स्तर (Standard) ऐसा रखा जाये कि जिस से प्राइवेट परीक्षार्थियों की संख्या कम से कम हो। साथ ही महाविद्यालयों के लिये किसी प्रकार के सरकारी अथवा गैरसरकारी चार्टर (स्वीकृति) की आवश्यकता न होने से, शिक्षा स्तर ही मुख्य बात रह जायेगी।

यह हमने पहिले लिख दिया है कि न तो किसी नौकरी पाने के लिये, न ही किसी उच्च शिक्षा के अर्थ, किसी संस्था में प्रवेश पाने के लिये पाठशालाओं, विद्यालयों, तथा महाविद्यालयों की शिक्षा इस बात की योग्यता का प्रमाण होगा। प्रत्येक नौकरी अथवा प्रवेश के लिये पृथक् परीक्षा देने की आवश्यकता होनी चाहिये। इसमें उद्देश्य यह है कि शिक्षा विद्या ग्रहण करने के निमित्त होगी। शिक्षा का सांसारिक लाभ-हानि के लिये, प्रयोग करने की, व्यक्ति को स्वतंत्रता तो है। परन्तु उसका प्रयोग इन शिक्षा संस्थाओं से पृथक् रखना ठीक समझा गया है।

महाविद्यालयों की अंतिम परीक्षा स्नातक ही एक ऐसी पदवी होगी, जिसका अपना कुछ महत्त्व होगा। उदाहरण के रूप में एक कानून का विषय लेकर बना स्नातक वकालत कर सकेगा अथवा एक इन्जीनीयरिंग में स्नातक इन्जीनीयर का कार्य कर सकेगा।

स्नातक ही विश्वविद्यालयों में अन्वेषण कार्य के लिये प्रवेश पा सकें। वह भी वही स्नातक जो पर्याप्त ऊँचे अंक लेकर उत्तीर्ण हों। प्राइवेट विद्यार्थी भी जो अन्वेषण कार्य के लिये आयेंगे, वे स्नातक परीक्षा में उत्तीर्ण होने के उपरान्त ही, अच्छे अंक लेने पर, विश्वविद्यालयों में प्रवेश पा सकें।

विश्वविद्यालय

ये तो विशेष विषयों में अन्वेषण कार्य के लिये खोले जायें। इनमें अन्वेषण कार्य देश अथवा विदेश के विशेष विद्वानों के कार्य के लिये उपलब्ध होने पर ही आरम्भ किये जायें और वे विद्वान अपने साथ कार्य करने के लिये उस विषय में अन्वेषण कार्य के लिये विद्यार्थियों का निर्वाचन करें। उनको उच्च स्तर के स्नातकों में से ही निर्वाचन करना चाहिए।

जब किसी विभाग में अन्वेषण विशेषज्ञ का अभाव हो जाये, तो वह विभाग बन्द कर दिया जाना चाहिये।

अन्वेषण कार्य के आरम्भ करने से पूर्व विषय की विशेष शिक्षा अथवा अध्ययन का भी प्रबन्ध हो। इसको स्नातोत्तर शिक्षा कहा जाये।

अन्वेषण कार्य के अतिरिक्त यह कार्य विश्वविद्यालयों का हो कि वे अपने निरीक्षण में, पाठशालाओं, महाविद्यालयों में शिक्षा और उनमें प्रवेश परीक्षाओं का पाठ्यक्रम बनवायें। विश्वविद्यालयों में कार्य करने वाले अध्यापकों और विद्यार्थियों के जीवनयापन के लिये प्रबन्ध विश्वविद्यालय में से हो। इनका पूर्ण खर्चा दान अथवा सरकार के अनुदान से हो। शिक्षा इत्यादि कार्यों से विश्वविद्यालय पूर्ण रूपेण स्वतंत्र हों।

शिक्षा प्रपंच पर यह संक्षेप सा वृत्तान्त इस उद्देश्य से लिखा गया है, जिससे शिक्षा में सुधार की दिशाओं का दर्शन कराया जा सके। ये सुझाव न तो पूर्ण हैं, न ही अंतिम। इस पर भी ये एक दिशा का निर्देश करते हैं। हमारा मत है कि इस दिशा में चलने से शिक्षा अपने उद्देश्य की पूर्ति की ओर जायेगी।

अपने इस लेख का संक्षेप हम यहाँ दे देना चाहते हैं।

(१) भारत की जीवन मीमांसा भौतिकवादी नहीं है। यह भौतिक उन्नति को तो स्वीकार करती है, परन्तु इस संसार में भौतिक सृष्टि के अतिरिक्त आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को मानते हुए, यह उन्नति में धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष चारों का समावेश करती है। अतएव शिक्षा को तब तक अपूर्ण मानती है, जब तक इसमें अध्यात्म विद्या का समावेश न हो। अतः शिक्षा को पूर्ण करने के लिये इसमें अध्यात्मवाद और अध्यात्म विद्या के विद्वानों को स्थान मिलना चाहिये।

अध्यात्म विद्या की शिक्षा पठन-काल के आरम्भ से अंत तक होनी चाहिये। इसको हमने शिक्षा की भौतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाद से मुक्ति का नाम दिया है।

(२) शिक्षा को राजनीतिक दल अथवा शासन से पृथक् रखना चाहिये। इन राजनीतिक शक्तियों को शिक्षा कार्य में हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिये। सरकार शिक्षा के लिये धन तो दे, उस धन का आय-व्यय-निरीक्षकों से निरीक्षण कराये, परन्तु उस धन से दी जाने वाली शिक्षा अथवा उसके प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इसको हमने शिक्षा की राजनीति से मुक्ति का नाम दिया है।

(३) शिक्षा (Secular) नहीं हो सकती। शिक्षा का घना सम्बन्ध मन और आत्मा के साथ होने से यह स्वाभाविक रूप में साम्प्रदायिक होगी। परन्तु साम्प्रदायिक के अर्थ न तो अराष्ट्रवादी के हैं, न ही किसी के लिये घृणा अथवा द्वेष फैलाने वाली शिक्षा से हैं।

ये दोनों बातें, द्वेष और राष्ट्रद्रोह तो दंड विधान से दंड के योग्य मानी जानी चाहियें। कठिनाई यह है कि इस समय शासन उन निर्वाचित व्यक्तियों के हाथ में है, जो अपने निर्वाचन में सफलता को देश-हित से भी ऊँचा मानते हैं। वे राष्ट्रविरोधी तत्त्वों को दंड नहीं देते और सदा उनके मतों से निर्वाचित होने की आशा में उनके दोषों की ओर से आँखें मूँद लेते हैं।

सम्प्रदाय तो मनुष्य की उन्नति के लिये निर्माण किये गये हैं। इनको राजनीतिक शक्ति-संचय करने के लिये नहीं बनाया गया। यदि सम्प्रदाय के आधार पर राजनीतिक शक्ति संचय अथवा राजनीतिक लाभ प्राप्त करने का यत्न किया जाये तो वह राष्ट्रविरोधी घोषित करना कानून और शासन का काम है। इस बात के अतिरिक्त सम्प्रदायों को अपने-अपने सम्प्रदाय के प्रसार में स्वतंत्रता देनी चाहिये। सम्प्रदाय की शिक्षा देना भी अपराध नहीं रहे।

किस सम्प्रदाय का प्रसार होगा और किसका नहीं, यह सम्प्रदाय के गुण-अवगुणों पर निर्भर हो जायेगा।

(४) प्रारम्भिक पाठशालाओं में पढ़ाई अनिवार्य होगी। यह बच्चों के १३ वर्ष तक की आयु अर्थात् आठ वर्ष तक चलेगी। अंतिम तीन वर्षों में लड़के और लड़कियों की श्रेणियाँ और पाठशालाएँ पृथक्-पृथक् हों। इस स्तर पर भाषा सिखाने में बल दिया जाये। योजना ऐसी हो कि इन आठ वर्षों में क्षेत्रीय भाषा और राष्ट्र भाषा की शिक्षा इतनी हो जानी चाहिये कि ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें पढ़ कर समझने की योग्यता विद्यार्थी में आ जाये। भाषा के साथ व्यावहारिक गणित, अध्यात्म शिक्षा और इतिहास का प्रारम्भिक ज्ञान भी होना चाहिये।

(५) पाठशालाओं की पढ़ाई समाप्त करने की परीक्षा अनावश्यक है। विद्यालयों में प्रवेश परीक्षा होनी चाहिये। यह शिक्षा सबके लिये अनिवार्य न हो। केवल योग्य विद्यार्थी ही इसको पा सकें। इसमें पाँच वर्ष की पढ़ाई हो। जिसमें अध्यात्म विद्या, विज्ञान, कोई क्षेत्रीय भाषा, कोई ललित कला तथा हाथ की दस्तकारी के विषय के अतिरिक्त निम्न विषयों में से कोई दो विषय अवश्य पढ़ने पड़ें—उच्च गणित, उच्च इतिहास, भूगोल, राजनीति, तत्त्वशास्त्र, राष्ट्रभाषा, साहित्य और अपनी क्षेत्रीय भाषा एवं साहित्य इत्यादि।

(६) महाविद्यालयों की पढ़ाई तीन वर्ष तक चले। इनमें अध्यात्म विद्या के अतिरिक्त तीन विषय और पढ़ने पड़ें। एक मुख्य विषय हो और दूसरे दो सहायक विषय हों। विदेशीय भाषा अथवा संस्कृत उस मुख्य विषय में सहायक विषय के रूप में हों। लड़के-लड़कियों के लिये महाविद्यालय पृथक्-पृथक् हों।

(७) विश्वविद्यालयों में बहुत योग्य और चुने हुए विद्यार्थी ही लिए जायें। विश्वविद्यालयों का मुख्य कार्य अन्वेषण कार्य होगा। अध्यात्म भी अन्वेषण का एक विषय हो सकता है।

(८) औद्योगिक शिक्षा उद्योगपतियों का अथवा सेना और पुलिस विभाग का कार्य हो। पाठशालाओं की शिक्षा के अनन्तर कोई भी विद्यार्थी किसी विद्यालय अथवा महाविद्यालय में पढ़ता हुआ अथवा न पढ़ता हुआ उद्योगपतियों द्वारा चालू किये गये उद्योग-धंधों की शिक्षा प्राप्त कर सके।

(९) कोई भी सभा, समाज, साम्प्रदायिक अथवा असाम्प्रदायिक, अथवा विद्वान व्यक्ति पाठशाला, विद्यालय अथवा महाविद्यालय खोल सकता है। सरकार विद्यार्थियों की संख्या और सिखाये जाने वाले विषयों का विचार कर धन का अनुदान दे। धनी-मानी सज्जनों से भी, उनको

(शेष पृष्ठ ८१ पर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ वर्णाश्रम धर्म ॥

: शंका समाधान :

[भारतीय संस्कृति परिषद् की एक बैठक में इस विषय पर वाद-विवाद हुआ था। उक्त वाद-विवाद पाठकों के ज्ञान-लाभार्थ यहां उद्धृत किया जा रहा है। —सम्पादक]

वर्णाश्रम धर्म भारतीय समाज की रीढ़ की हड्डी रही है। समाज की व्यवस्था का इसको एक आवश्यक अंग माना गया है। यह भी माना गया है कि जब तक समाज में यह व्यवस्था शास्त्रोक्त विधानानुसार प्रचलित रही, समाज सुखी, व्यवस्थित और शान्तिमय रहा। व्यक्ति और समाज उत्तरोत्तर उन्नति करता रहा और ज्यों-ज्यों इस व्यवस्था में त्रुटियाँ आती गईं अथवा इसका लोप होता गया, समाज में दुर्व्यवस्था, अशान्ति, तथा दुर्बलता आती गई। अतः भारतीय समाजशास्त्रियों का यह निश्चित मत रहा है कि इसका ठीक प्रकार से संचालन समाज और व्यक्ति के लिए हितकारक है।

पूर्व पक्ष—संसार भर में इस व्यवस्था का चलन कहीं नहीं रहा। किसी भी देश में इसको मान्यता नहीं दी जाती। इस पर भी अनेक देशों ने उन्नति की है। इसके विपरीत भारत में, जहाँ इस व्यवस्था के चिह्न अभी भी विद्यमान हैं, समाज घोर पतनावस्था को पहुँच चुका है। अन्य अनेकों देश भारत से बहुत आगे बढ़ चुके हैं। व्यक्तिगत रूप में भी अन्य देशों में मनुष्य अधिक बलशाली, बुद्धिशील और कर्मठ हैं। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, इत्यादि वर्णों का कोई नाम तक नहीं जानता।

उत्तर पक्ष—इस कथन में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। दूसरे देशों की तथाकथित उन्नति उसकी तुलना में कुछ नहीं जो भारतीय समाज में थी। मुख्य बात तो यह समझ लेनी चाहिए कि भारतवर्ष में जो कुछ इस समय प्रचलित है, वह वर्ण-व्यवस्था नहीं है। इसका उपयुक्त नाम जाति-पाँति व्यवस्था है।

पूर्व पक्ष—दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर पक्ष—वर्ण-व्यवस्था गुण, कर्म, स्वभाव प्रधान है। अर्थात् इस व्यवस्था का आधार गुण (योग्यता) कर्म, (व्यवसाय) और स्वभाव (प्रवृत्ति) है। इसके विपरीत जाति-पाँति जन्म-प्रधान है। अर्थात् उसमें माता-पिता की जाति ही सब प्रकार से व्यक्ति की जाति का आधार बन गई है।

पू० प०—ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण, क्षत्रिय का बेटा क्षत्रिय ही माना जाता है। अनेकों वैश्य हैं जो विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक का कार्य कर रहे हैं। परन्तु वे वैश्य समुदाय में ही माने जाते हैं।

उ० प०—यह ठीक है परन्तु इसका अर्थ तो यही है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम भी जाति के रूप में प्रयुक्त होने लगे हैं। जैसे खन्ना, चोपड़ा, जुनेजा आदि-आदि जन्म से जातियाँ हैं, वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि जातियाँ मात्र रह गई हैं। यह तो ऐसे ही है जैसे किसी निर्धन के पुत्र का नाम राजकुमार अथवा विषय-वासना में लिप्त व्यक्ति का नाम ज्ञानेश्वर रख दिया जाता है। यह तो नामकरण के समय की भूल मानी जानी चाहिए। इनका वर्ण धर्म से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

पू० प०—तो आप किसको ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की उपाधि देना चाहते हैं ?

उ० प०—शास्त्र में मनुष्य, प्रवृत्ति अर्थात् स्वभाव के विचार से दो प्रकार के माने गये हैं।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।

भ० गी० १६-६।

इस संसार में दो प्रकार के लोग उत्पन्न हुआ करते हैं। एक देव और दूसरे असुर।

शास्त्र का मत है वर्ण व्यवस्था दैवी प्रवृत्ति वाले समाज के लिए है। आसुरी प्रवृत्ति वाले समाज के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ण-व्यवस्था का कुछ अर्थ नहीं। इसका अर्थ है कि ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सब-के-सब दैवी प्रवृत्ति वाले हैं। आसुरी प्रवृत्ति के लोग वर्ण-व्यवस्था के अधिकारी नहीं हैं।

जब वर्णों की व्यवस्था करते समय हम स्वभाव का उल्लेख करते हैं तो हमारा अभिप्राय है कि सब लोग जिन के लिए वर्ण-व्यवस्था का विधान है, दैवी स्वभाव वाले ही होने चाहिएँ। वर्णों का अपना स्वभाव पृथक् वस्तु है। यह दैवी स्वभाव तो सबके लिए सांझा है।

पू० प०—दैवी तथा आसुरी प्रवृत्ति के लोग कौन हैं?

उ० प०—**अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।**
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
भ० गी० १६-१,३॥

अर्थात् अभय, शुद्ध सात्विक वृत्ति, ज्ञान और कर्म में व्यवस्थित (अपने व्यवसाय में संलग्न) दानी, दम, (इन्द्रियों पर काबू रखना), यज्ञ (लोक कल्याण की भावना) स्वाध्याय (अपने व्यवसाय की विद्या का अध्यन करना) तप, परिश्रमी, सरल-मन, वचन कर्म में सादगी अर्थात् हेर-फेर न रखना (अहिंसा) किसी को हानि न पहुँचाने की भावना, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति (अपनी बात को समझा कर, बलपूर्वक नहीं, कहना) उदार, सब प्राणियों पर दया भाव रखना, लोभ न करना, मृदु (मीठा बोलना), अचपल (चंचलता रहित), तेजयुक्त, धृति, शुद्धता, द्रोह न करना, अभिमान रहित होना, ये दैवी स्वभाव वालों के लक्षण हैं।

आसुरी स्वभाव वालों के लक्षण निम्न प्रकार हैं :—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मनोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥
चिंतामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोन्योऽस्ति सदृशो मया।
यज्ञे दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजाल समावृताः।
प्रसक्ताः काम भोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषितः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
॥ भ० गी० १६, ७-१९॥

असुर स्वभाव वाले नहीं जानते कि करणीय और अकरणीय क्या है। उनमें न तो शुद्धता रहती है, न ही आचार और सत्य।

उनकी धारणा है कि पूर्ण जगत असत्य है, निराधार है, बिना परमेश्वर के है, यह बिना किसी दूसरे के है, इस का कोई अन्य सांसारिक उपभोगों के अतिरिक्त, हेतु भी नहीं।

ऐसी दृष्टि स्वीकार कर ये अल्पबुद्धि वाले नष्टात्मा क्रूर कर्म करते हुए जगत् का क्षय करने के लिए उत्पन्न होते हैं।

कभी भी पूर्ण न होने वाले विषय भोगों का आश्रय करके ये लोग दम्भ, मान और पद से व्याप्त हो कर मोह के कारण मनमानी कल्पना कर गन्दे काम करने में प्रवृत्त रहते हैं।

इसी प्रकार आमरणान्त, अगणित चिन्ताओं में ग्रस्त, कामोपभोग में निमग्न, निश्चय से इसी को सब कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानते हैं।

सैंकड़ों आशा पाशों में बँधे हुए, कामक्रोध परायण सुख लूटने के हेतु अन्याय से बहुत-सा अर्थ संचय करने की तृष्णा करते हैं।

मैंने आज यह पा लिया, कल इस मनोरथ को सिद्ध करूँगा, यह धन मेरे पास है, फिर वह भी मेरा ही होगा।

इस शत्रु को मैंने मार लिया है, एवं औरों को भी मारूँगा। मैं ईश्वर, मैं भोग करने वाला, मैं सिद्ध, बलवान, सूखी हूँ।

मैं सम्पन्न और कुलीन हूँ, मेरे समान और कौन है। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूंगा, मौज करूँगा, इस प्रकार अज्ञान से मोहित अनेक प्रकार की कल्पनाओं में भूले हुए, मोह के फँदे में फँसे हुए और विषय-भोग में आसक्त ये अपवित्र नरक में गिरते हैं।

आत्म-प्रशंसा करने वाले, हठी, अभिमानी, धन और मान के मद से संयुक्त, दम्भ से शास्त्र-विधि छोड़ केवल नाम के लिये यज्ञ किया करते हैं।

अहंकार से, बल से, दर्प से, काम से, क्रोध से फूलकर अपनी और पराई देह में विद्यमान परमेश्वर से द्वेष करने वाले, निन्दक और अशुभ कर्म करने वाले द्वेषी और क्रूर, अधम नरों को परमात्मा आसुरी अर्थात् पाप योनियों में पटकता है।

ये दो स्वभाव के लोग इस संसार में विद्यमान हैं। वर्ण-व्यवस्था आसुरी प्रवृत्ति वाले ग्रहण नहीं करते। वे वर्ण-व्यवस्था के कर्म को समझ ही नहीं सकते। अतः यह उनके लिये नहीं है।

इस स्वभाव के अतिरिक्त गुण तथा कर्म, वर्ण-व्यवस्था के आधार हैं। गुण का अभिप्राय योग्यता से है। जो जो मनुष्य जिस-जिस कार्य करने के योग्य हो, उसको वह कार्य करने के लिये कहना वर्ण-व्यवस्था कहाती है।

ब्राह्मण के गुणों के विषय में लिखा है :—

शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥

म० भा० शा० अ० १८९ श्लोक ३ ॥

शौच एवं सदाचार का पालन करने वाला, यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करने वाला, यज्ञ से बचा हुआ अर्थात् लोक कल्याण कार्य से शेष समय में उपर्जित अथवा बचे हुए अन्न पर निर्वाह करने वाला, गुरु के प्रति प्रेम रखने वाला, नित्य व्रत (नित्य कर्म) करने वाला, सत्य पर आरूढ़ व्यक्ति ब्राह्मण कहाता है।

और भी लिखा है :—

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

म० भा० शा० अ० १८९ श्लोक ४ ॥

ब्राह्मण उसको कहेंगे जो सत्यवादी, दानी, मोह न करने के भाव वाला, क्रूरता का जिसमें अभाव हो, जिसमें लज्जा, दया और तप सद्गुण हों।

ब्राह्मण का कर्म अर्थात् उसका व्यवसाय क्या हो, इस विषय में इस प्रकार लिखा है :—

वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः ॥

म० भा० शा० अ० १८९–२ ॥

वेदों के स्वाध्याय में निरत निम्नलिखित छः कर्मों में अवस्थित व्यक्ति।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥

मनु० १-८८ ॥

पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान लेना और देना ये ब्राह्मण के छः कर्म हैं।

इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के भी गुण और कर्म के विषय में स्पष्ट रूप में लिखा है।

क्षत्रिय के गुणों के विषय में लिखा है :—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

भ० गी० १८-४३ ॥

शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और प्रजा पर शासन करना, ये क्षत्रिय के गुण हैं।

इन गुणों के अनुरूप ही उसके कर्म बताये गये हैं। इसी प्रकार वैश्य और शूद्रों के गुण, कर्म का वर्णन किया गया है।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मक कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

भ० गी० १८-४४ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैश्य के गुण-कर्म हैं कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य तथा शूद्रों के गुण कर्म हैं सेवा करना।

मनुस्मृति में भी यह स्पष्ट रूप में लिखा है :—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदञ्च वैश्यस्यकृषिमेव च॥
एकमेवतु शूद्रस्य प्रभुः कर्मसमादिशत्।
एतेषांमेव वर्णानां शुश्रुषामनसूयया॥

मनु० अ० १, ८९-९१॥

समाज के घटकों का गुण और कर्म से विभाजन करने को वर्ण-व्यवस्था कहते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र उपाधियाँ नहीं हैं। यह तो समाज में मनुष्यों का विभाजन है और यह वर्ण, स्वभाव, गुण और कर्म के अनुकूल हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि गुण और कर्मों का घना सम्बन्ध स्वभाव से भी है। एक तो दो मुख्य प्रकार के स्वभाव (दैवी और आसुरी) ऊपर वर्णन किये हैं। उनके रहते हुए भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के अपने-अपने स्वभाव होते हैं। उनके अनुसार ही उनके गुण और कर्म हो जाते हैं।

पू० प०—यह माना कि वर्ण विभाजन गुण, कर्म और स्वभाव से हो। यह भी समझ लिया कि वर्तमान जन्म से ब्राह्मणादि जातियाँ हैं, वर्ण नहीं, परन्तु हमारी आपत्ति यह है कि समाज में मनुष्य अपने स्वभाव से अपने गुण-निर्माण करता है और कर्म स्वीकार करता है। उन पर 'लेबल' लगाने की क्या आवश्यकता है। भिन्न-भिन्न 'लेबल' लगाने से अभिमान अथवा हीन भावना की ही उत्पत्ति होती है।

उ० प०—इन नामों का भी अपना प्रयोग होता है। ऐसे ही जैसे पढ़ाई करने पर यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति अपने नाम के साथ बी० ए०, एम० ए०, वकील, डाक्टर आदि लिखे। इसी प्रकार जब यह निश्चय हो जाय कि अमुक व्यक्ति किस वर्ण का है, वह अपने को उस वर्ण का घोषित करे तो लाभ ही होना चाहिये, हानि नहीं।

इसमें हीन भावना का प्रश्न नहीं आता। जो जिसके योग्य है अथवा जो जैसा कार्य करता है, उस श्रेणी में ही रहने में उसका मान है। अपनी योग्यता के अनुसार काम करता हुआ मनुष्य दूसरे वर्णों के समान उन्नति कर सकता है।

इसमें शास्त्र का भी मत है :—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

भ० गी० अ० १८-४५॥

अपने-अपने स्वभावजन्य गुण के अनुसार कर्मों में नित्य रत मनुष्य परम सिद्धि पाता है।

इसका अर्थ है गुण-कर्म से श्रेष्ठ क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र भी वैसा ही मान प्राप्त कर सकता है, जैसा कि ब्राह्मण।

यदि समाज को ब्राह्मण की आवश्यकता है तो क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की भी है। समाज का कार्य तो सबसे मिलकर ही चलता है।

पू० प०—परन्तु ऐसा होता नहीं। जब किसी को करने के लिये निम्न कोटि का कार्य मिलेगा तो निश्चय ही वह स्वयं को और समाज के दूसरे अंग उसको, छोटा मानने लगेंगे। इससे हमारा दृढ़ मत है कि सबको स्वतन्त्रता से जो काम भी कोई चाहे, करने की स्वीकृति होनी चाहिये और काम के आधार पर श्रेणियाँ नहीं बननी चाहियें।

उ० प०—इस विषय में हमारा प्रतिप्रश्न है कि छोटा-बड़ा काम करने से मनुष्य छोटा-बड़ा होता है अथवा केवल मात्र श्रेणी का लेबल लगाने से? आज समाज में वर्ण-व्यवस्था नहीं रही। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि की श्रेणियों के अनुसार कार्य की व्यवस्था नहीं है। इस पर भी अच्छे और छोटे काम के अनुसार मनुष्यों की प्रतिष्ठा होती है। आज भी राज्य के मन्त्री की प्रतिष्ठा उसके अधीन सचिव से, सचिव की उसके अधीन उपसचिव से और उसकी एक क्लर्क से अधिक प्रतिष्ठा है। इसके अतिरिक्त एक वकील की एक दुकानदार की अपेक्षा, एक एंजीनियर की क्लर्क की अपेक्षा, एक डाक्टर की एक कृषक की अपेक्षा, समाज में प्रतिष्ठा अधिक है।

वर्ण-व्यवस्था की अपेक्षा वर्तमान व्यवस्था होने से अन्तर यह हुआ है कि प्रतिष्ठा का आधार गुण और स्वभाव न रहकर केवल मात्र कर्म और उसके साथ धन हो गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज में मान-प्रतिष्ठा मानवों की विकृत मनोवृत्ति के कारण है। मान-प्रतिष्ठा तो मनुष्य के समाज के लिये उपयोग के अनुसार होनी चाहिये न कि किसी श्रेणी में होने के कारण। प्रत्येक श्रेणी का कार्य समाज के लिये समान-रूप में उपयोगी है। अतः प्रत्येक श्रेणी समान ही प्रतिष्ठा की पात्र है। इसी कारण शास्त्र ने लिखा है कि अपने-अपने वर्ण का कर्म करते हुए मनुष्य संसिद्धि (सांसारिक दृष्टि से मान-प्रतिष्ठा) भी पाता है।

अपने-अपने वर्ण में अच्छा अथवा बुरा काम करने के आधार पर तो मान और प्रतिष्ठा मिलेगी ही। उदाहरण के रूप में सेना में यदि कोई सैनिक विशेष शौर्य का कार्य करता है, तो अन्य सैनिकों की अपेक्षा उस शौर्य-वान को प्रतिष्ठित किया ही जावेगा। इसी प्रकार अध्यापक वर्ग में यदि कोई विशेष विद्वत्ता वाला है तो उसको अन्य पढ़े-लिखों की तुलना में अधिक प्रतिष्ठित किया ही जावेगा। इसको तो दूर नहीं किया जा सकता। इस प्रकार प्रतिष्ठा करने की प्रथा समाज के हित में ही है।

परन्तु इसका अर्थ एक अध्यापक और एक कृषक में, केवल कार्य भेद से, मान और प्रतिष्ठा में अन्तर नहीं हो सकता।

वर्ण-व्यवस्था में स्वतन्त्रता से कार्य करने की मनाही नहीं है। व्यवस्था तो यह है कि जो कार्य मनुष्य करता है, उस कार्य को करने वालों की श्रेणी में वह स्वयमेव सम्मि-लित हो जावेगा।

हाँ, यदि कोई मनुष्य ऐसा कार्य स्वीकार करता है जिसके न वह योग्य है और जो काम उसके स्वभावानुसार भी नहीं, तो वह कार्य को करता हुआ सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकेगा। अपने गुण और स्वभाव के विपरीत कार्य स्वीकार करने से मानव को स्वयं हानि होगी और समाज को भी हानि होगी। मनुष्य अपने कार्य में अनुपयुक्त होगा और समाज जो अपने घटकों की शिक्षा-दीक्षा में सहायक होता है, अपने प्रयत्न के फल से वंचित हो जावेगा।

पू० प०–तो यह वर्ण-व्यवस्था किस प्रकार लागू की जायेगी ?

उ० प०–लागू करने के अर्थ यह नहीं लेने चाहियें कि राज्य की ओर से पकड़-पकड़ कर लोगों को किसी कार्य पर लगाया जायगा। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि शान्ति-व्यवस्था (लॉ एण्ड आर्डर) के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में भी शासन का हस्तक्षेप भारतीय समाज की पद्धति के अनुसार नहीं है। इसी पद्धति के अनुसार कौन व्यक्ति क्या कार्य करे, यह राज्य के नियम द्वारा संचालित नहीं होना चाहिये।

इस व्यवस्था का विधि यह है कि शिक्षा-काल में ही विद्यार्थी का वर्ण निश्चित हो जाना चाहिये। अध्यापक विद्यार्थी के गुण और स्वभाव को देखकर यह निश्चय कर दे कि वह जीवन में किस वर्ण में जायेगा। इसका निश्चय होते ही उसी वर्ण के उपयुक्त उसको शिक्षा दी जानी चाहिये।

उदाहरण के रूप में यदि अध्यापक देखे कि उसका छात्र शौर्यवान् है और बुद्धि एवं बल से क्षत्रिय वर्ण के योग्य है, तो यह उसका कर्तव्य है कि उसको क्षत्रिय के योग्य शिक्षा देने का प्रबन्ध कराये। जब एक ऐसे विद्यार्थी की शिक्षा सैनिक शिविर में होने लगेगी तो निस्सन्देह वह सैनिक बनेगा। क्षत्रिय वर्ण में जाकर वह अपनी प्रतिभा के बल पर सेना में उच्च से उच्च पदवी प्राप्त कर सकेगा।

यदि कोई विद्यार्थी अध्यापक की सम्मति का आदर न कर किसी ऐसे कार्य में लगने की तैयारी करने लगता है अथवा उसके माता-पिता उसको लगाने का यत्न करते हैं, जो कि अध्यापक उसके लिये उपयुक्त नहीं मानता, तो वह विद्यार्थी अथवा उसके माता-पिता समाज से शिक्षा-दीक्षा में सहायता प्राप्त करने से स्वाभाविक रूप में वंचित हो जावेंगे।

ऐसे विद्यार्थी के लिये केवल वही कार्य करने को रह जावेंगे जिनको करने में समाज से किसी भी प्रकार की सहायता की आवश्यकता न हो। उदाहरण के रूप में एक विद्यार्थी स्कूल की अन्तिम परीक्षा में तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण होता है। अध्यापक उसके गुण और स्वभाव के निरीक्षण से यह समझता है कि वह व्यापार करे तो ठीक रहेगा। परन्तु विद्यार्थी अथवा उसके माता-पिता उसके लिये अध्यापक के कार्य को ठीक मानते हैं। तब उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यार्थी की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध वे स्वयं कर सकते हैं, परन्तु वह अध्यापक बनने की योग्यता अपने साधनों से प्राप्त करने में स्वतंत्र है। इस पर भी वह अध्यापक तो तब ही बन सकेगा, जब वह अध्यापक बनने की परीक्षा में उत्तीर्ण होगा।

इस प्रकार स्वेच्छा से किसी कार्य को करता हुआ व्यक्ति प्रायः जीवन में असफल होगा। यह सम्भव है कि अध्यापक, स्वार्थ अथवा किसी अन्य दोष के कारण, विद्यार्थी की योग्यता और स्वभाव का मिथ्या अनुमान लगा रहा हो और विद्यार्थी अथवा उसके अभिभावक का गुण और स्वभाव का मूल्यांकन ठीक हो; उस स्थिति में भी विद्यार्थी के लिये स्वेच्छा से जीवन कार्य ढूंढने की स्वीकृति होनी चाहिये। वर्ण तो उस समय ही निश्चित होगा, जब वह अपने जीवन-कार्य में स्थित हो जायगा। ऐसे विद्यार्थी अपवाद ही होंगे। यह समाज में नियम नहीं हो सकता। अपवाद तो सर्वत्र सर्वदा दिखाई देते हैं। परन्तु इस कारण ही नियम गलत सिद्ध नहीं किये जा सकते।

पू०प०—यह मान भी लिया जाय कि गुण कर्म तथा स्वभावानुसार मनुष्य अपना जीवन-कार्य चलाये और उसको जीवन-कार्य चुनने की स्वतंत्रता हो, तो भी श्रेणियों को नाम दे देने से क्या समाज एक शुष्क काष्ठ का ढाँचा मात्र नहीं रह जावेगा ?

उ०प०—यह शुष्क ढाँचा तब बनेगा, जब समाज में लचक नहीं रहेगी। अर्थात् जब मनुष्य को अपना एक कार्य छोड़ दूसरे कार्य को अपनाने की स्वीकृति नहीं होगी। प्रायः लोग जीवन में स्थिर हो जाने के उपरान्त अपने ही कार्यक्षेत्र में रहते हुए उन्नति करने का यत्न करते रहते हैं। विरले ही होते हैं जो कार्यक्षेत्र को बदलते रहते हैं। ये भी प्रायः इस कारण कि उनका अथवा उनके अभिभावकों का निर्वाचित कार्यक्षेत्र गलत सिद्ध होता है। कभी ऐसा भी होता है कि आयु अथवा वातावरण में परिवर्तन होने से व्यक्ति के गुण और स्वभाव में परिवर्तन आ जाता है। तब वर्ण बदलने की आवश्यकता पड़ जाती है।

सामाजिक व्यवस्था में इस लचक का विधान शास्त्र में हैं।

शूद्रोब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

मनु० अ० १०-६५

शूद्रो राजन् भवति ब्रह्मबन्धुर्दुश्चारित्रो यश्च धर्मादपेतः ।
वृषलीपतिः पिशुनो नर्तनश्च राजप्रेष्यो यश्च भवेद् विकर्मा ॥
जपन् वेदानजपंश्चापि राजन् समः शूद्रैर्दासवच्चापि भोज्यः ।
एते सर्वेशूद्रासमा भवन्ति राजन्नेतान् वर्जयेद् देवकृत्ये ॥

म० भा० शा० अ० ६३ श्लोक ४, ५ ॥

स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा ॥

म० भा० शा० अ० ६३ श्लोक ८ ॥

मनु ने लिखा है, शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र। इस प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी अपने वर्ण से गिरकर दूसरे वर्णों में चले जाते हैं।

महाभारत में भी वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था करते समय यह लिखा है :—

जो ब्राह्मण दुश्चरित्र, धर्महीन, कुलटा स्त्री से सम्बन्ध रखने वाला, चुगलखोर, नाचने वाला, राज्य सेवक अथवा विपरीत कर्म करने वाला है, हे राजन्! वह शूद्र हो जाता है।

उपर्युक्त दुर्गुणों से युक्त ब्राह्मण वेदों का स्वाध्याय करता हो अथवा न करता हो, शूद्रों के ही समान है। उसे दास की भाँति पंक्ति से बाहर भोजन करना चाहिये। उक्त दुर्गुणों वाले सभी शूद्रों के समान हैं। राजन्! देव-कार्य में इनका परित्याग कर देना चाहिये।

पाप-कर्म करने वाला ब्राह्मण नहीं माना जाता।

पू०प०—यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह स्वयं अथवा अपनी सन्तान को ऊँची से नीची पदवी पर जाने नहीं देता। छल अथवा बल से वह समाज में अपनी स्थिति को स्थिर रखने का यत्न करता है। धनी अपनी सन्तान को धनवान देखना चाहता है और विद्वान अपनी सन्तान को विद्वानों की पदवी पर आसीन। इस मानव-प्रवृत्ति की विद्यमानता में सबको बिना संज्ञा के ही रहने दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय तो ठीक रहेगा।

उ० प०—यह मानव-प्रवृत्ति में दोष तो है ही परन्तु इसका निराकरण यह नहीं कि समाज में व्यवस्था न बाँधी जाय। अव्यवस्थित समाज में तो परिवार घोषणा की प्रवृत्ति को धींगामस्ती करने का अधिक अवसर मिलेगा। व्यवस्थित समाज में तो श्रेणीबद्ध करने का अधिकार माता-पिता अथवा व्यक्ति को स्वयं नहीं होता। अतः छल और बल का प्रयोग उतना नहीं होगा जितना कि उस समय होगा, जब स्वेच्छा से कार्य स्वीकार करने की स्वीकृति होगी।

पू० प०—आपका अभिप्राय है कि व्यक्तियों के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति अथवा संस्था हो, जो समाज के घटकों का वर्ण निश्चय करे ?

उ० प०—हाँ, परन्तु वह अन्य, राज्य अथवा राज्याधिकारी नहीं होना चाहिये। राज्य अथवा राज्याधिकारी को समाज में वर्ण-व्यवस्था स्थापित करने का कार्य दिया गया तो वे सब राज्य के अनुकूल घटकों को शूद्र की पदवी दे देंगे। राज्य के प्रतिकूल शूद्रों को क्षत्रिय पद समर्पित कर देगा। वर्तमान प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में तो विरोधी दल वालों को ब्राह्मणत्व अथवा क्षत्रियत्व प्रदान करेंगे ही नहीं। समाजवादी राज्य-प्रणाली में तो विरोधी पक्ष वालों को वैश्य और शूद्र का पद भी उपलब्ध नहीं होता। वहाँ राज्याधिकारी को नापसन्द व्यक्ति तो अन्त्यज मान लिया जाता है।

पू० प०—तो कौन निश्चय करे और फिर उस का पालन किस प्रकार हो ?

उ० प०—इसका निश्चय करने वाले विद्याध्यापन करने वाले अथवा गुरुकुलों के कुलपति ही हो सकते हैं। इनके हाथों में राज्यसत्ता नहीं होती। इस पर इनके द्वारा दी गई निष्पक्ष न्यायोचित सम्मति स्वतः माननीय होगी। इस बात को हम समझते हैं कि कुछ लोग इस सम्मति का भी उल्लंघन करेंगे। इस उल्लंघन करने में यदि किसी प्रकार से जनता को धोखा देना होगा तो राज-दण्ड इसमें हस्तक्षेप कर सकता है।

उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जावेगी। मान लीजिए एक व्यक्ति जिसे उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं हुई है, न तो उसके पास किसी विश्वविद्यालय का प्रमाण पत्र है, न ही उसमें किसी प्रकार की योग्यता है, इस पर भी वह स्वयं को एम० ए०, शास्त्री, अथवा डाक्टर, वैद्य घोषित करता है तो वह दण्डनीय होगा। यह दण्ड देना राज्य का कार्य होगा। दण्ड देते समय भी राज्य, अध्यापक-वर्ग अथवा विश्वविद्यालय के अधिकारी की साक्षी पर ही उसको दण्डित कर सकेगा।

अभिप्राय यह कि अपने घर में तो कोई भी 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बन सकता है। परन्तु जब भी कोई अयोग्य अपने को योग्य घोषित कर दूसरों को धोखा देना चाहेगा, वह राज्य नियम से अपराधी माना जावेगा।

पू० प०—तब तो बात सरल हो जावेगी। विश्वविद्यालय की उपाधियाँ ही वर्ण-सूचक मानी जा सकती हैं। कोई एम० ए० है और कोई डाक्टर की उपाधि प्राप्त, कोई केवल मैट्रिक उत्तीर्ण है और कोई इतना कुछ भी नहीं। नौकरियाँ और पदवियाँ इन उपाधियों के अनुकूल मिलती हैं। अतः इन्हीं को वर्ण क्यों न मान लिया जाय ?

उ० प०—ये उपाधियाँ तो एक विशेष प्रकार की योग्यता की सूचक हैं, स्वभाव और कर्म की सूचक नहीं। विश्वविद्यालयों के स्नातक कृषि का कार्य अथवा क्लर्क का कार्य करते देखे जाते हैं। कुछ ऐसे भी स्नातक हैं जो राजा, रईसों अथवा राज्याधिकारियों की चाटुकारी में लीन रहते हैं। साथ ही कुछ स्नातक असत्यभाषी, क्रूर, अभिमानी, लोभी और इसी प्रकार के अन्य दुर्गुणों से युक्त भी देखे जाते हैं। वे अध्यापक के कार्य पर नियुक्त होकर भी इन दुर्गुणों का सेवन करते रहते हैं। अतएव विश्वविद्यालय की ये उपाधियाँ स्वभाव और कर्म की सूचक नहीं हैं। अतः ये वर्ण की स्थापना नहीं कर सकतीं।

वर्ण व्यवस्था में यह आवश्यक है कि समाज दैवी प्रवृत्ति वाला हो। प्रत्येक वर्ण उन गुण, कर्म और स्वभाव को रखने वालों का समूह हो, जिनका उल्लेख ऊपर कर आये हैं।

पू० प०—यह तो मान लिया कि वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर समाज में श्रेणियाँ बांधने को कहते हैं। इस पर भी हमको इसमें कुछ भी लाभ प्रतीत नहीं होता। यह सब व्यर्थ का जल-मन्थन ही होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति को स्वेच्छा से शिक्षा प्राप्त कर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार व्यवसाय स्वीकार करने की स्वीकृति होनी चाहिये। जो अयोग्य होंगे अथवा अपने स्वभाव के विपरीत कार्य करेंगे, असफल हो या तो अपना व्यवसाय बदल लेंगे अन्यथा विनाश को प्राप्त होंगे।

उ०.प०—वर्ण व्यवस्था को समाज में चालू करने से एक लाभ तो यह हो जावेगा कि साधारण शिक्षा के उपरान्त समाज के प्रत्येक घटक के मन में यह उत्सुकता उत्पन्न होगी कि उसके जीवन-कार्य के अनुसार उसकी शिक्षा हो। दूसरे अध्यापकों का यह कर्त्तव्य हो जायेगा कि वे विद्यार्थी के गुण तथा स्वभावानुसार उसकी शिक्षा का प्रबन्ध करें। अर्थात् वर्ण-विभाजन से किस प्रकार की शिक्षा किस को दी जाय, इसका निश्चय हो जावेगा।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ण के लिये राज्य और समाज की ओर से विशेष सुविधाएँ मिलनी ही चाहियें। उदाहरण के रूप में एक सत्य-हृदय से ब्राह्मण का कार्य करने वाले, और स्वभाव वाले व्यक्ति में धन-संचय करने की न तो योग्यता होगी और न ही उसके लिए अवसर। विद्यादान तो निःशुल्क होना चाहिये। इसी प्रकार धर्म-व्यवस्था देने वाला किसी की कृपा का पात्र नहीं होना चाहिये। एक न्यायकर्ता भी किसी की कृपा का न तो अभिलाषी होना चाहिये, न ही किसी के अधीन। ऐसे व्यक्तियों के पालन-पोषण तथा उनकी दुष्टों से रक्षा का विशेष प्रबन्ध होना ही चाहिये। यदि कोई दुकानदार ऐसे सरल-चित्त व्यक्ति को धोखा देता है, तो निःसन्देह उसको दण्ड अधिक मिलना चाहिये। अथवा ऐसे व्यक्तियों को खान-पान तथा उनके परिवार वालों के पोषण-भरण की व्यवस्था होनी चाहिये।

इसी प्रकार जब समाज किसी वैश्य वृत्ति वाले को व्यापार कर धन-संचय की स्वीकृति देता है तो उसपर धन के सदुपयोग का उत्तरदायित्व भी डालना होगा। यदि वह किसी अधिकारी को धनाभाव के कारण कष्ट में देखकर भी धन से उसकी सहायता नहीं करता, तो उसके गले में चक्की बाँधकर उसको समुद्र में डुबो देना चाहिये। अर्थात् उसके लिये कड़ा दण्ड नियत होना चाहिये।

शूद्र (Artisan Class) की भी विशेष संरक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये। प्रायः इस वर्ण को धूर्त और स्वार्थी लोग ठग सकते हैं। धन-संचय करने में प्रवीण वैश्य ही इस प्रकार की ठगी को सुगमता से करते हैं। अतः इस वर्ण की रक्षा के लिये विशेष राजनियमों की व्यवस्था होनी चाहिये।

कहने का अभिप्राय यह कि एक तो स्वभाव की तथा योग्यता की परीक्षा कर व्यक्ति के लिये व्यवसाय का निर्णय होना अत्यावश्यक है। इस निश्चय के अनन्तर उसकी शिक्षा होनी चाहिये। दूसरे, अपने-अपने वर्ण के कार्य में संलग्न व्यक्तियों के लिये, उसकी उचित सुविधाओं और संरक्षणों की व्यवस्था होनी चाहिये।

इसी का नाम वर्ण व्यवस्था है। बिना शिक्षणालयों में, व्यक्ति पर लेबल लगाये उचित शिक्षा और उनके उचित संरक्षण और सुविधाओं का प्रबन्ध सम्भव नहीं। अतः समाज में सुव्यवस्था के हेतु यह विभाजन होना ही चाहिये।

पू० प०—एक तो आज के काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय शब्दों का प्रयोग जन्मजात जातियों के रूप में होने लगा है और दूसरे इन नामों के सैंकड़ों वर्ष तक दुरुपयोग के कारण ये शब्द इतने बदनाम हो चुके हैं कि कोई भी विचारशील व्यक्ति इन नामों से सम्बधित किये जाने पर लज्जित और अपमानित अनुभव करेंगे। क्या यह उचित नहीं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र शब्दों के स्थान पर कोई अन्य शब्द प्रयुक्त किये जावें?

उ० प०—विवाद और व्यवस्था शब्दों के विषय में नहीं हैं। वर्ण-व्यवस्था तो समाज के घटकों को श्रेणीबद्ध करने को कहते हैं, नाम भिन्न होने में हानि नहीं।

दो बातें होनी चाहियें। शास्त्रोक्त ब्राह्मण वर्ण के घटकों के गुण-कर्म तथा स्वभाव, वाले व्यक्ति एक श्रेणी में होंगे। दूसरे क्षत्रिय गुण, कर्म, स्वभाव वाले व्यक्ति दूसरी श्रेणी में। इसी प्रकार वैश्य और शूद्रों के विषय में भी समझ लेना चाहिये। ऐसे समाज को श्रेणी-बद्ध कर उन श्रेणियों के नये नाम भी रखे जा सकते हैं।

परन्तु यह भी विचारणीय बात है कि नये नाम प्रचलित कर, उनके लिये आदर और मान स्थापित करने के लिये नये साहित्य की रचना और धर्मशास्त्रों में ब्राह्मणादि शब्दों के प्रयोग को हटाने के लिये शास्त्र-संशोधन अधिक कठिन होगा अथवा शास्त्र में स्थान-स्थान पर लिखित वर्ण-व्यवस्था को ज्यों का त्यों रख, शास्त्र के उन अंशों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रचलन देना, जिनमें इस व्यवस्था का सम्बन्ध गुण, कर्म स्वभाव से माना जाता है और जन्म से नहीं माना जाता ?

हमारा तो मत है कि भारत में मध्यकालीन ब्राह्मणों ने मूर्खता से अथवा स्वार्थवश वर्ण-व्यवस्था को जन्म से मान लिया था। इसके लिये शास्त्र में प्रमाण नहीं है। इस प्रचलित भ्रान्ति को दूर करना अधिक सुगम और हितकर होगा और नवीन शब्दों का निर्माण कर उनके लिये साहित्य में स्थान निर्माण करना कठिन होगा।

पू० प०—परन्तु शास्त्रों में ऐसा भी तो आता है कि एक वर्ण के पुरुष के दूसरे वर्ण की स्त्री से उत्पन्न सन्तान वर्णसंकर होती है। प्रतिलोम और अनुलोम सन्तान का भी उल्लेख आता है।

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्ण संकरा ॥

मनु० अ० १०, २४ ॥

ब्राह्मणादि वर्ण से अन्यान्य वर्ण की स्त्री से गमन पर अथव सगोत्रादि अगम्या से उत्पन्न सन्तान वर्णसंकर होती है।

इसमें आपका क्या मत है ?

उ० प०—इस श्लोक में संतति-विज्ञान का वर्णन किया गया है। अर्थात् ब्राह्मण का कार्य करता हुआ पुरुष यदि किसी शूद्र-वृत्ति की स्त्री से सन्तान उत्पन्न करे तो वह सन्तान अपने माता-पिता से भिन्न गुण, कर्म, स्वभाव वाली होगी। इसी प्रकार ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न सन्तान का नाम अनुलोम तथा क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण वर्ण की स्त्री से उत्पन्न सन्तान प्रतिलोम होगी।

इस स्थान पर वर्ण-व्यवस्था के निर्माण पर कुछ नहीं कहा गया। यह तो संतति विज्ञान का विषय है कि जब माता तथा पिता गुण, कर्म और स्वभाव से समान नहीं होते तो—माता-पिता दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव का प्रभाव मिश्रित होकर सन्तान में विलक्षण गुण उत्पन्न करेंगे। इस अध्याय के आरम्भ में यही बात स्पष्ट रूप में लिखी है।

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त ऐव ते ॥

मनु० अ० १० श्लोक ५ ॥

सब वर्णों में अपने वर्ण के बाहर की स्त्री से पुरुष का सम्बन्ध हो तो वह अनुलोम सन्तान पुरुष के वर्ण की ही जाननी चाहिये।

इसका अर्थ यह है कि साधारण रूप में पुरुष अपने-अपने वर्ण की स्त्री से विवाह करे। अन्यथा पुरुष के वर्ण से सन्तान के वर्ण की सम्भावना है।

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः।
यान्स म्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥

मनु० अ० १० श्लोक १३० ॥

ये चारों वर्णों के आपतकाल के धर्म कहे हैं। इन पर आचरण करने से मनुष्य श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है।

पू० प०—यदि यह वर्ण-व्यवस्था स्वीकार कर भी ली जाय तो लाभ क्या होगा ? समाज की वर्तमान अवस्था में दोष कहाँ है ?

उ० प०—जैसा कि ऊपर वर्णन किया है, किसी व्यक्ति के वर्ण का निर्णय अध्यापक-वर्ग ही करे। इसमें राज्याधिकारियों का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। यह भी लिख दिया गया है कि वर्ण निर्णय गुण, कर्म, स्वभाव से होना चाहिये। स्वभाव को बनाने में माता-पिता, परिवार, बाल्यकाल के संस्कार और शिक्षा महत्त्वपूर्ण भाग लेते है।

माता-पिता के गुण, कर्म, स्वभाव से अथवा पारिवारिक संस्कारों से और अपनी मानसिक तथा शारीरिक प्रवृत्तियों और गुणों के कारण बालक-बालिका का जैसा स्वभाव बनता है, वह गुरु, अपने शिष्य-शिष्याओं में अध्ययन कर, उसका वर्ण निश्चय करे। और उसे निश्चित वर्ण के अनुसार शिक्षा दे। इस प्रकार शिक्षा ग्रहण कर पुरुष-स्त्री अपने जीवन के व्यवसाय में लग जावें।

राज्य का हस्तक्षेप तब ही स्वीकार किया गया है, जब कोई व्यक्ति अपने गुण और कर्मों को असत्य रूप में प्रकट कर दूसरों को धोखा देता है। अन्यथा इस व्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप हितकर नहीं। फिर वर्ण-परिवर्तन भी हो सकता है। अर्थात् मनुष्य का अनुभव, ज्ञान और सामर्थ्य बदल सकता है। इससे उसको अपना कार्य बदलने की मनाही भी नहीं।

इस प्रकार समाज में वर्ण-विभाजन से एक तो गुरुकुलों में अध्यापक यह निर्णय करेंगे कि कौन विद्यार्थी क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़े। समाज की वर्तमान अवस्था में विद्यार्थी की शिक्षा का निश्चय विद्यार्थी तथा उसके माता-पिता की रुचि और आर्थिक क्षमता पर निर्भर है। विद्यार्थी के स्वभाव और योग्यता का इसमें बहुत कम हाथ रहता है।

इस अव्यवस्था का परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी शिक्षा का पूर्ण लाभ नहीं उठा सकता। प्रायः जिस प्रकार की शिक्षा के वह योग्य नहीं होता, उसमें वह अपना शिक्षा काल व्यतीत कर जीवन में प्रवेश करता है और इसी कारण जीवन में असफल रहता है।

जीवन-कार्य भी यदि व्यक्ति के गुण तथा स्वभावानुसार नहीं होगा तो वह जहाँ अपने आप को हानि पहुँचाता है, वहाँ समाज में भी दुर्व्यवस्था उत्पन्न कर देता है।

उदाहरण के रूप में क्षत्रिय प्रवृत्ति का व्यक्ति यदि अध्यापन-कार्य करने लगे तो वह विद्यार्थियों को मार-पीट कर पढ़ाने में संलग्न रहेगा। अपने क्षात्र स्वभाव से विद्यार्थियों में भी लड़ने-झगड़ने और अपने मन की इच्छा बलपूर्वक पूर्ण करने का स्वभाव उत्पन्न कर देगा।

इसी प्रकार एक वैश्य प्रवृत्ति का व्यक्ति यदि अध्यापक बन जाये तो वह अपने गुरुकुल को व्यापार का रूप देकर उससे लाभ उठाने के लिये यत्न करेगा।

अध्यापन का कार्य तो एक ब्राह्मण स्वभाव वाले व्यक्ति के ही हाथ में रहना चाहिये। जहाँ क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र, गुण और स्वभाव का व्यक्ति अध्यापन-कार्य करने लगेगा, वहाँ न तो अध्यापक का जीवन सफल होगा, न ही विद्यार्थी का कल्याण हो सकेगा। इससे समाज के धन और शक्ति का भारी अपव्यय हो जावेगा।

इसी प्रकार यदि क्षत्रिय के कार्य पर किसी वैश्य वृत्ति और स्वभाव के व्यक्ति को लगाया जावेगा, तो क्षत्रिय का कार्य तो सम्पन्न होगा नहीं, साथ ही इस क्षत्रिय के कार्य पर दूसरे वर्ण के व्यक्ति की नियुक्ति से उस व्यक्ति का भी अहित होगा। उस देश का भगवान रक्षक है, जहाँ सेना का कार्य शूद्रों के हाथ में चला जाता है। वर्तमान युग में सेना प्रायः एक प्रकार का "पिंजरा पोल" ही बना दिया जाता है। युद्ध के समय सेनानियों द्वारा भागकर जान बचाने अथवा शत्रु से मिल जाने के उदाहरण अगणित दृष्टिगोचर हो रहे हैं। सेना में वेतन के लिये लड़ने वालों की अपनी दुर्दशा तो होती ही है, साथ ही देश और समाज को भी भारी भय में डालने वाली बात हो जाती हैं।

समाज के घटकों के पूर्ण कार्य के चार विभाग किये हैं और इन चार प्रकार के विभागों में मनुष्य के चार प्रकार के स्वभावों को आधार बनाया गया है। यदि गुण और स्वभाव के अनुसार कार्य किये जावें, तो समाज को कम से कम शक्ति व्यय करने पर, घटक तैयार मिल जावेंगे। तथा व्यक्ति भी अपने गुण और स्वभावानुसार कर्म पाकर सुख-लाभ करेंगे और अपने जीवनयापन में सुविधा प्राप्त करेंगे।

पू० प०—समाज की व्यवस्था के लिये वर्ण व्यवस्था मान भी ली जावे तो भी इस आश्रम व्यवस्था का क्या अभिप्राय है? इसमें भी बाध्यता है अथवा नहीं?

उ० प०—भारतीय समाज-व्यवस्था में बाध्यता तो किसी भी बात में नहीं है। केवल दूसरों को हानि पहुँचाने में प्रतिबन्ध है। कोई भी मनुष्य किसी दूसरे की स्वतन्त्रता अथवा स्वेच्छा से धर्मानुकूल आचरण का विरोध नहीं कर सकता।

धर्म का अर्थ ही प्रेरणा है। व्यक्ति के अपने तथा समाज के कल्याण के कार्य की प्रेरणा को ही धर्म का नाम दिया गया है। बाध्यता अर्थात् राज्य की ओर से प्रतिबन्ध तो केवल उस स्थिति में ही होता है, जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे की स्वतन्त्रता अथवा धर्मानुसार आचरण का बाधक होता है।

अतः वर्ण-व्यवस्था की भाँति आश्रम-व्यवस्था भी मनुष्य के स्वेच्छा से आचरण योग्य व्यवहार है। यही कारण है कि इन व्यवस्थाओं को धर्म का नाम दिया गया है। इस का प्रचलित नाम वर्णाश्रम धर्म है।

आश्रम धर्म का अर्थ है मनुष्य जीवन को चार विभागों में बाँट कर पृथक्-पृथक् विभाग में पृथक्-पृथक् कार्य के लिए व्यवस्था करना। विभागों और उनमें कार्य का निश्चय मनुष्य की आयु और उसकी मानसिक अथवा शारीरिक शक्तियों के अनुसार ही किया गया है।

पू० प०—आश्रम कौन-कौन से हैं? वे किस-किस आयु में धारण करने योग्य हैं और उन में क्या-क्या कार्य करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की व्यवस्था है ?

उ० प०—मानव जीवन को चार भागों में बाँटा गया है। मनुष्य की साधारण आयु एक सौ वर्ष मानी गई है। इसमें से प्रथम भाग विद्याध्ययन के लिये, दूसरा गृहस्थ पालन के लिये, तीसरा वानप्रस्थ (अपने में ध्यान-चिन्तन और शक्ति संचय) के लिये है और चौथा संन्यासी जीवन को यज्ञ स्वरूप बना कर प्रयोग करने के लिये है।

ब्रह्मचर्य आश्रम लड़कों की अवस्था में पचीस वर्ष की आयु तक तथा लड़कियों में कम से कम पन्द्रह वर्ष की आयु तक नियत किया गया है। गृहस्थाश्रम ब्रह्मचर्य के अनन्तर पचास वर्ष की आयु तक वानप्रस्थ पचहत्तर वर्ष की आयु तक और संन्यासाश्रम पचहत्तर वर्ष के अनन्तर की आयु में।

जीवन अवधि के इन विभागों में कार्य भी निश्चित किये गये हैं। बालक अथवा बालिका न्यूनातिन्यून सात वर्ष तक और अधिक से अधिक ग्यारह वर्ष की आयु तक माता-पिता के संरक्षण में रहें। इस संरक्षण के अनन्तर ब्रह्मचर्याश्रम और इस आश्रम का कार्यारम्भ होता है।

ब्रह्मचर्याश्रम के आरम्भ होने में सात से ग्यारह वर्ष की आयु की छूट इस कारण दी है जिससे कि बालक-बालिका की मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों का विचार कर लिया जाए। बालक-बालिका को माता पिता के संरक्षण से बाहर करने की आयु का निश्चय इस विचार के अधीन है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की सन्तान को शीघ्र ही अध्यापक के पास ले जाने की व्यवस्था है। इसका कारण यह है कि प्रायः इन वर्णों के बालकों में मानसिक और शारीरिक शक्ति में उन्नति की तीव्र गति और साथ ही इनके पढ़ने के लिये बहुत कुछ रहता है। अतः इनको अधिक समय तक पाठशाला अथवा विद्यालय इत्यादि में रहना होता है। इस कारण इनका ब्रह्मचर्याश्रम शीघ्र आरम्भ होकर लम्बी आयु तक रहता है। किन्हीं अवस्थाओं में ब्रह्मचर्याश्रम अढ़तालीस वर्ष की आयु तक भी चलता है।

इस आश्रम का मुख्य कार्य विद्याध्ययन है। इसके लिये बालक को गुरुकुल में जाकर रहना चाहिये। विषय-वासना से रहित होकर अपने वीर्य की रक्षा करते हुए गुरु-सेवा और विद्याध्ययन में समय व्यतीत करना चाहिये।

इस आश्रम का मुख्य कार्य विद्याध्ययन होते हुए भी ब्रह्मचर्य शब्द के पारिभाषिक अर्थ अविवाहित जीवन और वीर्य रक्षा हो गये हैं। इसका कारण यह है कि विद्याध्ययन में अविवाहित जीवन और वीर्य की रक्षा आवश्यक साधन माने गये हैं। साथ ही पच्चीस वर्ष की आयु तक शरीर और मन का विकास होता रहता है। इस विकास के लिये वीर्य-रक्षा और परिवार के झंझट से छुट्टी परमावश्यक है।

भारतीय समाज-शास्त्र में पठन-पाठन के लिए गुरुकुल में जाकर रहना आवश्यक माना गया है। इसमें ध्येय है विद्यार्थी को स्त्री-संसर्ग से दूर रखना और नगरों के खेल-कूद, नाच, रंग, भोग, विलास और अनीतियुक्त व्यवहार से अलिप्त रखना।

लड़की के लिये गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की न्यूनातिन्यून आयु, पन्द्रह वर्ष रखी है। इसमें दो कारण हैं। एक तो लड़कियों में शरीर और मन का विकास लड़कों से शीघ्र अर्थात् कम आयु में ही हो जाता है। दूसरे, प्रायः स्त्रियों का जीवन-कार्य ऐसा होता है कि उसमें बहुत अधिक शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता नहीं होती। इस पर भी लड़कियों को भी ऊँची आयु तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर विद्याध्ययन और अविवाहित जीवन व्यतीत करने की मनाही नहीं हैं।

गृहस्थ आश्रम में यौवन-प्राप्त लड़के-लड़कियों को विवाहित जीवन के भोग सहित धनोपार्जन की योजना है। धनोपार्जन का अर्थ है अपने परिश्रम और बुद्धि-बल से प्राकृतिक साधनों को मनुष्य के लिये उपयोगी बनाना। सृष्टि के प्रारम्भिक काल में पृथ्वी अनायास ही खाने और पहिनने के पदार्थ दे देती थी। ज्यों-ज्यों पृथ्वी की यह शक्ति कम होती गई, मनुष्य को भोजन-वस्त्र इत्यादि के लिये पदार्थ उपलब्ध करने के हेतु अधिक परिश्रम करना पड़ा। पदार्थों की उपलब्धि ही पर्याप्त नहीं, प्रत्युत उपयोगी पदार्थों को प्राप्त कर उनको उपभोग के योग्य बनाना भी आवश्यक है।

संमाज की स्थिति ऐसी बन गई है कि मानव-समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इस कार्य (जीवनोपयोगी पदार्थों की उपलब्धि और उनको उपभोग योग्य बनाने) में अपने जीवन का एक विशेष भाग व्यय किये बिना समाज का जीवन चल नहीं सकता। अतः गृहस्थ आश्रम में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाह कर सन्तानोत्पत्ति के साथ-साथ समाज के लिये प्रकृति से उपयोगी पदार्थों की प्राप्ति और उनको उपभोग के योग्य बनाने का कार्य भी आवश्यक माना गया है।

ब्रह्मचर्याश्रम,वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में गृहस्थाश्रम के दोनों कार्यों को वर्जित माना है। इसका यह अर्थ नहीं कि ये कार्य मनुष्य उन आश्रमों की आयु में कर नहीं सकता। प्रत्युत उनमें सन्तानोत्पत्ति, विषय-भोग और जीवनोपयोगी वस्तुओं की प्राप्ति के लिये प्रयत्न उन आश्रमों के लिये नियत कार्य में बाधक होते हैं।

वानप्रस्थ आश्रम का आरम्भ पचास वर्ष की आयु में ठीक माना है। वानप्रस्थ आश्रम का उद्देश्य है संन्यास आश्रम में करने योग्य कर्य के लिये तैयारी। संन्यास आश्रम इस तैयारी पर आरम्भ हो जाना चाहिये। संन्यास आश्रम में लोक-कल्याण के कार्य करने का आदेश है। सबके सब मनुष्य इस कार्य को करने की योग्यता और सामर्थ्य नहीं रखते। अतः संन्यास आश्रम में मानव के लिये इस लोक-कल्याण के साथ दूसरा कार्य है मोक्ष-प्राप्ति के हेतु साधना करना।

पू० प०—विवाह के योग्य शारीरिक अवस्था तो कई देशों में अल्पायु से ही हो जाती है। उन देशों में विद्याध्ययन का कार्य विवाहित जीवन के साथ भी हो सकता है अथवा नहीं ?

उ० प०—यह हम ऊपर बता चुके हैं कि वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी राजनियम के अन्तर्गत नहीं। इस व्यवस्था में लचक है। आयु जिसमें कोई आश्रम आरम्भ हो और समाप्त हो, देश, काल और आवश्यकतानुसार बदला जा सकता है। इस पर भी एक न्यूनातिन्यून आयु निर्धारित है जिससे कम आयु पर वीर्य का व्यय, मानव तथा समाज के लिये हितकर नहीं। इस विषय में शरीर क्रिया विज्ञान के ज्ञाताओं का मत मानना चाहिये। एक अवस्था विशेष तक वीर्य-रक्षा शरीर, मन और बुद्धि के विकास के लिए आवश्यक है। रक्षित वीर्य, शरीर, मन और बुद्धि के विकास में प्रयुक्त होता है। साथ ही गृहस्थ के झंझट में विद्याध्ययन सुचारु रूप से चल नहीं सकता।

पू० प०—धनवान व्यक्ति के लिये जीवनोपयोगी पदार्थ अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं। अतः उसके लिए केवल गृहस्थाश्रम का ही एक कार्य तो कुछ अर्थ नहीं रखता। वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करे तो हानि है क्या ?

उ० प०—सन्तानोत्पत्ति और धनोपार्जन केवल व्यक्ति के अपने लिये ही आवश्यक नहीं, प्रत्युत ये समाज के लिए भी आवश्यक हैं। सृष्टि के प्रारम्भिक काल की बात छोड़ दें तो यह स्पष्ट है कि मानव समाज को सुचारु रूप से चालू रखने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करने की आवश्यकता है। उत्पादन जितना अधिक होगा, मानव को जीवन निर्वाह के लिये उतनी ही सुगमता रहेगी। जीवनोपयोगी पदार्थ प्रचुर मात्रा में बनने ही चाहियें। इसमें एक व्यक्ति के पास धन, अर्थात् उपयोगी पदार्थ आवश्यक मात्रा में है अथवा नहीं, का प्रश्न नहीं। इसमें तो मानव समाज के पास जीवनोपयोगी सामग्री की प्रचुर मात्रा में होने का प्रश्न है।

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिये कि वर्तमान समाज में मनुष्य कार्य करता है, इस कारण कि उसको अपना जीवन चलाने के लिए पदार्थों की आवश्यकता है। भारतीय समाज-व्यवस्था में व्यक्ति कार्य करता है, पूर्ण समाज की आवश्यकता का विचार करके। इस दृष्टिकोण से कार्य करेंगे तो यह देखा जायेगा कि मनुष्य को समाज के लिए जीवनोपयोगी पदार्थों की उपलब्धि के लिए सतत यत्नशील रहना ही चाहिए।

इससे गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति अन्य तीनों आश्रम के व्यक्तियों के लिए भी आवश्यक सामग्री निर्माण कर सकता है।

भारतीय शास्त्रानुसार मानव जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति (अध्यात्म अभ्युदय) है। इसके लिये मनुष्यों को परस्पर सहायक होना चाहिये। यद्यपि अध्यात्म अभ्युदय मनुष्य के अपने प्रयास के बिना सम्भव नहीं, इस पर भी यदि सब मानव उक्त उद्देश्य से जीवनोपयोगी पदार्थों की उपलब्धि में लग जावें तो सब मानवों के पास जीवन में पर्याप्त अवकाश बच जावेगा और वे उस अवकाश में परम लक्ष्य की प्राप्ति में लग सकते हैं।

पू० प०—वर्तमान मानव समाजशास्त्र तो मनुष्य के जीवन में अवकाश, मनोरंजन और विश्राम के लिए मानता है। क्या मानव-जीवन का उद्देश्य सुख-प्राप्ति नहीं होना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिये ?

उ० प०—सुख और विश्राम मनुष्य जीवन में अत्यावश्यक और प्रबल प्रेरणाएँ हैं। इस पर भी भारतीय समाज शास्त्र इनको ही सब कुछ नहीं मानता। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही जीवन में प्राप्य वस्तुएँ हैं।

इस स्थान पर धर्म के विषय में विस्तार से नहीं बताया जा सकता। इस पर भी इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि करणीय कार्य को धर्म कहते हैं। करणीय वह है, जिसके करने से किसी अन्य के अधिकारों और अभ्युदय में बाधा न उत्पन्न हो। इस शर्त अर्थात् धर्म का विचार कर धनोपार्जन के बाद धन का उपभोग होना चाहिये। अधर्मयुक्त व्यवहार से धनोपार्जन और सुख-प्राप्ति वर्जित है। इन तीनों के अतिरिक्त भारतीय समाज मोक्ष-प्राप्ति को भी जीवन का उद्देश्य समझता है। मोक्ष क्या है और किस प्रकार प्राप्त हो सकता है—यह इस वाद-विवाद का विषय नहीं है। यहाँ तो इतना जान लेना आवश्यक है कि जीवन के चार कर्मों में मोक्ष प्राप्ति के लिए पर्याप्त अवकाश की आवश्यकता रहती है। इस अवकाश की प्राप्ति सबको अथवा अधिक-से-अधिक मानवों को कराने के लिए गृहस्थ आश्रम की स्थापना की गई है। इसी कारण गृहस्थ के विषय में महाभारत में लिखा है—

हव्यकव्यनियमाभ्यासदैवतप्रसादोपलब्धेन वाधनेन गृहस्थो गार्हस्थ्यं वर्तयेत् । तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति । गुरुकुलनिवासिनः परिव्राजका ये चान्ये संकल्पितव्रतनियमधर्मानुष्ठायिनस्तेषामप्यत एव भिक्षाबलिसंविभागाः प्रवर्तन्ते ।

म० भा० शा० अ० १९१ श्लोक १० ।

अर्थात् यज्ञ, श्राद्ध, नियम, वेदाभ्यास तथा देवताओं की प्रसन्नता के उपरान्त धन उपार्जन करे। धन को अपने जीवनयापन में व्यय करे और संचित धन से समाज-पालन करे। क्योंकि गार्हस्थ्य आश्रम ही सब आश्रमों का मूल कहा जाता है।

गुरुकुल में निवास करने वाले ब्रह्मचारी वन में रहकर संकल्प के अनुसार व्रत, नियम तथा धर्मों का पालन करने वाले अन्यान्य वानप्रस्थ एवं सब कुछ त्याग कर सर्वत्र विचारने वाले संन्यासी भी इस गृहस्थाश्रम से ही भिक्षा, भेंट, उपहार पाकर अपने-अपने धर्म के पालन में प्रवृत्त होते हैं।

पू० प०—क्या यह हितकर नहीं होगा कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भी धनोपार्जन के लिए दिन का कुछ न कुछ समय व्यतीत करें, जिससे मानवों को और अधिक अवकाश मिल सके ?

उ० प०—धन, सोना, अथवा रत्नादिक का नाम नहीं है। धन तो उस परिश्रम का नाम है, जिसके करने से प्रकृति से संचित उपयोगी पदार्थ निकाले जा सकते हैं और उनको उपभोग के योग्य बनाया जा सकता है। सोना इत्यादि तो उस धन का संकेत मात्र है। अतः ब्राह्मण जो विद्याध्ययन कर विद्या पढ़ाता है, वह भी धनोपार्जन में सहायक होता है। एक विद्वान का इस दिशा में प्रयास तो एक वैश्य के प्रयास से किसी प्रकार भी कम मूल्यवान नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार क्षत्रिय, जो देश की रक्षा में अथवा देश में व्यवस्था रखने में संलग्न है, उस तिजोरी का कार्य करता है जो एक धनवान अपना संचित धन रखने के लिए प्रयोग में लाता है। यह देश के धन, जन की रक्षा करता है। यथार्थ में इसका परिश्रम भी देश को धनवान बनाये रखने में कम मूल्यवान नहीं है। यदि इसको सर्वोपरि समझा जाय तो अनुचित नहीं होगा।

पू० प०—गृहस्थ आश्रम के साथ विवाह की बात को जोड़ने की क्या आवश्यकता है। गृहस्थाश्रम धनोपार्जन के लिए ही मान लिया जाय और विवाह तब कराया जाय, जब धन का संचय हो जाय। उस समय पति-पत्नी संचित धन का उपभोग करें।

उ० प०—इसमें आपत्ति नहीं हो सकती। यदि कोई व्यक्ति अपना यौवन-काल, जिसमें परिश्रम कर धनोपार्जन की शक्ति सर्वाधिक रहती है, विषय-वासना से विरत रहकर व्यतीत कर सके तो गृहस्थ के इस अंग की अवहेलना की जा सकती है। ऐसा देखा गया है कि उस आयु में जब धनोपार्जन करना उचित माना गया है, वासनाएँ भी उग्र होती हैं। उनकी तृप्ति के लिए विवाह के बिना यत्न जहाँ भावी सन्तान की मानसिक प्रवृत्तियों को हीन बनाने में सहायक होगा, वहाँ वासना तृप्त करने वालों में भी मानसिक विकार उत्पन्न कर देगा। वासना-तृप्ति के साधन क्रय-विक्रय की वस्तु बन जावेंगे और तदनन्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज में भारी विग्रह को उत्पन्न करने वाले सिद्ध होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी पर मनुष्य जीवन के प्रारम्भिक काल में पुरुष-स्त्री सम्बन्ध के लिए विवाह-बन्धन का विधान नहीं था। परन्तु अनुभव से यह सिद्ध हुआ था कि इस सम्बन्ध को अनियन्त्रित रखने से समाज में घोर अव्यवस्था उत्पन्न होने लगी है। तब विवाह व्यवस्था का आविष्कार किया गया। समय-समय पर ऐसे व्यक्ति मानव-समाज में उत्पन्न होते रहे हैं, जो विवाह बन्धन से मुक्त रहकर, वासनामय जीवन से सर्वथा पृथक् रहने में यत्नशील रहे हैं। साधु, सन्त, महात्मा, इस श्रेणी में आते हैं। इनकी बात तो समझ में आती है, परन्तु विवाह-बन्धन से मुक्त रहकर वासना-तृप्ति में संलग्न तो जीवन में सफल नहीं हो सके। पृथ्वी भर के देशों के समाज इस व्यवहार को त्याज्य मानते हैं।

वासनाओं के उग्र होने की भी वही आयु होती है, जो परिश्रम कर सकने की आयु है। इस कारण पच्चीस वर्ष की आयु से पचास वर्ष की आयु जीवन के इन दोनों कार्यों लिए उपयुक्त मानी गई है।

अतएव गृहस्थ जीवन के दो मुख्य कार्य माने गये हैं। प्रथम मानव समाज को चलता रहने में सबल बनाने के लिए सन्तानोत्पत्ति और उसका पालन-पोषण। दूसरा धनोपार्जन (ज्ञान तथा सम्पदा की उपलब्धि) और धन को प्रयोग के योग्य बनाना। ये दोनों कार्य समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इसी कारण आश्रम-व्यवस्था को भी धर्म का अंग माना है।

वर्णाश्रम-धर्म सामाजिक-धर्म है। ●●

(पृष्ठ ६७ का शेषांश)

प्रेरणा देकर धन एकत्रित किया जा सकता है।

(१०) यह अनुमान लगाया जा सकता है कि देश में पढ़ने वाली आयु के विद्यार्थियों की संख्या पाठशालाओं में आठ करोड़, विद्यालयों में ढाई करोड़, महाविद्यालयों में ६० लाख और विश्वविद्यालयों में एक लाख के लगभग होगी और इनके लिये सरकार, केन्द्रीय तथा राजकीय, नगर निगमों तथा पंचायतों को सब मिलकर ८०० करोड़ के लगभग अनुदान देना होगा।

लगभग इतना ही निजी दान-दक्षिणा से प्राप्त किय जा सकता है। ●●

हमारे लोकप्रिय प्रकाशन

नाटक

सांपों की सृष्टि	हरिकृष्ण प्रेमी	२.५०
शीशदान	हरिकृष्ण प्रेमी	२.५०
कंजूस	आर० एम० डोगरा	२.००
एकांकी सरोवर	आर० एस० बंसल	३.००
शाप और वर	आर० एस० बंसल	३.००

कथा-साहित्य

गोमती के तट पर	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	६.५०
पाकिस्तान मेल	सं० खुशवंत सिंह	५.००
मिट्टी की लोथ	हरिप्रकाश	४.००
रक्षा बन्धन	रघुवीरशरण बंसल	५.००

आलोचनात्मक साहित्य

वृन्दावनलाल वर्मा	डा० कमलेश	५.००
हिन्दी गद्य विधाएं	डा० कमलेश	२.००
हिन्दी गद्य विकास	डा० कमलेश	२.५०
राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह	डा० कमलेश	५.००
रामचन्द्र शुक्ल	जयनाथ 'नलिन'	६.५०
विद्यापति : एक तुलनात्मक समीक्षा	,,	११.००
नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी	बटुक	६.५०
सूर-सरोवर	डा० हरवंशलाल शर्मा	२.५०

काव्य

प्रतिपदा	कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह	४.००
दौलतिबाग विलास	कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह	३.००

बाल तथा प्रौढ़ साहित्य

हमारा भारत	प्राणनाथ सेठ	१.२५
स्वाधीनता संग्राम की कहानी	रघुवीरशरण बंसल	१.२५
हम आजाद हुए	हरिकृष्ण प्रेमी	१.२५
मैं दिल्ली हूँ	रामावतार त्यागी	१.००
ईशोपनिषद्	गोपालजी	०.६०
उपनिषद्	,,	१.५०
हमारे आदिवासी	हरिप्रकाश	२.००
जय भारत विशाल	राजेन्द्र शर्मा	२.००

बंसल एण्ड कम्पनी

२४, दरियागंज, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी ग्रन्थ

जिनके कारण संसार के ऐतिहासिकों में क्रान्ति हुई है। जिनकी चोटों से भारत के योरोपीय और तदनुयायी एतद्देशीय इतिहास लेखकों की कल्पनाओं पर गहरा आघात पहुंचा है तथा च पाश्चात्य और कम्यूनिस्ट मत जर्जरित हो रहे हैं।

१. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग
नया परिवर्धित और परिमार्जित संस्करण (सन् १९६१) — १८.००

२. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, द्वितीय भाग
भारतवर्ष के इतिहास का अति परिमार्जित संस्करण (सन् १९६०) — २०.००

३. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों की शाखाएँ
पहले १०० पष्ठ में भाषा-विषयक जटिल प्रश्नों का स्पष्टीकरण, नया संस्करण — १०.००

४. वेदविद्यानिदर्शन
विज्ञान की अनेक ऐसी बातें जो अभी तक योरोप और अमरीका में भी अज्ञात हैं — १२.५०

५. आयुर्वेद शास्त्र का इतिहास
कविराज सूरमचन्द कृत — ८.००

पहले चार ग्रन्थ ख्यातनामा इतिहासज्ञ पं० भगवद्दत्त की कृति हैं।

मिलने का पता

इतिहास प्रकाशन मण्डल

३/४ ईस्ट पटेल नगर, नई दिल्ली-१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्यमात्र का परममित्र स्वायंभुव मनु

—श्री पं० भगवद्दत्त, रिसर्च स्कालर—

★

प्रास्ताविक—स्वायंभुव मनु का मानवमात्र पर महान् उपकार है। उसके उपदेश के आधार पर मानव-समाज सर्वोत्कृष्ट कल्याण मार्ग पर जीवन व्यतीत कर सकता है। पर भ्रान्त लोगों ने मनु को ही मिथिकल (mythical)[1] मान कर न केवल उसका अस्तित्व तिरोहित किया, तथा च उसकी शिक्षा का अनादर किया[2], प्रत्युत उसके काल-विषय में भी अनेक मिथ्या विचार फैलाए।[3] इनसे मनु का अप्रतिम महत्त्व कुछ दब-सा गया। अतः मनु और उसके उपदेश का वास्तविक मूल्याङ्कन करने से पहले उसके ग्रंथ की तिथि पर विचार नितान्त आवश्यक है।

मनु का धर्माधिकार—सर्गारम्भ में जन-संख्या अति थोड़ी थी। लोग निर्लोभ, धर्म-परायण, सत्यवक्ता, वेदवित्, नीरोग, और दीर्घायु थे। नारद ने नारदीय मनुसंहिता के आरम्भ में उस धर्मयुग का ऐतिहासिक चित्र उपस्थित किया है—

मनुः प्रजापतिर्यस्मिन् काले राज्यमबूभुजत्।
धर्मैकतानाः पुरुषास्तदासन् सत्यवादिनः॥१॥

इस श्लोक से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रजापति मनु एक जीता-जागता ऐतिहासिक राज्य-कर्णधार था।

समय के बीतने पर जन-संख्या वृद्धि की ओर जाने लगी। तब लोभ का प्रादुर्भाव हुआ। इस अन्तर में ब्रह्मा जी के त्रिवर्ग शास्त्र से स्वायंभुव मनु धर्माधिकार पृथक् कर चुका था। विष्णुगुप्त-वात्स्यायन कृत कामसूत्र के प्रथमाधिकरण में इसका सविस्तर उल्लेख है। नारद स्मृति के गद्य भाग के अनुसार वह बृहत् शास्त्र एक लाख श्लोकात्मक, १०८० अध्याययुक्त और २४ प्रकरणों में उपनिबद्ध था।

प्रकरणों का संकेत—नारद स्मृति की भूमिका के अनुसार नवम प्रकरण व्यवहार का था। इसमें वाक्पारुष्य आदि अवान्तर प्रकरण प्रतीत होते हैं। आचार्य विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृति की बालक्रीडा व्याख्या के प्रायश्चित्त अध्याय में मनुस्मृति के दण्डप्रकरण[4], संग्रहणाधिकार[5] और रहस्य [प्रकरण][6] का उल्लेख किया है। मनुस्मृति १२।१०७ के अनुसार श्लोक १०८ से रहस्य का उपदेश है। श्लोक ११७ में इसे धर्म का **परम गुह्य** रूप कहा है। अतः मूल प्रकरण २४ थे तो अवश्य, पर अब उन के नामों की सप्रमाण गवेषणा अपेक्षित है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के श्लोक ११०-११८ में अब लगभग ३६ का संकेत है।

धर्माधिकार की उत्तर-संहिताएं—भविष्य पुराण का एक श्लोक हेमाद्रि-रचित चतुर्वर्ग चिन्तामणि के दानखण्ड में उद्धृत है। तदनुसार स्वायंभुव मनु का विशाल शास्त्र चार संहिताओं में विभक्त हो गया। वे थीं, भार्गव, नारदीय, बार्हस्पत्य और आङ्गिरसी संहिताएँ। नारद स्मृति के उपोद्घात के अनुसार नारदीय संहिता १२००० श्लोकात्मक थी। उसका संक्षेप मार्कण्डेय ने ८००० श्लोकों में किया। उसका पुनः संक्षेप सुमति भार्गव ने ४००० श्लोकों में किया।

उत्तरोत्तर संक्षेप प्रवृत्ति—त्रिवर्ग शास्त्र के उत्तरोत्तर संक्षेप की ऐसी प्रवृत्ति का साक्ष्य वैशम्पायनकृता नीति प्रकाशिका १।२१-२७ आदि में भी है। विशाल शास्त्रों का उत्तरोत्तर संक्षेप हुआ, यह पालकाप्य, शालिहोत्र, देवल[7] और विष्णुगुप्त के अर्थशास्त्र के प्रमाणों से स्वतः सिद्ध है।

इस परम्परा पर पा० वा० काणे का मत—काणे जी ने धर्मशास्त्र का इतिहास बहुत परिश्रमपूर्वक लिखा है।

---

१. काणे, धर्मशास्त्र इतिहास भाग प्रथम, पृ० १३८। तथा च बूहलर, मनुस्मृति के अनुवाद की भूमिका (सन् १८८६) पृ०१५—The statements regarding the person of Manu can, at the best, only furnish materials for mythological research. मतान्ध ईसाई लेखक ने समझा था, कोई उसके कुतर्क की परीक्षा नहीं करेगा। २. यथा कम्यूनिस्टों ने। ३. बूहलर, काणे प्रभृति लेखकों ने। ४. प्रायश्चित्त, पृ० १२४। ५. तथैव, पृ० १५८। ६. तथैव, पृ० १७३। ७. देखो, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग प्रथम, द्वितीय संस्करण, पृ० ११७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके प्रथम भाग (सन् १९३०) में ग्रंथकारों के काल का निरूपण है। यह निरूपण भारतीय ऐतिहासिक-परम्पराओं का बहुधा अकारण अपितु निन्दायुक्त अनादर करके किया गया है। यथा काणे जी लिखते हैं—

No one should take very seriously these varying accounts even in the Mahabharata and in the Narada Smriti, as they are intended to glorify some particular text or texts.[1]

It is almost impossible to say who composed the Manu Smriti. It goes without saying that the mythical Manu, progenitor of mankind even in the Rigveda, could not have composed it. What motives could have induced the unknown author to palm it off in the name of the mythical Manu and to supress his identity it is difficult to say. One motive may have been to invest the work with a halo of antiquity and authoritativeness.[1]

इस उद्धृत लेख में काणे जी की प्रतिज्ञाएँ और हेतु निम्नलिखित हैं—

१. अर्थशास्त्र के उत्तरोत्तर संक्षेप का महाभारतस्थ इतिवृत्त तथा च स्वायंभुव मनु के व्यवहार-प्रकरण के उत्तरोत्तर संक्षेप का नारदस्मृति के उपोद्घात में उपलब्ध इतिहास, सत्य नहीं है।

हेतु—ये इतिवृत्त और इतिहास किसी ग्रन्थविशेष को प्रशस्त सिद्ध करने के अभिप्राय से लिखे गए हैं।

२. मनुस्मृति के रचयिता का जानना असंभव है।

३. मनु कल्पित पुरुष था। वह कदापि स्मृति नहीं रच सकता था।

४. किसी ने मनुस्मृति रच कर और अपना अस्तित्व छिपाने के लिए उसको [स्वायंभुव] मनु के नाम पर प्रसिद्ध कर दिया। इससे अधिक नहीं कहा जा सकता।

हेतु—इस छल का एक उद्देश्य हो सकता है। वह है, ग्रन्थ को अति प्राचीन काल और प्रामाणिक सिद्ध करना।

काणे-मत निस्सार—ये मत प्रतिज्ञामात्र हैं। इनमें यथार्थ हेतु और उदाहरणों का अभाव है। अतः सत्य पर पहुँचने के लिए काणे जी के लेख की परीक्षा क्रमशः की जाती है।

१. काणे जी का प्रथम मत प्रतिज्ञामात्र है। इसके विपरीत महाभारत और नारद-स्मृति के प्रतिपादन सर्वथा सत्य हैं। इनमें हेतु है। महाभारत के पूना-संस्करण का शान्तिपर्व हमारे सामने है। बहु और दूर-देश-प्राप्त पुरातन कोशों के आधार पर इसका सम्पादन हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि इस पर्व में प्रक्षेपों की मात्रा न्यूनीयसी है। सहस्रों विगत वर्षों में इसका कलेवर लगभग समान रहा है। उसके ५९वें अध्याय में त्रिवर्ग शास्त्र की उत्तरोत्तर परम्परा का इतिवृत्त है। परिवर्तन न होने से यह मूल कर्ता व्यास की ही कृति है। व्यास का इतिहास उसे परम सत्यवादी बताता है। उसे अपने जन्म की कथा के कहने में भी अणुमात्र संकोच नहीं हुआ। अतः उसका लिखा वृत्त विश्वसनीय है।

२. काणे जी का यह हेतु भी सर्वथा लंगड़ा है। व्यास ने किसी रचना को प्रशस्त बनाने के लिए कोई असत्य बात लिखी, यह कहना घृणास्पद है। व्यास सदृश परम श्रेष्ठ ब्राह्मण और योगी सम्मानना अथवा प्रशस्तता-प्राप्ति की भावना से सर्वथा ऊपर था। व्यास की नैसर्गिक-वाणी के कारण महाभारत प्रशस्त है। व्यास ने अनृत और कृत्रिम लेखों से उसका मूल्य नहीं बढ़ाया।

३. अब आई तीसरी बात। मनुस्मृति के उपदेष्टा का जानना असम्भव नहीं। उस अप्रतिम-बुद्धि महापुरुष को भृगु, यम, हारीत, गौतम, यास्क और व्यास आदि ऋषिगण सब जानते थे। नारद ने तो साक्षात् उसके राज्य की प्रतिकृति चित्रित की है। हाँ, वेद-मन्त्रगत मनु मानुष नहीं, दिव्य है। मानुष मनु का तो कुल तक प्रसिद्ध है। उसके उत्तरवर्ती वैवस्वत मनु के कारण अनेक गोत्र चले। नाभानेदिष्ट का वैश्य-गोत्र इस वैवस्वत मनु से चला। इन महापुरुषों को न जानना अपना अज्ञान प्रकट करना है। यह अज्ञान

१. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग प्रथम, संस्करण द्वितीय, पृष्ठ ११३ से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने ज्ञान-नेत्रों पर योरुप की ऐनक चढ़ाने का फल है।

४. मनुस्मृति क्यों नहीं रच सकता था। वह वेद का अपार-पण्डित था। वह ज्ञान का भण्डार था। उसके विषय में ऐसा लेख मिथ्या-कल्पना और असिद्ध जर्मन भाषा-मत के प्रभाव का नग्न कुफल है। इस भाषा-मत का विस्तृत खण्डन हमने भाषा का इतिहास नामक ग्रन्थ में किया है। काणे जी नहीं जानते कि आदि-काल से ही वैदिकी और व्यावहारिकी दोनों भाषाएँ चली आ रही हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ और यास्क का साक्ष्य इस विषय में अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

५. इस संख्या के अन्तर्गत काणे जी का कथन सर्वथा उपहासास्पद है। जिस देश में कूट-शासनों अथवा कूट-लेखों पर कड़ा प्रतिबन्ध रहा, जहाँ जाली-लेखों पर दण्ड मिलता था, वहाँ कूट-ग्रन्थ-रचन सरल नहीं था। इससे भी अधिक यह स्मरण रखना चाहिए कि एक पुरुष कूट-ग्रन्थ रचे और विभिन्न देशों के शतशः विद्वान् उसे कूट ग्रन्थ न समझें, यह असम्भव है। ऐसा लेख करते समय काणे जी ने भारत के प्राचीन इतिहास को नितान्त तिरस्कृत किया है। विक्रम से लगभग ३००० वर्ष पूर्व का उदारधि ग्रन्थकार यास्क भगवान् स्वायंभुव मनु को यथार्थ पुरुष समझता था।

६. यह हेतु, हेत्वाभास है। इसका खण्डन पूर्व संख्या ५ के अन्तर्गत हो चुका है। निस्सन्देह स्वायंभुव मनु स्वयं अति प्राचीन महर्षि था। यास्क भी सुप्रमाणित इतिहास के आधार पर जानता था कि वह विसर्ग-अवान्तर प्रलय के आदि में था। यास्क को व्यास भी उदारधि मानता है। यास्क की निर्मल बुद्धि के सम्मुख काणे जी की प्रज्ञा आर्द्रा-पिपीलिका के समान है। वह चल नहीं सकती। अतः सन्देह नहीं कि मनु का आम्नाय-ग्रन्थ आदि-काल का उपदेश था। किसी नवीन पुरुष ने अपनी नवीन-रचना पर उसका नाम जोड़ा नहीं। ऐसा दुस्साहस कोई स्वप्न में भी नहीं कर सकता था। किसी के ग्रन्थ में दो-चार प्रक्षिप्त श्लोक कहीं-कहीं डाले जा सकते थे, पर सारा ग्रन्थ, और स्वच्छ प्रामाणिक ग्रन्थ कूट हो, अथवा महर्षि मनु के नाम से जाल-रूप रचा जाए, और सहस्रों विद्वान् उसे यथार्थ रचना मानें, उसके शतशः प्रमाण अपने अमूल्य ग्रन्थों में दें, और महान् पण्डित, विख्यात आचार्य तथा च मुनिगण भी उसके ग्रन्थ पर भाष्य अथवा वृत्तियाँ लिखें, यह असम्भव है।

अपरं च वर्तमान मनुस्मृति को सर्वत्र मानव-धर्म शास्त्र की भृगु-प्रोक्त संहिता कहा है। इसी प्रकार नारद-संहिता को भी मानव-धर्मशास्त्र की नारद-प्रोक्त संहिता, अथवा नारदीय मनु-संहिता कहा है। अतः मनु और उसका उपदेश कल्पना नहीं थे।

अब हम पुनः प्रस्तुत विषय पर आते हैं।

वैवस्वत मनु—आदि युग के बहुत काल अतिवाहित होने पर, अथवा उसके अन्त में लोभ का प्रादुर्भाव हुआ। तब मात्स्य-न्याय प्रवृत्त हुआ। फिर प्रजाओं ने ऋषियों की सम्मति से विवस्वान्-पुत्र मनु को अपना राजा वरा। इस वैवस्वत मनु का काम था, दण्ड-नियम का सञ्चालन। वैवस्वत मनु ने दण्डविधान बनाया नहीं। वह पूर्व-प्रणीत दण्ड का केवल चलाने वाला था।

स्वायंभुव मनु का शास्त्र, अनुशासन मात्र—पहले लिख चुके हैं कि स्वायंभुव मनु का शास्त्र कोई स्वतन्त्र शास्त्र नहीं था। स्वतन्त्र शास्त्र प्रजापति ब्रह्मा अथवा स्वयंभू का था। उसके आधार पर बना स्वायंभुव का उपदेश अनुशासन मात्र था। इसी लिए नारदीय संहिता १८।९२, १०३ में श्लोक का चतुर्थ पाद है--**तन्मनोरनुशासनम्।**

उपदेश—मनु का अनुशासन उपदेश द्वारा था। आदि काल का वह युग उपदेश-युग था। उसमें मन्त्रों का भी उपदेश मात्र होता था। यास्कीय निरुक्त १।२० में इसका साक्ष्य है—**उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।** मनु के उपदेश को भृगु[1], यम[2], यास्क[3], व्यास[4], आदि ऋषिगण बहुधा—**मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्**, लिखते हैं। यह **अब्रवीत्** क्रिया केवल आदि-काल के ऋषियों की रचनाओं के साथ ही लगी मिलती है। इससे उपदेश-शैली का द्योतन होता है।

समास और व्यास, दो प्रकार का उपदेश—शान्तिपर्व

१. मनुस्मृति ८।१२४ आदि। २. कृत्यकल्पतरु. गार्हस्थ्य काण्ड, पृ० ५० पर उद्धृत। ३. निरुक्त ३।४॥
४. शान्तिपर्व २१।१२॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय ३७ में सिद्धों और मनु प्रजापति का संवाद उदाहरण-रूप में मिलता है। सिद्धों ने मनु से धर्म पूछा। उन के उत्तर में मनु के कथन का व्यास ने उपनिबन्धन किया है। यथा—

तैरेवमुक्तो भगवान् मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।
शुश्रूषध्वं यथावृत्तं धर्मं व्याससमासतः॥

इस श्लोक में स्पष्ट संकेत मिलता है कि मनु का धर्म-उपदेश, समास और व्यास दोनों रूपों में था।

उत्तर काल के धर्मशास्त्रकर्ताओं ने भी प्रायः ऐसा किया है। वराहमिहिर के बृहज्जातक और लघु जातक, वाग्भट की बृहत्, मध्यम और लघु संहिताएँ, भट्ट कुमारिल की बृहत् और टुप=लघु टीकाएँ, तथा च प्रभाकर-मिश्र की बृहट्टीका और लघु टीका आदि इस शैली के उदाहरण हैं।

मनुस्मृति का काल

स्वायंभुव मनु का बृहच्छास्त्र इस समय उपलब्ध नहीं है। उस शास्त्र का भृगु-प्रोक्त रूप ही इस समय मिलता है। यह रूप कब बना, इसका विवेचन अब आवश्यक है। प्रतीत होता है, भृगु के प्रवचन के भी दो रूप थे। एक था स्वायंभुव के सामने आदि काल के प्रवचन का स्वरूप, और दूसरा था, वह लघु स्वरूप जो अब बारह अध्यायों में मिलता है। भृगु बहुत दीर्घ-जीवी पुरुष था, अतः दूसरा रूप उसके जीवन के अन्तिम भाग में बना हो सकता है। वह काल द्वापर के आरम्भ में पड़ता है। स्मरण रहे कि ज्योतिष के दैवी युगों से मानव इतिहास के युगों का बहुत अन्तर है।

यह विवेचन हम अवर-काल से आरम्भ करते हैं, और क्रमशः पूर्व, पूर्वतर और पूर्वतम काल तक ले जाएंगे। इस मार्ग पर चलते हुए सत्य का यथार्थ दर्शन हो सकेगा।

१. आचार्य विश्वरूप—धर्मशास्त्र अथवा धर्मसूत्रों के उपलब्ध अथवा मुद्रित भाष्यों और व्याख्याओं में आचार्य विश्वरूप की याज्ञवल्क्य स्मृति पर लिखी गई बालक्रीडा व्याख्या सब से पुरानी है। इसमें वर्तमान मनुस्मृति के लगभग दो सौ श्लोक उद्धृत हैं। निस्सन्देह विश्वरूप के पास मनुस्मृति का वही पाठ था, जो इस समय हमारे पास है।

विश्वरूप का काल—अतः विश्वरूप का काल जानना आवश्यक है। काणे जी का अनुमान है कि विश्वरूप ईसा सन् ८००-८२५ के आस-पास हुआ था।[१]

काणे जी की भ्रान्ति का कारण—पाश्चात्यों का अनुकरण करते हुए काणे जी मानते हैं कि भट्ट कुमारिल ईसा सन् ७५० के समीप हुआ।[२] यही उनकी भ्रान्ति का प्रधान कारण है। विश्वरूप भट्ट कुमारिल के श्लोक उद्धृत करता है। अतः वह कुमारिल का उत्तरवर्ती था।

पाश्चात्यों की भ्रान्ति का कारण—पाश्चात्यों ने चीनी तिथियों को वृथा गौरव दिया है। कुमारिल वाक्यपदीय का श्लोक उद्धृत करता है। चीनी यात्री इत्सिङ्ग वैयाकरण भर्तृहरि और उसकी कृति वाक्यपदीय का स्मरण करता है। वह लिखता है कि "भर्तृहरि की मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं" (सन् ६५१-६५२)।[३] हमें सन्देह है कि इत्सिङ्ग का काल भी ठीक-ठीक नहीं जाना गया। चीनी तिथियों में दोष है, अथवा भर्तृहरि के विषय में इत्सिङ्ग को भ्रान्ति हुई है।

काणे और पाश्चात्यों की भ्रान्ति का निराकण—सन् १९३१ में हम ने वैदिक वाङ्मय का इतिहास ग्रन्थ के वेदों के भाष्यकार नामक भाग में यह सूचना दी थी कि शतपथ ब्राह्मण पर हरिस्वामी के भाष्य के कुछ काण्ड उपलब्ध हो गए हैं। उनमें से प्रथम काण्ड के भाष्य में हरिस्वामी ने अपना काल कलि संवत् ३७४० (=६३८ सन् ईसा) दिया है। हरिस्वामी कुमारिल और प्रभाकर दोनों का नाम स्मरण करता है। अतः कुमारिल सन् ६०० से पूर्व का ग्रन्थकार था।[४]

विश्वरूप कुमारिल को उद्धृत करता है, अतः वह सन् ७५० (कुमारिल विषयक कल्पित-तिथि) से उत्तरवर्ती नहीं, प्रत्युत सन् ६०० से उत्तरवर्ती ठहरेगा। इस सुदृढ़ साक्ष्य के सम्मुख चीनी आधार पर तिथि-गणना करने का कोई मूल्य नहीं।

विश्वरूप के ग्रन्थ में उसके काल का संकेत—बालक्रीडा व्याख्या, व्यवहार काण्ड के अन्त में विद्वान् आचार्य

१. पृ० २६३। २. पृ० २६१। ३. हिन्दी अनुवाद, पृ० २७५। ४. अधिक विवेचना के लिए, देखो, हमारा भारतवर्ष का बृहद इतिहास, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ३०१-३०२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वरूप लिखता है—

इति सम्भृतमण्डलः सुधामा पुरुरुचिरो रमणः प्रतापशीलः। रविरिव नृपतिः समः प्रजानां जगदखिलं व्यवहारतो बिभर्ति॥

आश्चर्य है कि सम्राट् हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन का दूसरा नाम प्रतापशील था। बाण अपने हर्षचरित (निर्णय सागर सं०, पृ० १७४) में लिखता है— **प्रतापशील इति प्रथितापरनामा प्रभाकरवर्धनो नाम राजाधिराजः।**

अतः विश्वरूप ने व्यवहार काण्ड के अन्त में सूर्य की उपमा से श्लेष द्वारा राजा का सामान्य वर्णन करते हुए अपने काल के राजा प्रतापशील के व्यवहार-न्याय का वर्णन कर दिया है। उसका **पुरु रुचिरः** विशेषण प्रतापशील के स्वभाव का पूरा चित्र खींचता है।

अन्य प्रमाण—एक और भी विचारणीय स्थल है। वासवदत्ता (पृ० १७५) पर पाठ है—**केचिज् जैमिनिमतानुसारिण इव तथागतध्वंसिनः।** इस वचन से सुबन्धु कुमारिल और प्रभाकर आदि का संकेत कर रहा है। वही जैमिनि मतानुसारी थे। उन्होंने ही तथागत मतों का अत्यन्त ध्वंस किया। वासवदत्ता सन् ६०० से बहुत पूर्वकाल की रचना है। आ० बैरिडेल कीथ सुबन्धु का काल सन् ६५० मानता है।[1] वररुचि का भागिनेय बहुत पूर्वकाल का था।

वर्णाश्रम धर्म संस्थापक—प्रतापशील वर्णाश्रम धर्म संस्थापक था। हर्षवर्धन के शासन इस में प्रमाण हैं। अतः उसी के काल में बालक्रीडा सदृश अपूर्व व्याख्या लिखी गई। उसका काल संवत् ६०० के समीप पड़ता है।

२. भारुचि—मानव धर्मशास्त्र का विवरणकार आचार्य भारुचि विश्वरूप से कुछ पूर्वकाल का प्रतीत होता है। उसका विवरण मुद्रित तो नहीं हुआ, पर मनु ६।९ से १२।१२६ तक उसके विवरण का एक हस्तलेख त्रिवेन्द्रम में सुरक्षित है। उसके आधार पर यौवन में ही परलोकगत श्री टि० आर० चिन्तामणि ने एक लेख आल इण्डिया ओरिअण्टल कान्फ्रेंस सन् १९४३—४४ के वाराणसी सत्र के लिए लिखा था। वह सन् १९४६ में कान्फ्रेंस के इतिवृत्त भाग २ में, पृ० ३५२—३६० पर छप चुका है। तदनुसार उस काल में भी वर्तमान-मनुस्मृति ही थी।

३. कुमारिल—संवत् २००—४००। कुमारिल का काल सुबन्धु से पूर्व है। यह पहले लिख चुके हैं। अतः वह संवत् ४०० से उत्तर काल का नहीं होगा। उसके विषय में काणे जी लिखते हैं—

The Tantravartika of Kumarila stands in a special relation to the Manusmriti .....He places Manu at the head of all smritis, even higher than the dharmasutra of Gautama. He cites numerous quotations from the first chapter of the Manusmriti to the last. He looks upon all parts of the extant Manusmriti as equally authoritative and regards the Manusmriti as the highest authority on matters of dharma.[2]

इस लेख में काणे जी ने मनु-विषयक कुमारिल के विचारों का यथार्थ चित्र चित्रित किया है। सत्य है, यदि काणे जी पर योरुप के मिथ्या भाषा-मत का मुलम्मा न चढ़ा होता, तो वे भारतीय परम्परा को उसके वास्तविक रूप में समझ सकते। उनकी योग्यता पर्याप्त श्रेष्ठ है, पर विदेशी अनृतपूर्ण भार के नीचे अधिक दबी रहने के कारण पूरी उभर नहीं सकी।

कुमारिल का महत्त्व—भट्ट कुमारिल भारतीय इतिहास अथवा भारतीय परम्परा से सुपरिचित था। उसने जिस बल, वेग, पूर्ण आत्म-विश्वास और असाधारण प्रतिभा से बौद्धों पर अप्रतिहत और असह्य प्रहार किया, उस को दृष्टि में रखते हुए मानना पड़ता है, कि वह अतीव सावधान मन से लिख रहा था। उसे प्रतिक्षण ध्यान रहता था कि उसका लेख प्रतिपक्षी बौद्धों की पकड़ में न आ जाये। अब जब कुमारिल ने वर्तमान मनुस्मृति को गौतम धर्मसूत्र से भी पुराना माना है, तो उसके कथन में यथार्थता है, सत्यता है और अनवच्छिन्न भारतीय-परम्परा की शुभ्र-निर्मल छाया है। वह उन अनेक भाष्यों, वृत्तियों विवरणों और निबन्धों से पूर्ण परिचित था, जो अति प्राचीन काल

१. हि० सं० लि०, पृ० ३०८। २. पृ० १४५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से इस स्मृति पर लिखे जा रहे थे। कुमारिल का विशाल ज्ञान काणे जी के क्षुद्र-ज्ञान से शतशः गुणा अधिक व्यापक था।

वस्तुतः वर्तमान मनुस्मृति सम्पूर्ण धर्मसूत्रों अथवा धर्मशास्त्रों से पुरानी है।

४. अश्वघोष—विक्रम संवत् से २०० वर्ष से भी पूर्व। भदन्त अश्वघोष का वज्रसूची ग्रंथ सुप्रसिद्ध है। इसका एक सुन्दर संस्करण कलकत्ता से सन् १९५५ में प्रकाशित हो चुका है। इसमें गम्भीर, वज्र सत्यों की सूची है। बौद्ध मत स्वीकार करने के पश्चात् भी उस ब्राह्मण ने मनु, महाभारत आदि सब प्राचीन ग्रन्थों से शाश्वत सत्य एकत्र कर दिये हैं। उसका ग्रन्थ सूचीमात्र है। इस में मानव धर्मशास्त्र के अनेक श्लोक उद्धृत हुए हैं। उनमें से अधिकांश वर्तमान मनुस्मृति में मिलते हैं। शेष उस बृहन्मनु अथवा भृगु की व्यास-मनु-संहिता से लिए होंगे।

५. असहाय-विष्णुगुप्त—असहाय ने अनेक स्मृतियों पर भाष्य रचे। मनुस्मृति, नारदस्मृति और गौतम धर्मसूत्र पर निश्चय ही उसके भाष्य थे। असहाय के मनु-भाष्य का उल्लेख सरस्वती विलास पृ० ३४८ पर है। असहाय का नारदीय स्मृति पर प्रथम प्रकरण से, प्रकरण पाँच के श्लोक २१ तक का भाष्य कलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी द्वारा सन् १८८५ में छपा था। गौतम धर्म सूत्र पर असहाय ने भाष्य किया था। उसका वर्तमान मुद्रित ग्रन्थों में सब से पुराना प्रमाण बालक्रीडा व्याख्या में मिला है। इस व्याख्या में प्रायश्चित्ताध्याय श्लोक २६४ पर विश्वरूप गौतम धर्मसूत्र २२।१३ उद्धृत करता है। उस पर वह लिखता है—**असहायप्रभृतिभिः···व्याख्यातम्**। बहुत सम्भव है कि विश्वरूप के मन में यहां प्रभृति लिखने का यह प्रयोजन था, कि असहाय से लेकर अन्य उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने ऐसा व्याख्यान किया है। प्रभृति पद का **से लेकर** अथवा **से आरम्भ करके** भी अर्थ बनता है।

असहाय विष्णुगुप्त क्यों—विष्णुगुप्त चाणक्य को कामन्दकीय नीतिसार १।५ में एकाकी भी कहा है। एकाकी का पर्याय असहाय शब्द है। उस विष्णुगुप्त असहाय ने धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, इन चारों विषयों पर ग्रन्थ लिखे थे। इसका प्रमाण नीतिसार की उपाध्याय-निरपेक्षा टीका १।२ में मिलता है। तदनुसार गौतम धर्म-सूत्र पर चाणक्य का भाष्य था। हमें वह भाष्य असहाय भाष्य ही प्रतीत होता है। इस विषय का अधिक विस्तार हमारे भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग द्वितीय, पृष्ठ २६६—२६७ पर मिलेगा।

कौटल्य-विष्णुगुप्त—गौतम धर्मसूत्र के असहाय-भाष्य के अतिरिक्त विष्णुगुप्त ने मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त के लिए अर्थशास्त्र का संक्षेप किया। यह रचना कलि-संवत् १६०० के समीप हुई। वही मौर्य राज्य के आरम्भ का काल था। कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बहुधा मनु के श्लोकों का आश्रय लिया है और कहीं-कहीं उस के शब्दों का स्वल्प सा रूपान्तर किया है।

असहाय–विष्णुगुप्त वर्तमान मनुस्मृति से पूर्ण परिचित था। अतः वर्तमान मनुस्मृति कलिसंवत् १६०० से पूर्व का ग्रन्थ है।

काणे जी सम्मत असहाय काल—असहाय के काल-विषय में काणे जी लिखते हैं:—

He can hardly be earlier than the 6th century.

अर्थात्—वह ईसा की छटी शती से पूर्व नहीं हो सकता।

वस्तुतः असहाय विश्वरूप से बहुत पहिले था। उसके नाम में जो सूक्ष्म-भाव दिखाई देता है, तदनुसार असहाय, एकाकी विष्णुगुप्त ही था। इस प्रकार उसका काल अति पुराना था।

काणे जी के भ्रान्त-परिणाम का कारण—काणे जी के इस लेख का कारण स्पष्ट है। उन्होंने मनु, नारद और याज्ञवल्क्य आदि के धर्मशास्त्रों, तथा च हारीत, देवल और गौतम आदि के धर्मसूत्रों को अर्वाचीन मान लिया है। इसका कारण, पाश्चात्य मिथ्या भाषा-मत की कल्पनाओं में विश्वास है। इस विश्वास के कारण उन्होंने धर्म के भाष्यकारों और निबन्धकारों को भी ईसा सन् ५०० से उत्तर काल में ही रख दिया है।

६. देवस्वामी—इस नाम का महापुरुष एक अति प्राचीन ग्रन्थकार था। प्रपञ्चहृदय (पृ० ३९) के अनुसार उसका काल आचार्य उपवर्ष और शबर स्वामी के कहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्य में था। शवर स्वामी भट्ट कुमारिल का पूर्ववर्ती और लगभग विक्रम शती प्रथम का ग्रन्थकार था। उससे पहले भवदास और भवदास से पहले देवस्वामी था। संभवतः वह विष्णुगुप्त से पहले हुआ हो। उसके निम्न-लिखित ग्रन्थ अबतक हमारे ज्ञान में आये हैं—

१. वेदभाष्य—महाभारत के व्याख्याकार विमल बोध ने इस भाष्य का स्मरण किया है।[1]

२. आश्वलायन श्रौत और गृह्य भाष्य—इन दोनों भाष्यों का वर्णन हम ने वेदों के भाष्यकार नामक ग्रन्थ के पृ० २०, २१ पर किया है।

३. अग्निष्टोम प्रयोग—इस ग्रन्थ के अस्तित्व का पता न्यू कैटेलागस कैटेलागोरम भाग १, पृ० ३३, स्तम्भ १ से मिलता है।

४. षोडषाध्यायी मीमांसा भाष्य—इन सोलह अध्यायों में बारह अध्याय वर्तमान मीमांसा शास्त्र के और शेष चार अध्याय संकर्ष काण्ड के हैं। सङ्कर्ष काण्ड भाष्य के दो तीन हस्तलेख अब भी उपलब्ध हैं। इस भाष्य का उल्लेख प्रपञ्च हृदय पृ० ३९ पर है। इसी भाष्य के प्रथम बारह अध्यायों का अति संक्षेप आचार्य शबर स्वामी ने किया।

५. धर्मशास्त्र निबन्ध—इस निबन्ध का नाम सम्भवतः स्मृति समुच्चय था। इसका स्मरण स्मृति चन्द्रिका, व्यव-हार काण्ड, पृ० २६६ पर है। मनु ३।१४८ में विट्पति पद है। देवस्वामी ने इसका अर्थ अतिथि किया है।[2]

६. ज्योतिष ग्रन्थ—वराह मिहिर अपने बृहज्जातक ७।७ में देवस्वामी के ज्योतिष ग्रन्थ का संकेत करता है।

देवस्वामी एक ही—इन छः ग्रन्थों का लिखने वाला एक ही विद्वान् था। यदि देवस्वामी नाम धारण करने वाले इन ग्रन्थों के लेखक एक से अधिक होते, तो पुरातन काल के विद्वान् उनका पार्थक्य दर्शाने के लिए उनके नाम के साथ कोई विशेषण, कोई गोत्र आदि अवश्य जोड़ते। परन्तु किसी ने ऐसा किया नहीं, अतः काणे जी का निम्न उद्धृत लेख तर्कपूर्ण नहीं :—

There are not sufficient data available to establish the identity of this writer (on Samkarsa Kanda) with Devasvami, the writer on dharmasastra.[3]

काणे जी को दो देवस्वामियों के होने के ठोस प्रमाण देने चाहिएँ थे।

देवस्वामी का काल—देवस्वामी का काल विक्रम से बहुत पहिले, आचार्य विष्णुगुप्त के आस-पास का था। पर इस बात से भयभीत होकर, कि धर्मशास्त्रों का काल बहुत पुराना सिद्ध न हो जाये, काणे जी ने लिखा :—

Devasvami probably flourished about 1000–1050 A D., if not earlier.

अर्थात्—देवस्वामी सम्भवतः ईसा—सन् १०००–१०५० के समीप हुआ था।

कहाँ शवर का पूर्ववर्ती ग्रन्थकार और कहाँ ईसा—सन् १०००। आर्य इतिहास के साथ यह परले सिरे का बला-त्कार है। सारी भारतीय जाति को घोर अन्धकार के गर्त में धकेलना है। अलीक वैदुष्य का डंका पीट कर अनृत फैलाना है। अपने पक्ष को गिरता देखकर दो देवस्वामियों की कल्पना तर्क का हेय-पथ है। अपनी कल्पित तिथियों को ठीक मानकर ऐसा लेख साध्यसमहेत्वाभास है।

देवस्वामी और मनु—देवस्वामी के जो वचन मनु-विषयक मिलते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि उसके काल में भी वर्तमान मनुस्मृति उपलब्ध थी।

७. भर्तृयज्ञ—सत्यनिष्ठ, महामहिम पुरातन ग्रन्थकारों की पावनी पंक्ति में अब एक ऐसे अप्रतिम विद्वान् का नाम आता है, जिसका काल लगभग सुनिश्चित है। उसके काल से मनुस्मृति के काल पर बहुत प्रकाश पड़ता है। अस्तु।

भर्तृयज्ञ के निम्नलिखित ग्रन्थ अब तक ज्ञात हुए हैं—

१. मनुभाष्य—मनुस्मृति ८।३ पर भट्ट मेधातिथि भर्तृयज्ञ के मनुभाष्य के विषय में एक लम्बा लेख लिखता है।

२. गौतम धर्मसूत्र भाष्य—लक्ष्मीधर अपने नियत काल काण्ड पृ० २०३ पर गौतम धर्मसूत्र ५।४१ के अन्तर्गत अधिवृक्षमूर्य शब्द पर लिखता है—**अधिवृक्षसूर्यंशब्दः सायं-**

---

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग, पृ० ७०। २. स्मृति चन्द्रिका, श्राद्ध काण्ड, पृ० १६०। ३. पृ० २८१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल पर इति मस्करिभर्तृयज्ञौ। इन दोनों विद्वानों ने गौतमसूत्र के भाष्यों में यह अर्थ किया था। तथा गौतम धर्मसूत्र २।१।३९ के **संविभाग** पद पर लक्ष्मीधर भर्तृयज्ञ का भाष्य उद्धृत करता है।

३. वासिष्ठ धर्मसूत्र भाष्य—वासिष्ठसूत्र ८।१ पर लक्ष्मीधर अपने गार्हस्थ्यकाण्ड पृ० ५ पर भर्तृयज्ञ का भाष्य उद्धृत करता है। गृहस्थ-रत्नाकर आदि अन्य ग्रन्थों में भी वासिष्ठ धर्मसूत्र का भर्तृयज्ञ भाष्य उद्धृत है।

४. याज्ञवल्क्य स्मृति भाष्य—इस भाष्य के अस्तित्व की मुझे सम्भावना मात्र है। इसका आधार नियतकाल-काण्ड, पृ० २५६ पर का संकेत है।

५. कात्यायन श्रौतसूत्र भाष्य—यह भाष्य कृत्यकल्प तरु के ब्रह्मचारी काण्ड पृ० ७६ पर उद्धृत है। इस भाष्य का प्रथम अध्याय बड़ोदा के पुस्तकालय में और तृतीय अध्याय अलवर के पुस्तकालय में संख्या १३१ के अन्तर्गत है।

६. कात्यायन गृह्यसूत्र भाष्य—बड़ोदा के राजकीय पुस्तकालय में संख्या १०६०४ के अन्तर्गत इस ग्रन्थ का एक हस्तलेख और दूसरा त्रुटित हस्तलेख एशियाटिक सोसाइटी, बङ्गाल के पुस्तकालय में है।

७. धर्मशास्त्र निबन्ध—भर्तृयज्ञ के धर्मशास्त्र-निबन्ध का एक श्लोक वीरमित्रोदय के श्राद्ध प्रकाश, पृ० २०२ पर उद्धृत है।

भर्तृयज्ञ के कालविषय में काणे जी का मत—अपने कूपमण्डूक ज्ञान के कारण काणे जी लिखते हैं:—

Bhartriyajna must have flourishad before 800 A.D., and was probably a contemporary of or slightly later than Asahaya.[1]

अर्थात्—भर्तृयज्ञ सम्भवतः असहाय का समकालीन अथवा उससे स्वल्प उत्तरकालिक है।

काणे जी ने असहाय को ईसा की छटी शती में रखा है। अतः उनके अनुसार भर्तृयज्ञ का भी वही काल है।

काणे-मत सत्य से कोसों दूर—इस विषय में विचारणीय है, कि कात्यायन कल्प भाष्यकार उपाध्याय कर्क विक्रम की छटी शती से अवश्य पूर्व का ग्रन्थकार है। कारण, कि गुर्जर-वंश का दद्द द्वितीय, उपनाम प्रशान्तराग अपने सम्वत् ३८० के एक शासन में—**अध्वर्यु-वाजसनेय**..... **धूम्रायण सगोत्र कर्काध्यापक**, का नाम स्मरण करता है।[2] यह कर्क पारस्कर गृह्य भाष्य में भर्तृयज्ञ का स्मरण करता है। अन्यत्र भी भर्तृयज्ञ एक अति पुरातन ग्रन्थकार माना गया है। अतः काणे जी के अनुमान प्रमाण-शून्य हैं।[3]

परमात्मा का कोटि-कोटि धन्यवाद है कि काणे जी ने भर्तृयज्ञ भी दो नहीं बना दिए। यदि उन्हें कर्क भाष्य में भर्तृयज्ञ के स्मरण का ध्यान होता, और वे कर्कोपाध्याय के काल को जानते होते, तो वे अवश्य ऐसा करते। पर अब तो उन्हें न्याय्य भाव से यह मानना पड़ेगा कि भर्तृयज्ञ सम्वत् ६३० अथवा सन् ५८० से पूर्व का ग्रन्थकार था। प्रशान्तराग के सम्वत् पर हम ने अभी गवेषण नहीं किया। अनेक लोग इसे कलचुरी सम्वत् कह देते हैं। इस लिए हम ने ३८० के साथ २५० का जोड़ करके सन् ५८० लिख दिया गया है। परन्तु प्रशान्तराग का सम्वत् कलचुरी सम्वत् था, इसके लिए सुदृढ़ प्रमाण अपेक्षित हैं।

भर्तृयज्ञ का यथार्थ काल—स्कन्द पुराण में भर्तृयज्ञ की वंश-परम्परा पूरी सुरक्षित है। तदनुसार वाजसनेय याज्ञवल्क्य का पुत्र कात्यायन, और कात्यायन का पुत्र वररुचि और वररुचि का पुत्र भर्तृयज्ञ था। उसी ने अपने पितामह के कल्प अर्थात् श्रौत और गृह्य पर भाष्य रचे। उसी ने मनु पर भाष्य लिखा। कल्पसूत्रों का धर्मशास्त्रों से गहरा सम्बन्ध है। अनेक कल्पों में धर्मसूत्र अङ्गमात्र हैं। अतः इस कल्पविशेषज्ञ का मनु पर भाष्य कोई असङ्गत बात नहीं।

इस प्रकार भर्तृयज्ञ का काल भारत युद्ध से २५० वर्ष से अधिक उत्तर का नहीं है। उस समय भी मनुस्मृति लगभग वर्तमान रूप वाली ही थी। स्वल्प प्रक्षेप इस विषय में बाधा उपस्थित नहीं करते।

८. कात्यायन—भर्तृयज्ञ का पितामह मुनि कात्यायन

---

१. पृ० २५२। २. मिराशी, कलचुरी शासन पृ० ६२। ३. यह वाक्यसमूह हमारे भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग द्वितीय, पृ० २९ पर भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक शास्त्रों और निबन्धों का रचयिता था। उसका स्मृति ग्रन्थ अभी अप्राप्त है। पर उसका कर्मप्रदीप ग्रन्थ सर्वत्र सुलभ है।

काणे-मत—काणे जी ने अपने इतिहास के पृ० २८८ पर लिखा है कि कर्मप्रदीप आदि का कर्ता कात्यायन ईसा की चौथी और छटी शती के मध्य में हुआ था।

काणे मत खण्डन—काणे जी के इस कल्पित मत का सविस्तर खण्डन हमने वर्ष १०, अङ्क १,२ के वेदवाणी नामक मासिक पत्र के वेदाङ्क में पृ० २८,२९ पर, सं० २०१४ में कर दिया था। वहाँ यह सिद्ध किया गया है कि कर्मप्रदीपकार कात्यायन ही व्याकरण वार्तिककार कात्यायन था। वह महाभाष्यकार पतञ्जलि से भी बहुत पहले हो चुका था। अतः मनु, बृहस्पति और नारद आदि का जो काल काणे जी ने कल्पित किया है, वह सर्वथा हेय है।

कात्यायन के परिशिष्ट—कात्यायन के १८ याजुष परिशिष्ट सुप्रसिद्ध हैं। उनमें एक प्रावरिक सूत्र है। उस के अन्त में श्लोक ३५ का उत्तरार्ध और श्लोक ३६ मनुस्मृति ३।४-५ हैं।

अतः मनुस्मृति बहुत पुरातन ग्रन्थ है।

९. भागुरि—मनुस्मृति पर भागुरि मुनि का भाष्य था। मनु ८।१९८ के **अनपसर** शब्द पर लिखते हुए कल्पतरुकार लक्ष्मीधर ने भागुरि वृत्ति का अनुमत अर्थ दिया है। जीमूतवाहन और चण्डेश्वर भी भागुरि का स्मरण करते हैं। यह भागुरि महाभारतकाल में जीवित था। अतः मनुस्मृति उसके काल से पहले थी।

१०. कल्पकार और मनुस्मृति—आपस्तम्ब, वसिष्ठ, बौधायन, कौषीतकि आदि धर्मसूत्रकार तथा गृह्यसूत्रकार मनुस्मृति के अनेक श्लोक उद्धृत कर रहे हैं। अतः मनुस्मृति उन सबसे पहले थी। देवल ने स्पष्ट लिखा है कि कल्पकार लेखक मनु के अनुशासन के प्रयोक्ता थे।

११. महाभारत और मनुस्मृति—महाभारत में वर्तमान मनुस्मृति के शतशः श्लोक उद्धृत हैं। वे किसी अन्य ग्रन्थ से नहीं आये।

१२. देवल और हारीत धर्मसूत्रों में—अब तक देवल और हारीत धर्मसूत्र मुद्रित नहीं हुए। पर निबन्ध न ग्रन्थों में उनके शतशः पाठ उपलब्ध होते हैं। ये दोनों धर्मसूत्रकार महाभारत से बहुत पहले अपने ग्रन्थ लिख चुके थे। उनके ग्रन्थों में मनुस्मृति का बहुत पाठ उद्धृत है। मनुस्मृति इन से पहले विद्यमान थी।

१३. मनुस्मृति का प्रवचन-काल—मनुस्मृति कृत ग्रंथ नहीं है। यह प्रोक्त मात्र है। इसका उपदेश स्वायंभुव मनु ने किया। उसका पुनः प्रवचन भृगु आदि ने किया। भृगु का एक पाठ बहुत विस्तृत अथवा व्यास रूप में था। उसका दूसरा लघु अथवा समास-पाठ बहुत काल पश्चात् हुआ।

लघु-पाठ में मांस के प्रकरण—सर्वशास्त्र सम्मत है कि पुराकाल में यज्ञों में पशु-वध नहीं होता था। यह प्रथा बहुत उत्तर-काल में चली। इस प्रथा का उल्लेख मनु ५।२६—४१ आदि में है। अतः मनुस्मृति के ये श्लोक तथा कई अन्य प्रकरण इस अर्वाचीन काल में मूल उपदेश में सन्निविष्ट हुए।

अन्तः साक्ष्य—मनुस्मृति ७।४१—तथा ८।११० में इक्ष्वाकु कुल के **सुदा पैजवन** का नाम उपलब्ध होता है। मनुस्मृति २।२३ में म्लेच्छदेशः का और ७।१४९ में म्लेच्छ का वर्णन है। संसार में म्लेच्छ आदि में नहीं थे। अतः भृगु का यह पाठ म्लेच्छोत्पत्ति के उत्तर-काल का है। मनुस्मृति २।१९ तथा ८।९२ में कुरुदेश का वर्णन है। इस देश का यह नाम महाराज कुरु के कारण से पड़ा था। अतः मनुस्मृति की वर्तमान संहिता कुरु के पश्चात् प्रोक्त हुई। इसी प्रकार मनुस्मृति में भरद्वाज आदि ऋषियों का नाम भी स्मृत है अतः यह मनु संहिता महाभारत से बहुत पहले पर कुरु आदि के पश्चात् प्रोक्त हुई।

भाषा के प्रमाण—मनुस्मृति की प्राचीनता में मनुस्मृति की भाषा का भी प्रमाण है। यह भाषा पाणिनि से पूर्व काल की भाषा है। इसके कतिपय उदाहरण आगे दिये जाते हैं—

१. पंचमी, चतुर्थी और तृतीया विभक्ति के स्थान में षष्ठी का प्रयोग—

(क) नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ।७।१०३॥
नित्यमुद्यतदण्डात्

(ख) नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यात् ।२।५६॥ कस्मैचिद्

(ग) नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् ।२।११०॥ कस्मैचिद्

(घ) अन्नस्य वर्जितम् ।३।२२४॥ अन्नेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. अ, इ और उ के दीर्घ रूप का पर्याप्त प्रयोग—

(क) उपनायन । २।३६।। उपनयन

(ख) परीवाद ।२।२००, २०१।। परिवाद

अमर में दोनों रूप हैं, पर दीर्घ ई वाला रूप प्रयोग में अत्यल्प हो गया है ।

(ग) प्रतीमान ।८।४०३।। प्रतिमान

अमर में दोनों रूप है, पर दीर्घ ई वाला रूप प्रयोग में अत्यल्प हो गया ।

(घ) पूरुष ।८।४३, ८५।। पुरुष

३. लिंग—वचन भेद

गुरुदारे ।२।२४७।। वर्तमान में दारा पद बहुवचनान्त ।

४. परस्मैपद, आत्मनेपदभेद—

तदा नियुञ्ज्यात् । मनु ८।९।। कात्यायन आत्मनेपद में—नियुञ्जीत्—मानता है ।

मनुस्मृति में ऐसे प्रयोग भरे पड़े हैं । मनु और भृगु पुरातन-काल के पुरुष थे । फलतः उनकी भाषा भी पुराने रूप को पुष्कल सुरक्षित रख रही है ।

विष-वमन—मनु और उस के ग्रन्थ के विषय में मैक्स मूलर, बूहलर और बटकृष्ण घोष आदि ने विष-वमन किया । काणे जी ने भय अथवा अज्ञान से उनका पर्याप्त अनुकरण किया । कम्युनिस्टों ने इससे लाभ उठाया । अतः इस पक्ष का थोड़ा खण्डन आवश्यक था ।

पर-हेतु-प्रभिन्न—इस प्रकार पर-पक्षियों के हेतुओं को प्रभिन्न करके अब हम मनु के महान् उपकारों का उल्लेख करते हैं ।

मनु की देन

१. वेद का महत्त्व—अपने असाधारण और अति व्यापक ज्ञान के कारण, अपनी सूक्ष्मेक्षिका से, अपनी सात्त्विक और निर्मल प्रज्ञा से, अपने उस असीम योगबल से, जिसके आधार पर वह भूत, भव्य और भविष्य को जान गया, मनु ने वेद के अलौकिक ज्ञान, विज्ञान का गीत गाया । मनु का उपदेश है—

(क) वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ।२।६।।

अर्थात्—वेद सम्पूर्ण धर्म (कानून, law) का मूल है । धर्म राज्यका एक प्रधान अङ्ग है । धर्म से ही दण्ड चलता है ।[1] धर्म से आचार-मर्यादा स्थिर होती है । धर्म से स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य, सेनापति-सेना, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, व्यापारी-व्यापार बँधे हुए हैं । धर्म-विहीन राजा-प्रजा गहरे गर्त में गिर जाते हैं ।

इस सम्पूर्ण धर्म का मूल वेद है । परन्तु गत १५०० वर्ष में भारतीय-लोग इस सत्य को भूल गए । इस काल में एक विश्वरूप आचार्य (संवत् ६०० के समीप) हुआ है, जिसने बालक्रीडा व्याख्या में याज्ञवल्क्य के श्लोकों की पुष्टि वेद मन्त्रों और ब्राह्मण-पाठों से की है । अन्य टीकाकारों का इधर ध्यान भी नहीं गया ।

वेद का यथार्थ विद्वान्—भारतीय संस्कृति में वही पुरुष वेद का पण्डित अथवा वैदिक-विद्वान् माना जाएगा, जो वेद की श्रुतियों से सम्पूर्ण धर्मशास्त्र का आगम बता सके । दण्ड-विधान की सूक्ष्मताएँ वेद-मन्त्रों से दिखानी आवश्यक होंगी ।

समाज-शास्त्र का आधार वेद—मनुष्य समाज में रहता है । समाज का ढाँचा वेद से चला है । तभी समाज शास्त्र की आवश्यकता पड़ी । उसकी रक्षा दण्ड-विधान से हुई । अतः उस शास्त्र का आधार वेद है ।

(ख) वेद और वेद का प्रतिपादक मनु दोनों सर्वज्ञानमय । मनु कहता है—

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ।। २।७।।

अर्थात्—जो कुछ किसी का भी धर्म मनु ने कहा, वह सब वेद में कहा गया है । वेद सर्वज्ञानमय है । (अथवा मनु भी सर्वज्ञानमय है ।)

मनु-विषयक यह दूसरा अर्थ, श्लेष से आकृष्ट होता है । गोविन्दराज ने पहला अर्थ ही ठीक माना है ।

सर्वज्ञानमूल वेद—मनु के श्लोक से पहले कह चुके हैं, कि वेद अखिल-धर्म का मूल है । अब उस से भी अधिक कथन है—वेद सर्वज्ञानमय है । वेद का अध्यापक, वेद-पारग सर्वज्ञानमय होता है ।

वर्तमान काल के भारतीय विश्वविद्यालयों के नाम-मात्र महोपाध्याय जो वेद पढ़ा रहे हैं, वे इस गुण के समीप फटक भी नहीं रहे हैं । वस्तुतः वे वेद नहीं जानते ।

---

१. सर्वो दण्डजितो लोकः । मनु ७।२२।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनको वेदाध्यापक बनाना भारतीय संस्कृति के साथ उपहास करना है ।

आर्यसमाज का तीसरा नियम—दूरदर्शी, महामुनि पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज का तीसरा नियम बनाया, **वेद सब सत्य-विद्याओं की पुस्तक है ।** इस नियम का मूल मनुस्मृति का यही श्लोक है । इस नियम के शेष भाग का मूल मनु ४।१४७ है । स्वामी दयानन्द सरस्वती मनु के अनन्य-भक्त थे । उन्होंने अपने उपदेश का आधार उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और गीता को नहीं बनाया । शङ्कर, रामानुज और वल्लभ आदि पुरातन आचार्यों से वे अधिक दीर्घ-दर्शी थे । उनका मार्ग प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय का मार्ग था । वे राजनीति को भी मानव-कल्याण का सोपान मानते थे । अतः वेद से उतर के उन्होंने मनुस्मृति को अपने उपदेश का अङ्ग बनाया । और मनुस्मृति के सतत-अभ्यास से वेद के सर्वज्ञानमय होने का तथ्य उन के हृदय पर अमिट रूप से अंकित हो गया ।

वेद में त्रिकाल-ज्ञान—मनु के लिए वेद की महत्ता अन्य कारण से भी है । वेद में त्रिकाल का ज्ञान है । मनु कहता है—

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ।१२।९७।।

अर्थात्—भूत=सारी सृष्टि-उत्पत्ति, वर्तमान और जो कुछ आगे होगा, यथा प्रलय और उसके पश्चात् भी, वह सब वेद में वर्णित है ।

यह विज्ञान की चरम-सीमा है, बुद्धि के ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है, और योगज-प्रत्यक्ष-दर्शन की अपरिमित महिमा है ।

वेद-निन्दक नास्तिक—इस महत्त्व-परिपूर्ण, शुभ्रज्ञान की जो निन्दा करता है, वही नास्तिक है । मनु कहता है—

नास्तिको वेद निन्दकः ।२।११।।

अतः आगे बताएँगे कि नास्तिक-आक्रान्त देश किस प्रकार विनाश को प्राप्त होते हैं ।

वेद-पुण्य—इस लिए मनु ने—वेद फल १।१०९, वेद पुण्य से युक्त होना—२।७८, वेदम्यास परमतप-२।१६६, वेद चक्षु-१२।९४, से वेद की महिमा गाई है ।

भारतवर्ष के कल्याण के लिए तथाच इस की पूर्व-प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए वेद-ज्ञान के उपार्जन और प्रसार का अभूतपूर्व आन्दोलन होना चाहिए । अङ्ग, उपाङ्ग और ब्राह्मण ग्रन्थों के शतशः जानने वाले, सदाचार की सुदृढ़-नींव पर खड़े होकर यह कठिन काम कर सकेंगे ।

२. **वर्णाश्रम मर्यादा**—मनु की दूसरी देन वर्णाश्रम मर्यादा की स्थापना है । इस मर्यादा से विरहित-संसार आज दुःख-क्रन्दन कर रहा है । लोभ से अति-पीड़ित हो रहा है ।

मनु का ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ—ब्राह्मण धन-बल से ऊँचा नहीं है, ब्राह्मण बाहु-बल से भी ऊँचा नहीं है । वह ऊँचा है, अपने अप्रतिम ज्ञान-बल से । उसका विशिष्ट-ज्ञान वेद पर आश्रित है । उसकी बड़ाई ज्ञान से ही है—**विप्राणां ज्ञानतो ज्येष्ठ्यम्** । २।१५५।।

ब्राह्मण आविष्कारक—सृष्टि के सुख के लिए परमोच्च ब्राह्मण भगवान् ब्रह्मा ने सम्पूर्ण शास्त्रों का शासन किया । उशना=शुक्र और बृहस्पति ने अनेक विद्याएँ रचीं । उशना ही मृतकों को जीवित करने में सशक्त हुआ । ब्राह्मण विश्वकर्मा ने अपूर्व शिल्प आविष्कृत किए । भरद्वाज ने आकाश-गङ्गा तक उड़ने वाले विमान बनाए । ब्राह्मण-प्रवर व्यास ही दिव्य चक्षु=विद्युत आँखें दे सका ।

आर्य जाति में राजा, प्रधान मन्त्री, अथवा गण-नायक इतना पूज्य नहीं, जितना यथार्थ ब्राह्मण पूज्य हैं । ब्राह्मणों और ऋषियों से अपनी कन्याओं का विवाह करके आर्य राज-गण अपना गौरव मानते थे । वेदज्ञ ब्राह्मण ही यथार्थ नेता होता है ।

सर्वतः श्रेष्ठ, ब्राह्मण—भारतीय संस्कृति में सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण वही है, जो केवल अगले दिन की भोजन-सामग्री एकत्र रखता है । उससे न्यून श्रेष्ठ तीन दिन की सामग्री वाला होता है । उससे भी न्यून श्रेष्ठ एक से छः मास की सामग्री वाला है । श्रेष्ठता का यही माप उत्तरोत्तर होता है । मनु ४।२-७, ब्राह्मण लोलुप नहीं था । लोभ से धन-स्वीकार करने वाला ब्राह्मण विनाश को प्राप्त होता है, ३।१७९।। ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह स्वाध्याय में रत रहे । स्वाध्याय-विरोधी अर्थोपार्जन के सम्पूर्ण व्यवहार उसे त्यागने चाहिएँ—

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः । ४।१७।।

ब्राह्मण पर राष्ट्र का आधार—श्रेष्ठ राष्ट्र का आधार इन अतिमानुष (superman) पुरुषों पर होता है । जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष किसी के हाथ बिक नहीं सकता, जो खरीदा नहीं जा सकता, वह विद्वान् ही राष्ट्र का आधार होता है। आज इन पूज्य पुरुषों के अभाव में भारत दुःखी है।

ब्राह्मण से भारत का गौरव—मनु-निर्दिष्ट मार्ग पर चलने वाले इन्हीं ब्राह्मणों के गीत ह्यूनसाङ्ग, अलमासूदी, अलबेरूनी, निकोला मनूची और कर्नल विल्फर्ड ने गाए हैं।[1] मार्श मैन ने भी लिखा है—

"The Directors of the East India Company opposed their (Christian missionaries) activities on the ground, among others, That these would interfere with the Hindu religion, which produced men of purest morality and strictest virtue."

निस्सन्देह आर्य धर्म ने पवित्रतम आचार और शुभ्र गुणयुक्त नर उत्पन्न किए थे।

इसका सारा श्रेय मनु और तदनुकूल आर्य राज्य को है। मनु का सर्व श्रेष्ठ ब्राह्मण वही है, जिसकी सांसारिक वासनाएँ लघुतम हों। मनु की संस्कृति के प्रसाद की छत के स्तम्भ राज-गण नहीं, ऋषि और श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं।

दोषी ब्राह्मण को चतुर्गुण दण्ड—ज्ञानवान ब्राह्मण पूज्य है। वह श्रद्धा का स्थान है। पर दोषी होने पर मनु ने उसको छोड़ा नहीं। वह वाक्-पारुष्य आदि अधर्म करे, तो शूद्र की अपेक्षा उस पर दण्ड चतुर्गुण होता है। इसका स्पष्ट उल्लेख मनु ८।२६८ में है। मनु ने ब्राह्मण की रियायत नहीं की। हाँ, ब्राह्मण के ज्ञान की रक्षा के लिए उसे अवध्य अवश्य कहा है। अन्यत्र स्तेय आदि में ब्राह्मण को शूद्र की अपेक्षा आठ गुणा वा सोलह गुणा दण्ड कहा है। ८।३३७, ३३८।।८।३४०,३७३ भी द्रष्टव्य हैं।

दुष्ट ब्राह्मण की निन्दा—धर्मध्वजी, दुष्ट, वैडाल व्रतिक, कठोर और छली ब्राह्मण की मनु ने घोर निन्दा की है। ४।१९५-१९७।।

निःशुल्क शिक्षा—ब्राह्मण सञ्चय (hoard) नहीं करता था। उसका निर्वाह दक्षिणा पर था, अथवा उस भूमि पर था, जो राज्य की ओर से उसे मिलती थी। शतशः प्राचीन ताम्र शासन जो आज भी मिलते हैं, इस बात का प्रमाण हैं। ये ब्राह्मण जाति को शिक्षा देने के काम में लगे रहते थे। अतः मनु ने शिक्षा का निःशुल्क प्रसार बताया है। राज्य की ओर से शिक्षा पर कोई धन विशेष व्यय नहीं किया जाता था। **भृतकाध्यापक** अर्थात् वेतन लेकर पढ़ाने वाले ब्राह्मण की निन्दा है। ३।१५६।। छात्र ऐसे ब्राह्मणों के पास रहकर अनुशासन और विनय सीखते थे।

ब्राह्मण भूमि का कर्षण स्वयं नहीं करते थे। अतः जो शूद्र उनके निमित्त भूमि-कर्षण करते थे, वे उनके सत्सङ्ग से श्रेष्ठ गुण सीखते थे। वे पतित होने की ओर नहीं झुकते थे। राष्ट्र में सदाचार का स्तर पर्याप्त ऊँचा रहता था।

मनु की व्यवस्था सर्वतोमुख सुख का प्रसार करती है।

क्षत्रिय प्रभुत्व का अभाव—मनु ने क्षत्रिय का अथवा राजा का प्रभुत्व नहीं रहने दिया। वह दण्ड का चलाने वाला था। अपनी मन-मानी नहीं कर सकता था। साधारण अथवा प्राकृत जन की अपेक्षा दोषी ठहरने पर राजा को सहस्र गुणा दण्ड विहित है। ३।३३६।। राजा पर दण्ड का अधिकार श्रेष्ठ ब्राह्मणों को था। मनु प्रदर्शित शासन अत्यन्त गहरा और कठोर है। इसमें किसी की रियायत नहीं; सिफारिश नहीं।

वेद-विद्या विरहित राज्याधिकारी नहीं—आर्य राज्य में कोई राजा, कोई राष्ट्रकरणधार वेद-विद्याविहीन नहीं होना चाहिए। वेदाध्ययन शून्य क्षत्रिय भी राज्य का अधिकारी नहीं है। अतएव मनु कहता है—

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम्।।७।२।।

अर्थात्—क्षत्रिय को ब्राह्म संस्कार अर्थात् वेद पढ़ने का सारा क्रम पार करना होगा। वही न्याय पूर्वक राष्ट्र का रक्षण कर सकता है।

आज भूमण्डल के वेद-ज्ञान शून्य शासक शतशः अत्याचार कर रहे हैं। प्रजा पीड़ित हो रही है।

मनु पुनः कहता है—

१. देखो, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग प्रथम, द्वितीय संस्करण, पृ० ६३-६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१२।१००॥

अर्थात्—सेना सञ्चालन, राज्य और दण्ड विधान के नेतृत्व=दण्ड-प्रणयन, अपि च सम्पूर्ण संसार के आधिपत्य के योग्य वेद-शास्त्र का ज्ञाता ही होता है।

इस से ज्ञात होता है कि धनुर्वेद की सम्पूर्ण शिक्षा वेद से मिल सकती है। निस्सन्देह वेद के इन्द्र और मरुत् देवता विषयक सूक्तों में सैनिक ज्ञान के रहस्य अथवा सूक्ष्म तत्त्व ओत-प्रोत हैं।

राज्य-दण्ड पर आश्रित—मनु ने दण्ड की महती प्रशंसा की है। वस्तुतः दण्ड पर ही सारा लोक आश्रित है। वर्णाश्रम दण्ड से ही ठीक चलते हैं। ७।१७—२८॥

राजा त्रिवर्ग का पण्डित—त्रिवर्ग में धर्म, अर्थ और काम की गणना होती है। शासक को इन तीनों का ज्ञाता होना चाहिए। वह **धर्मकामार्थकोविद** होना चाहिए। ७।२६॥ **धर्म** का ज्ञाता अर्थात् कानून का ज्ञाता। इसमें वह शाश्वत-धर्म भी सम्मिलित है, जो आदि काल से चला आ रहा है। **काम** का ज्ञाता अर्थात् प्रजा सुख के अखिल साधनों का ज्ञाता। और **अर्थ** का ज्ञाता अर्थात् सम्पूर्ण अर्थशास्त्र विद्याओं का पण्डित।

आज इस महान् ज्ञान के बिना ही अगणित लोग लोकसभा और विधान-सभाओं का चुनाव लड़ते हैं। देश का इससे अधिक दुर्भाग्य और क्या हो सकता है।

कठोरता की पराकाष्ठा—राजा का कर्तव्य है कि दोषयुक्त अथवा धर्म-विहीन होने पर अपने पिता, आचार्य मित्र, माता, भार्या, पुत्र और पुरोहित को भी दण्ड दे। वहाँ दया आदि का कोई अवकाश नहीं।

राष्ट्र में शूद्र-संख्या न्यून रहे—मनु निरन्तर प्रोत्साहन देता है कि देश में शूद्र संख्या न्यूनतम होनी चाहिए। वह प्रत्येक पुरुष को अवसर देता है, कि शूद्र मत रहो। इसी लिए मनु आचारहीन, आलस्ययुक्त और अन्य दोष वाले ब्राह्मण को गर्हित करता है।[1] वह पतित ब्राह्मण को भी शूद्र ही बना देता है। उसका ध्येय मनुष्य मात्र को उन्नत करना है। इस लिए उसने स्पष्ट कहा है—

यद् राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तम् अद्विजम् ।
विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥८।२२॥

अर्थात् जो राष्ट्र शूद्रों की अधिकता से भरा पड़ा है, वह शीघ्र नष्ट हो जाता है।

जघन्य शूद्र—जिस प्रकार से श्रेष्ठ और साधारण ब्राह्मण का सदा भेद है, उसी प्रकार अति निकृष्ट और उत्कृष्ट शूद्र का भी भेद है। शूद्र जघन्य भी है। वह कौन है? अज्ञानी, स्वार्थी, लोभी, व्यसनी, धर्म-मर्यादा का उल्लंघन करने वाला जघन्य शूद्र है। ऐसे लोग राष्ट्र-हनन का कारण बनते हैं। जो शिल्पी लोभ आदि दुर्गुणों से रहित, पर अज्ञानी है, वह शूद्रों में श्रेष्ठ है। मनु उसे भी ज्ञान-मार्ग का अवलम्बी बना कर उसके लिए ऊँचा मार्ग खोलता है। जिस मनु ने शूद्र के लिए ऊँचा मार्ग खोला है, उसका मानव मात्र के लिए महान् प्रेम है।

अमात्य शुद्धि—मनु ने मन्त्रियों की शुचिता पर बहुत बल दिया है। उसी को ध्यान में रख कर विष्णुगुप्त ने अमात्यों पर भी राजा के अन्तरङ्ग गुप्तचरों की व्यवस्था बताई है। रामायण में वाल्मीकि ने प्रशंसा-पूर्वक लिखा है कि दशरथ के अमात्य अत्यन्त शुद्ध और अनुकरणीय जन थे।

कूट आयुध और माया निन्दा—मनु ने ७।९० में कूट आयुधों पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। आज का संसार इस दिशा में तंग हो रहा है। ये कूट आयुध विनाश का कारण बनेंगे। इनके साथ मनु ने ७।१०४ में माया युद्ध की भी निन्दा है। श्री कृष्ण जब शाल्व के साथ युद्ध कर रहे थे, तो शाल्व ने माया युद्ध आरम्भ कर दिया। इसका प्रतिकार तो कृष्ण ने कर दिया, पर अपनी ओर से इसका प्रयोग नहीं किया।

अस्त्रों के विषय में भी धनुर्वेद आचार्य मनु के आदेश का ध्यान रखते थे। जब सर्वास्त्र सीख कर अर्जुन हिमालय में अपने भाइयों से मिला, तो उन सब ने अस्त्रों के चमत्कार देखने की इच्छा प्रकट की। अर्जुन ने अस्त्र चलाए। उस घटना का ज्ञान होते ही इन्द्र आदि आचार्य उस स्थान पर आए। उन्होंने पाण्डवों से कहा। युद्ध

---

१. ५।४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बिना अस्त्र का प्रयोग वर्जित है, इस चमत्कार-दर्शन के विचार को त्याग दो। तब ऐसा ही किया गया। महाभारत के सर्व-नाशक युद्ध में भी अर्जुन ने केवल एक दिन पाशुपतास्त्र का प्रयोग किया था।

यह अन्तर्राष्ट्रीय नियम होना चाहिए कि अस्त्रों का प्रयोग युद्ध के सिवा अन्यत्र न हो। कभी संसार मनु की आज्ञा का पालन करता था। तब इतने विनाश का महद्भय नहीं था।

आश्रम—आश्रमों की मनु-प्रणीत मर्यादा लोकहित का गुह्यतम निदर्शन है। ब्रह्मचारी सीधा-सादा रहता है। वह बूट और जूता नहीं पहनता। उसके वसन अति थोड़े होते हैं। वह नगरों के विषाक्त स्थानों से परे रह कर एकान्त में विद्याभ्यास करता है। उसका भोजन भी सादा और ब्रह्मचर्य वर्धक होता है। वह विनीत और संयतेन्द्रिय बनता है।

मनु धन्यवाद का पात्र—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी, तथा च ब्राह्मण और शूद्र को अत्यन्त सादा और न्यूतम आवश्यकताओं वाला बना कर मनु ने समाज की आर्थिक समस्याओं का एक विशिष्ट हल दिया है।

आजकल के स्कूल और कालेजों के छात्र जिस प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं, उनके कारण शौकीनी उच्च शिखर पर पहुँच रही है। देश के छात्रों के कोट और जूतों को तैयार करने के लिए ही लाखों लोग शूद्र बन रहे हैं। इस पर इतना भय नहीं था, पर उन लाखों शूद्रों की पर्याप्त संख्या भी जघन्य शूद्र बन रही है।

आदेश (standard) **की होड़**—आज वानप्रस्थी के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा। सन्यासी समाप्त से हो रहे हैं। इस standard ऊँचा करने की दौड़ में सब पिस रहे हैं। standard केवल क्षत्रिय और गृहस्थावस्था वाले का अपेक्षाकृत उठना चाहिए। शेष का standard सादगी रहे तो देश की आर्थिक तुला के पलड़े समावस्था में रहेंगे, अन्यथा आदर्श ऊँचा करते-करते देश ही समाप्त हो जाएँगे। आचार का आदर्श वास्तविक आदर्श है। धन का आदर्श उससे बहुत नीचा स्थान रखता है।

३. **आचार**—भारतवर्ष के सम्पूर्ण धर्मशास्त्रकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में आचार का अध्याय अत्यन्त आवश्यक समझा है। इसका कारण है, मनु ने आदि में आचार पर अति बल दिया था। उसी का अनुकरण उत्तरवर्ती शास्त्रों में हुआ। आर्य ऋषि-मुनि जानते थे कि मानव-जीवन की यात्रा आचार के पाथेय पर आश्रित है। आचार से आयु मिलता है, आचार से प्रजाएं गुणवती होती हैं, आचार से अक्षय धन, परलोक का सहायक धन मिलता है। आचार मानव-लक्षणों का उल्लंघन करके सुख की वर्षा करा देता है। मानव लक्षण का अभिप्राय है, सम्पूर्ण शरीर के—माथा, आँख, दाँत, बाहु, अंगुलियों आदि के लक्षण।

आचार क्या है—आचार में सारे संस्कारों की गणना है। आचार में सोना, उठना, खाना, पीना, गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा के व्यवहार के नियम हैं। फिर रात्रि के समय सिर किस ओर करके सोना चाहिए, यह भी आचार का अंग है। आचार परम धर्म है। १।१०८॥ इस आचार के अभाव में सारा भारत पीड़ित हो रहा है।

वर्तमान सरकार की आचार-संहिता—सुनते हैं, आजकल आचार-संहिता, संभवतः चुनाव-विषयक आचार-संहिता बनाने पर बड़ा शोर मच रहा है। भला ये लोग, जो शाश्वत-ज्ञान शून्य हैं, सब त्रुटियों को दूर करने वाली, कैसी आचार-संहिता बनाएँगे।

धनाधिकार—अब एक ऐसी बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं, कि जिसका संसार में बड़ा कोलाहल है। धन का अधिकारी कौन है, धन किसके पास रहना चाहिए, यह प्रश्न सदा से आवश्यक रहा है। मनु का उत्तर है—धन पर अधिकार राष्ट्र और व्यक्ति दोनों को है।

राज्याधिकार—राज्य का भूमि, भूमि की उपज, नदियों, जंगलों, पशुओं, खानों और करों (taxes) आदि पर अधिकार है। राज्य के द्वारा ही यह अधिकार व्यक्ति को मिलता है। तदनु व्यक्ति भूमि ले सकता है, उस पर अपना घर बना सकता है। उस पर कृषि कर के राज्य कोश में कर दे सकता है, इत्यादि। जहाँ राजा को यह अधिकार प्राप्त है, वहाँ प्रजा का संरक्षण राज्य का सर्व-आवश्यक कर्तव्य है।

कैसे व्यक्ति के पास धन रह सकता है—इस जटिल समस्या का मनु से अधिक अच्छा हल आज तक किसी ने उपस्थित नहीं किया। मनु कहता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति ।
स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ ११।१९॥

अर्थात्—जो पुरुष असाधु=कंजूस, दुष्ट, अतिलोलुप आदमी से धन को छीनकर साधु=भले पुरुष को धन दे देता है, वह अपने शरीर को नौका बना कर उन दोनों, साधु तथा च असाधु को तार देता है।

निष्कर्ष—सूक्ष्मदर्शी मनु ने संसार को मार्ग दर्शा दिया है। जो पुरुष साधु है, जो दानशील, दयावान, पर-दुःख निवारक है, उसके पास धन रह सकता है, पर जो केवल सञ्चयशील, स्वार्थी, व्यवहार में दम्भी, कृष्ण-व्यापार[1] करने वाला, व्यसनी, चोर, डाकू आदि हैं, वह असाधु है, उससे धन छीन लेना चाहिए। जिस प्रेष्य=नौकर अथवा मजदूर ने सिगरेट, शराब वा जूए आदि में धन गंवाना है, उसके पास धन नहीं रहना चाहिए। जिस धनी ने विवाह आदि के समय शराब और वेश्याओं पर, अथवा साधारण समय में जोड़ने के लिए ही धन कमाना है, उसके पास भी धन नहीं रहना चाहिए।

मनु की इस स्पष्टोक्ति की व्याख्या, महाभारत, शान्तिपर्व के कई स्थानों में मिलती है।

बृहस्पति की व्याख्या—धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के महान् आचार्य बृहस्पति ने अनुपम शब्दों में इस असाधुपन का व्याख्यान किया है। देखिए—

सभा-प्रपा-देवगृह - तडाकाराम-संस्कृतिः ।
तथानाथ-दरिद्राणां संस्कारो योजनक्रियाः ॥
पालनीयाः समर्थैस्तु यः समर्थो विसंवदेत् ।
सर्वस्वहरणं दण्डः तस्य निर्वासनं पुरात् ॥

अर्थात्—सभाएँ, बड़े-बड़े भवन, जिनमें अनेक साँझे काम हो सकें, प्याऊ, अग्निहोत्र के स्थान, महान् तालाब तथा उद्यान आदि बनाना अथवा टूटने, फूटने पर उनका संस्कार वा मुरम्मत करना, तथा च अनाथ और लंगड़ें, लूले दरिद्रों को वस्त्रादि देना, और उनका जीवन-निर्वाह कराना, ये काम समर्थ धनी लोगों के हैं। जो धनी इन श्रेष्ठ कामों के करने में आना-कानी करे, उसका सर्वस्व राजा छीन ले और उसको नगर से बाहर निकाल दे, अथवा राष्ट्र से निकाल दे।

मनु ने धन-विभाजन की तुला के पलड़े ठीक रखने के लिए मानव की उच्च प्रवृत्तियों को जगाया है, और मार्क्स ने मानव की नीच-प्रवृत्तियों को उभारा है।

श्रोत्रिय-परम साधु—श्रोत्रिय वह पुरुष है, जो सदा वेदाभ्यास में लगा रहता है, जो उच्च ज्ञान का पुञ्ज है, वह तो **अकर** (tax free) है। मनु लिखता है—

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात् करम् ।७।१३३ ॥

अर्थात्—अत्यन्त कष्ट के समय भी राजा श्रोत्रिय से कर ग्रहण न करे।

आर्य राज्य में यह प्रथा सदा स्थिर रही है। चम्बा आदि राज्यों में ब्राह्मण की भूमि सन्१९४७तक अकरी थी।

वर्तमान में इस प्रथा के नष्ट होने से उच्च आदर्श के लोगों का अभाव सा हो रहा है।

गो-आदर—महामना मनु परम गो भक्त है। मनु ने यह भाव वेद से सीखा था। गो शब्द का वेद में—वाणी, किरण, भूमि, इन्द्रिय, गो-पशु और गो पशु के विभिन्न दूध आदि विकारों के लिए, प्रयोग हुआ है। मनु के ११।१०८-११६ में गो पशु के हनन हो जाने पर उसके प्रायश्चित्त के प्रसङ्ग में गो-महिमा भी वर्णित है।

गो-महिमा क्यों—जब गो एक पशु है, तो आर्यों में उसकी इतनी महिमा क्यों है। इसका उत्तर महाभारत के एक प्रसङ्ग में है। पाठक, यह सारा जगत् अग्नि-षोमीय है। सोम एक अति सूक्ष्म पदार्थ है, जो इस प्राणी जगत् का एक आधार है। वह सोम पहले देवलोक (द्यु-लोक) में थे। उसके नीचे आने का भी एक रहस्य है। सोम के आने और यहाँ भूमि के उदक के साथ मिलने से ही सारे उद्भिज संसार की उत्पत्ति हुई है। अब भी यह सोम सूर्य और चन्द्र के योग से पृथ्वी पर आता है और सारा ओषधि-वनस्पति संसार हरा भरा रहता है।

यही सोम गो में सब से अधिक है। इसी लिए गो-दुग्ध, गो-घृत और गो-मूत्र तक श्रेष्ठ माने गए हैं। इसी गो-गोबर का लेपन रोग-नाशक है। फलतः मानव पर महान् कल्याण करने वाली गौ उसकी माता कही गई है। वर्तमान काल के महामूर्ख, व्यसनी लोग जो वेद में गो-हनन का वर्णन निकालते हैं, वे मानव के शत्रु और दुष्ट-भाव-

१. कृष्ण व्यापार शब्द का प्रयोग नारद आदि स्मृतियों में है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावित हैं।

कल्याण चाहने वाला, अपने हीन-भाग्य का प्रायश्चित्त करने वाला—

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजीत् ।
आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः ।११।१११।

खड़ी हुई गौओं के साथ खड़ा रहे, चलती हुई के पीछे-पीछे चले, बैठी हुई के पीछे बैठ जाए, वह अभिमान आदि को त्याग देवे।

गौ की महिमा लगभग इन्हीं शब्दों में उत्तरकालिक सब स्मृति कारों ने की है। अङ्गिरा, यम आदि ने मनु के ही शब्द दोहराए हैं। शङ्ख-लिखित ने भी कहा है—

गा रक्षेत । तास्वपीतासु न पिबेत् । न तिष्ठन्तीषूपविशेत् । न स्वयमुत्थापयेत् ।[1]

हरिषेण (कालिदास) ने रघुवंश १।८९ में दिलीप की शिक्षा में लगभग यही शब्द वर्ते हैं।

आर्य संस्कृति—आर्य संस्कृति में गौ-ब्राह्मण की महिमा अपार है। ब्राह्मण के ज्ञान पर और गौ के सोमांश पर संसार का आधार है।

कर—मनु के अनुसार सुखी राष्ट्र वही है, जहाँ कर साधारण हैं, जहाँ श्रोत्रिय ब्राह्मण पर तो कर है ही नहीं। ९।३०४,३०५ में मृदु-कर-ग्रहण का विधान है। कर क्षत्रिय और वैश्य पर तथा शूद्र कृषक पर लगता है। व्यापारी वैश्य-वर्ग के अन्तर्गत हैं। उन पर भी कर लगता है। यदि कर अत्यधिक हो जाएँगे, तो प्रजा कभी क्रान्ति कर देगी। मनु के अभिप्राय को याज्ञवल्क्य ने अति स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया है—

प्रजापीडनसन्तापात् समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चादग्ध्वा न निवर्तते ॥
१।३४१ ॥

अर्थात्—प्रजापीड़न के सन्ताप से पैदा हुआ अग्निः राजा (राष्ट्र) के कुल, श्री और प्राणों को बिना जला कर राख किए नहीं शान्त होता।

आज भी इस दुःख में भारतीय प्रजा ग्रस्त हो रही है। मज़दूर और उच्च वेतन भागी, तथा च ठेकेदार और कृष्ण व्यापार करने वालों के अतिरिक्त सब सामान्य प्रजा अत्यन्त दुःखी हो रही है। इस का परिणाम भयावह होगा।

कर्षण और संग्रह—राजा के लिए कर्षण-शोषण अनिष्ट है। इस शोषण से राष्ट्र नष्ट हो जाता है। ७।१११-११२॥ शोषण व्यक्तियों द्वारा भी बुरा है और राज्यों द्वारा भी बुरा है। कम्यूनिस्ट सरकारें भी अपरिमित शोषण कर रही हैं। निस्सन्देह वे नष्ट हो जाएँगी। त्रिकालदर्शी मनु का कथन सिद्ध होकर रहेगा। राष्ट्र का संग्रह अथवा सर्वप्रकार से रक्षण ही राजा का कर्त्तव्य है।

वणिक्कर—सब वणिजों पर कर समान नहीं लगेगा। मनु ने यहाँ भी एक गम्भीर नियम का आदेश किया है। वह कहता है—

क्रय-विक्रयम् - अध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च संवेक्ष्य वणिजो दापयेत् करान् ॥७।१२७॥

अर्थात्—खरीद का दर, बिक्री अथवा बेचने का भाव, माल पर मार्गव्यय, माल लाने आदि के नौकरों पर खर्च, तथा च अन्य सारे खर्च लगाकर, चोर आदि से रक्षा पर चौकीदार आदि का व्यय देखकर प्रत्येक व्यापारी पर कर लगेगा।

यहाँ पर सब एक रस्से से बाँधे नहीं गए। प्रत्येक की परिस्थिति विचारणीय रहनी चाहिए।

यह सूक्ष्म व्यवस्था मनु ने ही दी थी। आज इस का प्रायः अभाव है।

कर-समाहर्ता—करों के एकत्र करने वाले आप्त पुरुष हों। ७।८०॥ आप्त लोग सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य करने वाले होते हैं। इस कर-शुद्धि पर बड़ा बल दिया गया है। करों के ग्रहण करने में राजा आम्नाय-पर हो। वह स्वयं करमात्रा निर्धारित नहीं कर सकता। कर का अनुपात वेदादि शास्त्रों में निश्चित है।

वेतन-अनुपात—राजा के निरीक्षण में अनेक विभाग रहेंगे। घर के भृत्य से पाचक तक, ड्राफ्ट्स-मैन से सर्वोत्कृष्ट वास्तुविद् (एञ्जिनियर) तक, छोटे क्लर्क से अध्यक्ष (सुप्रिण्टैण्डैण्ट) अथवा सचिव तक, इत्यादि के वेतन-विषय में मनु की सूक्ष्मेक्षिका का निदर्शन आगे देखिए—

१- स्मृति चन्द्रिका, आह्निक काण्ड, पृ० ४५० पर उद्धृत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥७।१२६॥

अर्थात्—यदि छोटे भृत्य को एक पण अथवा एक रुपया दिया जाता है, तो छः रुपया उत्कृष्ट--बड़े का वेतन होगा। साधारण भृत्यों की अवस्था में वरदी अर्थात् वस्त्र प्रति छः मास के पश्चात् देने चाहिएँ। और धान्य का द्रोण प्रति मास देना चाहिए।

यहाँ एक और छः का अनुपात आश्चर्यजनक है। संसार के थोड़े देशों में, वर्तमान काल में, परम सभ्यता का यह आदर्श दृष्टिगोचर होता है।[1]

वेतनों का अधिक अन्तर दुःख-कारण—वेतनों का वर्तमान अन्तर ही महान् दुःखों का कारण है। समाज में अधिक भेद यहीं से उत्पन्न होता है। भारत में आज चपड़ासी का वेतन लगभग ५०–६०–७५ रु० मासिक है और उच्च मन्त्रियों का वेतन ३००० रु०–५००० रु० तक पहुँचता है! यह अन्धेर आर्य राज्य ही दूर कर सकता है।

विद्या वेश्या-वत् बिकती है— वेश्या अपनी चमड़ी बेचती है और विद्यावान् अफसर अपनी बुद्धि बेचता है। इन दोनों में अधिक अन्तर नहीं है। जब विद्यावान् को निश्चय हो जायगा कि उस का ज्ञान रुपया एकत्र करने में लालसा-पूर्ति की दूरसीमा तक नहीं जायगा, तो वह केवल रुपया कमाने के लिए ही विद्या नहीं पढ़ेगा। वह ज्ञान के लिए भी ज्ञानोपार्जन करेगा। अतः देश में यथार्थ समता उत्पन्न होगी। आज सब लोग नौकरी के लिए पढ़ते हैं। ब्राह्मणत्व का उद्देश्य ही नष्ट कर दिया गया है। अतः इस लालसा के दुःख से निवृत्ति होनी चाहिए।

काम का नियन्त्रण—योरोप की वर्तमान विचारधारा में फ्राइड का स्थानविशेष है। जिस प्रकार मार्क्स ने लोभ की विचारधारा को गुप्त-प्रोत्साहन देकर मजूर को उच्छृङ्खल करके उस की परम शत्रुता की है, उसी प्रकार फ्राईड ने काम का महासंशुद्ध विश्लेषण करके इसे वृथा प्रधानता दी है। मनु स्पष्ट कहता है—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥२।२॥

अर्थात्—काम में लीन हो जाना प्रशस्त नहीं, और न इस मानव देह में काम-रहित होना ही उचित है।

गीता में—मनु के उपदेश की व्याख्या भगवान् कृष्ण ने की है। फ्राइड के कलुषित मार्ग का ज्ञान भगवान को पहले से था। उसकी निन्दा में गीता का श्लोक है—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थम् अन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१६।१२॥

अर्थात्—काम-परायण लोग अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिए अन्याय से अर्थों का सञ्चय चाहते हैं।

योरोप में फ्राईड का खण्डन पूरा नहीं हुआ। भारत की पुण्यभूमि भी संस्कृत विद्या के अभाव में उसी गर्त में गिर रही है।

दुष्प्रकार से अर्थसञ्चय का विरोध वेद से चला था—**मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।** मत लालच करो किसी के धन का। सूक्ष्म-दृष्टि से वेद ने यह भी बता दिया है कि धन की स्वामिनी व्यक्ति भी होती है।

काम पर पूरा नियन्त्रण करके मानवयात्रा सफल होती है। काम स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। यही स्थान फ्राईड ने नहीं समझा। काम का मूल सङ्कल्प है। इसी लिए शान्तिपर्व में काम-जीतने का प्रधान उपाय बताया है—**कामं सङ्कल्प-वर्जनात्।** काम को जीते सङ्कल्प के वर्जन से। फ्राईड ने अधूरा अंश लेकर मिथ्या-विचार प्रचलित किया है। वह अंश मनु को ज्ञात था। मनु कहता है—

यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥२।४॥

अर्थात्-सम्पूर्ण कर्म काम की चेष्टा द्वारा है।

इस कर्म क्षेत्र को श्रुति नियन्त्रित करती है। मनु ने उसी का संकेत किया है। फ्राईड इस सूक्ष्मता से वञ्चित रहा है। इस काम-नियन्त्रण को धर्मशास्त्र और अर्थ-शास्त्रों में **इन्द्रिय-जय** कहा है। मनु इस दिशा में सबसे महान् पथ-प्रदर्शक है।

पथ-प्रदर्शक और कल्याण के मार्ग का प्रदर्शक ही सब से बड़ा हितैषी और मित्र होता है। मनु ने यह काम असाधारण सफलता से किया है। वस्तुतः भगवान् मनु मानव का परम-मित्र है। मनु को त्याग कर पाश्चात्य और उस के अनुकरण करने वाले दुःख-सागर में डूब रहे हैं।

१. श्री होरीलाल सक्सेना जी के अनुसार वर्तमान कम्यूनिस्ट देशों में इस अनुपात को ध्यान में रखने का यत्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़माना बदल गया

लेखक—श्री गुरुदत्त, मूल्य—९ रुपये

'तू भी बदल फलक कि ज़माना बदल गया'

ऐसा माना जाता है कि भारतवर्ष प्राचीन काल में एक उन्नत देश था। यहाँ के रहने वाले कम-से-कम चरित्र में संसार के अन्य मनुष्यों से, बहुत श्रेष्ठ थे। साथ ही इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि भौतिक उन्नति में भी संसार के अन्य देशों से भारत काफी उन्नत था।

उक्त कथन का प्रमाण तो हमारा प्राचीन तत्त्वदर्शक है तथा हमारे वे चक्रवर्ती सम्राट हैं, जो भूमण्डल की विजय करते रहे थे।

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी

तथा सहस्रों वर्षों तक अन्य जातियों के साथ संघर्ष में हमारा जीवित रहना हमारे उक्त कथन के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

महाभारत काल के अनन्तर ढाई सहस्र वर्ष तक भारत में चैन की वंशी बजती रही। उस काल में दुर्भाग्य से यहाँ पर दो जीवन-मीमांसाएँ (बौद्ध एवं जैन जीवन-मीमांसा) पनपीं तथा उनकी प्रतिक्रिया स्वरूप नवीन वेदान्त प्रचलित हुआ जिसने भारत के मानव का मन, आत्मा और शरीर में संतुलन बिगाड़ करके रख दिया। भारतीय मानव में शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक पतन आरम्भ हुआ और एक सहस्र वर्षों की गुलामी इसने सही।

अब हम स्वतन्त्र हैं, परन्तु सन्तुलित अवस्था को प्राप्त नहीं कर पा रहे। न केवल यह प्रत्युत विदेशों की भौतिक उन्नति की चकाचौंध के पीछे पागल हो, उनकी हीन मानसिक अवस्था तथा सोयी हुई आत्मा को भी ग्रहण कर रहे हैं।

इतना कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उपर्युक्त विषय को लेकर, उसकी विवेचना में उपन्यास लिखने का दायित्व श्री गुरुदत्त जैसे सफल उपन्यासकार ही निभा सकते थे और यह उन्होंने सफलतापूर्वक निभा कर दिखा दिया।

सन् १८५७ से लेकर १९५७ तक के काल की पृष्ठभूमि पर तीन उपन्यास लिखकर उन्होंने यह सफलता पूर्वक दिखाया है कि किस प्रकार धीरे-धीरे हमारे समाज में राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिवर्तन आ रहे हैं। ज़माना बदल गया है तथा बदल रहा है।

उपरोक्त उपन्यास इस शृंखला में प्रथम कड़ी है। अत्यन्त ही रोचक, मूल्य ९ रुपये।

भारती साहित्य सदन

३०/९० कनॉट सरकस, नई दिल्ली-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति और समाज

श्री गुरुदत्त

आज इन दोनों में भारी संघर्ष चल रहा है।

यह विवाद सर्वथा नवीन है। प्राचीन भारतीय समाज में इस प्रकार के विवाद के लिये कोई स्थान नहीं था। इसमें कारण है। तत्कालीन समाज-व्यवस्था और आज की समाज व्यवस्था में सैद्धान्तिक मतभेद है।

भारतीय समाज का आधार वर्णाश्रम-धर्म रहा है। वर्ण-व्यवस्था में राजा क्षत्रिय वर्ग का होता था। क्षत्री के कर्मों की व्यवस्था स्पष्ट रूप में वर्णित थी। इसी प्रकार अन्य वर्णों के कर्म भी निश्चित थे, अतएव व्यक्ति का स्थान पूर्ण समाज कभी ले ही नहीं सकता था। न ही व्यक्ति कभी पूर्ण समाज हो सकता था।

प्रत्येक व्यक्ति और व्यक्ति समूह का अपना-अपना कार्यक्षेत्र था और वह उस कार्य-क्षेत्र में ही अपने को सीमित रखता था।

वर्ण-व्यवस्था, जब गुण कर्म, स्वभाव से, मानी जाय तो व्यक्ति और समाज के अपने-अपने क्षेत्र का निश्चय हो जाता है।

वर्तमान युग में व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के कार्य-क्षेत्र का उल्लंघन करते देखे जाते हैं। इसका मुख्य कारण वर्ण व्यवस्था का लुप्त हो जाना और मानव का तत्त्व दर्शन भौतिकवाद का प्रतिपादन करने वाला हो जाना है।

वास्तविक झगड़ा तो यही है कि मनुष्य को केवल मात्र, ईंट-पत्थर की भाँति, एक प्रकृति का अंश माना जाता है। इसमें आत्मा, जो शरीर से पृथक् पदार्थ है, के अस्तित्व को नहीं माना जाता। आत्मा, जैसा भारतीय दर्शन शास्त्र में स्वीकार किया गया है, एक स्वेच्छा से कार्य करने वाला और उसका फल भोगने वाला है। यह फल, यदि किसी कारण से, एक जन्म में न भोग सके तो इसको दूसरे जन्म में भोगना पड़ता है। वर्तमान युग का तत्त्व दर्शन ऐसा नहीं मानता। वह मनुष्य को केवलमात्र जन्म से मरणपर्यन्त ही देखता है। यह किसी ऐसे पदार्थ की विद्यमानता स्वीकार नहीं करता जो जन्म-जन्मान्तर तक अपने संस्कारों तथा कर्मफल को लिए हुए चलता है अथवा जो कार्य करने में स्वतन्त्र है तथा फल भोगने में विवश है।

वर्तमान युग का तत्त्व दर्शन इस बात को मानता है कि मनुष्य के कर्म वातावरण की प्रतिक्रिया मात्र हैं। इन का किसी पूर्व जन्म के कर्म से सम्बन्ध नहीं।

भौतिकवाद के विचार बिन्दु से व्यक्ति तो नगण्य हो गया है और समाज सर्वेसर्वा। भारतीय समाज शास्त्र का आधार आत्मवाद है। अतः उसमें एक व्यक्ति दूसरे से न केवल पृथक् है, प्रत्युत अपने-अपने कर्म करने में स्वतन्त्र और उसका फल भोगने में भी दूसरों से पृथक् है।

इस पर भी जब इसने (मनुष्य ने) अपने हित के लिए समाज की रचना की तो उसने अपने हित साधन के लिए, अपने अधिकारों में से कुछ समाज के अर्पण कर दिये। इन कुछ अधिकारों को समाज के अर्पण करने से इसे अपने कुछ कर्मों पर सीमा निर्धारित करनी पड़ी।

इसका अर्थ यह है कि मानव द्वारा दिए गए अधिकारों से ही समाज का निर्माण हुआ है। अर्थात् व्यक्ति के अपार अधिकारों का समाज के अधिकार, एक अंशमात्र हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि समाज के करने के लिए कुछ निश्चित कर्तव्य हैं और उन कर्तव्यों का पालन करने के लिए इसे कुछ अधिकार सौंपे गये हैं। इनके अधिकारों के अतिरिक्त अन्य सब अधिकार व्यक्ति के पास हैं।

इस भाव को प्रकट करने के लिए महाभारत में राज्य की स्थापना के विषय में एक कथा आती है। भीष्म जी युधिष्ठिर को इसके विषय में कहते हैं :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥
पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत ।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत् ॥

॥महाभारत शा० अ० ५९ श्लो० १४-१५ ॥

'आदि काल में न कोई राज्य था न राजा । न दण्ड-विधान था न ही दण्ड देने वाला । समस्त प्रजा धर्म के द्वारा ही एक-दूसरे की रक्षा करती थी । धर्म द्वारा ही परस्पर एक दूसरे की पालनां करते थे, परन्तु कालान्तर में मनुष्य परस्पर संरक्षण के कार्य में महान् कष्ट का अनुभव करने लगे ।'

ततोऽध्याय सहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा
चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गुणः ॥
मोक्षस्यास्ति त्रिवर्गोऽन्यः प्रोक्तः सत्त्वं रजस्तमः
स्थानं वृद्धिः क्षयश्चैव त्रिवर्गश्चैव दण्डजः ॥

महा० शा० अ० ५९ श्लो० २९, ३०, ३१ ॥

'ब्रह्मा जी ने अपनी बुद्धि से एक लाख श्लोकों का एक नीतिशास्त्र रचा । इस नीतिशास्त्र में धर्म-अर्थ और काम का विस्तार पूर्वक वर्णन किया । ये तीनों त्रिवर्ग के नाम से विख्यात हैं ।'

मनुष्य के लिए कर्मों को चार वर्ग में बाँटा गया है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । उक्त शास्त्र में चौथे वर्ग का वर्णन नहीं किया गया । वहाँ पर यह कहा गया है :—

'चौथा वर्ग मोक्ष है । उस वर्ग का प्रयोजन और उसके गुण उक्त तीनों वर्गों से पृथक् रखे गये हैं ।

'मोक्ष के तीन, अपने पृथक् मार्ग हैं । उनमें सत्त्व, रज और तम की गणना है । दण्डज नीति के त्रिवर्ग उससे भिन्न हैं । ये हैं, स्थान, वृद्धि और क्षय । (धन, स्थान और परिश्रम की रक्षा, ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि और दुष्टों का क्षय) ये नीतिशास्त्र के विषय हैं ।'

इस स्थान पर इतना उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा कि महाभारत ग्रन्थ सांस्कृतिक इतिहास का एक महान् ग्रन्थ है । इसमें जहाँ मानव के उत्थान और पतन की विस्तृत व्याख्या की गई है, वहाँ समाज के निर्माण और इसके उत्थान और पतन की भी व्याख्या लिखी है ।

महर्षि व्यास, राज्य और राजा की उत्पत्ति की प्रक्रिया लिखते हैं । जब मनुष्यों में समाज और समाज को नियंत्रण में रखने का प्रश्न उपस्थित हुआ तो ब्रह्मा का नीतिशास्त्र लिखा गया । उस समय मनुष्य के चार प्रकार के कर्मों में से केवल तीन प्रकार के कर्म ही समाजशास्त्र के अधीन लाये गये । चौथे प्रकार के कर्म, जो मोक्ष प्राप्ति के हेतु किये जाते हैं, उनको नीतिशास्त्र अर्थात् समाजशास्त्र से पृथक् रखा है ।

एक बात इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के सब कर्मों पर समाजशास्त्र व्यवस्था नहीं दे सकता । मोक्ष सम्बन्धी कार्य समाज के अधिकारों की परिधि से सर्वथा पृथक् है ।

शेष त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम के विषय में भी समाज और व्यक्ति के अपने-अपने अधिकार क्षेत्र हैं। और नीतिशास्त्र उनमें सीमा बाँधता है ।

उदाहरण के रूप में राजा अर्थात् राज्य के विषय में लिखा है :—

न हिंस्यात् परवित्तानि देयं काले च दापयेत् ।
विक्रान्तः सत्यवाक् क्षान्तो नृपो न चलते पथः ॥

म० भा०, शा० अ० ५७, श्लो० १२॥

'दूसरे की वित्ति (आजीविका) का नाश न करने वाला, समय पर सब को, मिलने वाला धन, दिलाने वाला, पराक्रमी, सत्यवादी और क्षमाशील राजा (अर्थात् राज्य) पथभ्रष्ट नहीं होता ।'

और भी लिखा है :—

सर्ववर्णानां नयापनयवित् तथा

म० भा०, शा०, अ० ५७, श्लो० ३०॥

'सब वर्णों के न्याय और अन्याय को समझने वाला (समस्त राज्यों से श्रेष्ठ है) ।'

भारतीय समाजशास्त्र में राज्य, जो समाज का प्रतीक है, के लिए दो बातों का वर्णन स्पष्ट रूप में कहा है। एक, किसी के संचित धन तथा आजीविका का नाश न करना और जो-जो जिसको मिलने वाला हो, उसको दिलवाना ।

अर्थात् राज्य का कार्य दूसरों की वित्ति की रक्षा करना है ।

दूसरी बात जिसका ऊपर वर्णन आया है, वह यह कि राज्य को सब वर्णों के न्याय और अन्याय को समझने वाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि राज्य समझे कि प्रत्येक वर्ण के लोग क्या करें और क्या न करें।

इसको और भी स्पष्ट किया है :—

स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः।
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत् ॥

म० भा०, शा०, अ० ६०, श्लो० १९ ॥

'अर्थात् राज्य समस्त प्रजाओं को अपने-अपने धर्मों में स्थापित करके, इनके द्वारा शान्तिपूर्ण समस्त कर्मों का धर्म के अनुसार अनुष्ठान करावे।'

वर्णों के कर्मों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन महर्षि वेद-व्यास ने किया है। पहिले तो सब वर्णों के उन कर्मों का उल्लेख किया है, जो सब के लिए समान रूपेण करणीय हैं :—

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ॥
आर्जवं भृत्य भरणं नवैते सार्ववर्णिकाः।

म० भा, शा०, अ० ६० श्लो० ७, ८ ॥

'किसी पर क्रोध न करना, सत्य बोलना, धन को बाँट कर भोगना, क्षमा भाव रखना, अपनी पत्नी से सन्तान पैदा करना, (बाह्य तथा आभ्यन्तरिक) पवित्रता, किसी से द्रोह न करना, सरल-भाव रखना, भरण-पोषण योग्य व्यक्तियों का पालन करना, ये नौ कार्य सब वर्ण के लोग करें।'

यहाँ एक बात विचारणीय है। यहाँ लिखा है कि धन को बाँट कर भोगना। अन्य स्थानों पर भी इसका उल्लेख आया है। उदाहरण के रूप में ब्राह्मण के कर्म इस प्रकार वर्णन किये हैं :—

तं चेद् द्विजमुपागच्छेद् वर्तमानं स्वकर्मणि
अकुर्वाणं विकर्माणि शान्तं प्रज्ञानतर्पितम्।
कुर्वीतापत्यसंतानमथो दद्याद् यजेत च
संविभज्य च भोक्तव्यं धनं सद्भिरितीर्यते ॥

म० भा०, शा० अध्याय ६०, श्लोक, १०-११

अर्थात् अपने वर्णोचित कर्म में स्थित, शान्त और ज्ञान-विज्ञान से तृप्त ब्राह्मण को, असत् कर्म का आश्रय लिये विना यदि धन प्राप्त हो जाय तो वह उस धन अथवा उस धन को दान और यज्ञ में लगा दे। धन को बाँटकर ही भोगना चाहिये। ऐसा सत्पुरुषों का कथन है।

यहाँ भी धन को बाँटकर भोगने का आदेश है। क्षत्रिय के लिये भी लिखा है।

दद्याद्राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत् ॥

म० भा०, शा०, अ० ६०, श्लोक १३ ॥

क्षत्रिय दान तो दे परन्तु दान ग्रहण न करे। वह यज्ञ तो करे परन्तु पुरोहित बनकर यज्ञ करावे नहीं।

इस प्रकार धन को बाँटकर प्रयोग करने का उल्लेख स्थान-स्थान पर आया है। परन्तु शासन को दूसरों के धन को बाँटने का अधिकार कहीं नहीं दिया गया। शासन के लिए तो यह व्यवस्था है ही कि वह दूसरे का रोजगार न छीने, जो-जो कुछ जिसको मिलने वाला है, वही उसको दिलाये। स्वेच्छा से बाँटना तो दान करने का सूचक है।

इसी प्रकार वैश्य के विषय में लिखा है—

दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः ॥

म० भा०, शा०, अ० ६०, श्लोक २१ ॥

दान, अध्ययन, यज्ञ और धर्मानुकूल धन-संचय करना वैश्य का कर्म है।

मनुस्मृति में भी लिखा है—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥

पशुओं का पालन-वर्धन, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, धन का व्यापार (Banking) तथा कृषि कर्म, ये वैश्य के कर्म हैं।

समाज में वर्ण-व्यवस्था का अर्थ ही यह है कि मनुष्य अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करे। यह ठीक है कि समाज में वर्ण-विभाजन गुण, कर्म, स्वभाव से होने चाहियें। परन्तु इसका यह भी अर्थ है कि एक वर्ण का व्यक्ति उस वर्ण का कार्य करता हुआ दूसरे वर्ण का कार्य न करे। इसमें अनर्थ होने की सम्भावना है।

निम्न उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। एक वणिक् प्रवृत्ति का व्यक्ति ब्राह्मण का अर्थात् अध्यापन का कार्य करने लगेगा तो निस्सन्देह विद्या मोल पर बिकने लगेगी। यदि क्षत्रिय प्रवृत्ति का व्यक्ति अध्यापक बन जाये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो विद्या उद्दंडता सिखाने वाली बन जायेगी। अथवा शिक्षा, जैसी अध्यापक को पसन्द होगी, वैसी बलपूर्वक दी जाया करेगी। इसी प्रकार यदि ब्राह्मण प्रवृत्ति का व्यक्ति शासक बन जायेगा तो चोर ठगों का साम्राज्य हो जायेगा।

यह एक पृथक् प्रश्न है कि वर्ण-व्यवस्था को कौन और किस प्रकार लागू करे? यह इस लेख का विषय नहीं। यहाँ तो इतना समझाने से ही प्रयोजन है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य नहीं कर सकता। अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार ही करने के लिए कार्य मिलना चाहिये। यह भारतीय व्यवस्था है।

इसमें समाज का अधिकार केवल मात्र यह है कि वह व्यक्तियों के गुण, कर्म, स्वभावानुसार उनके वर्ण की व्यवस्था करे। एक बार जब व्यवस्था हो जाये तो उनके कार्य में समाज तब तक हस्तक्षेप न करे, जब तक व्यक्ति अपने-अपने वर्ण के कर्म को धर्मानुसार करता चला जाता है।

वर्ण-व्यवस्था का निश्चय तो गुरुकुल अर्थात् शिक्षण संस्थाएँ करेंगी, परन्तु व्यक्तियों के अपने-अपने वर्ण का कर्म धर्मानुसार करने को देखने वाला राजा अर्थात् शासन होगा। शासन, जो समाज में व्यवस्था स्थापित करने वाला संस्थान (institution) है, वह भी केवल यह ही देखे कि व्यक्ति अपने-अपने वर्ण के कर्म को धर्मानुसार कर रहा है अथवा नहीं। स्वयं वह कर्म न करे। वह दूसरे से अपना धर्म पालन कराये।

वर्तमान समाजवाद

उक्त व्यवस्था से सर्वथा विपरीत समाजवादी समाज की व्यवस्था है। ऐसे समाज में, समाज जिसका सक्रिय अंग शासन ही है, समाज के प्रत्येक कार्य को अपने हाथ में ले लेता है। समाजवादी समाज को, किसी भी व्यक्ति का, स्वेच्छा से कोई भी कार्य करना स्वीकार नहीं। यहाँ व्यक्ति समाज का सेवक मात्र, वेतनभोक्ता, बन जाता है। उसके कार्य करने में समाज अर्थात् शासन का हस्तक्षेप पूर्ण रूप से रहता है।

इस समय इस प्रकार का समाज यद्यपि पूर्णांश में नहीं तो भी लगभग-पूर्णांश में रूस तथा चीन में चल रहा है। न्यूनाधिक यही व्यवस्था अन्य कम्यूनिस्ट पद्धति के अनुसार कार्य करने वाले देशों में भी प्रचलित है।

भारतवर्ष में भी यह व्यवस्था चालू करने की योजना बन रही है। यहाँ भी संसद ने यह निश्चय कर लिया है कि भारत में Socialistic Pattern of Society (समाजवादी समाज) स्थापित करना समाज का उद्देश्य है। Socialistic शब्द में ic प्रत्यय अर्थहीन है। प्रत्येक समाज जो समाजवादी ढाँचे को आत्मसात् कर रहा होता है और अभी पूर्ण रूप से समाजवादी नहीं बना, वह अपने नाम के साथ 'ic' प्रत्यय लगा सकता है। भारत में समाज उस दिशा में जा रहा है। इस कारण इसके नाम के पश्चात् यह प्रत्यय इसका वर्तमान रूप तो प्रकट कर सकता है परन्तु यह ध्येय प्रकट करने में अर्थहीन है।

रूस अथवा चीन में अवस्था यह है कि वहाँ शासन ही समाज का प्रतिनिधि है और समाजवादी ढाँचे को प्रचलित करने वाला भी शासन ही है।

समाज का सबसे मुख्य अंग ब्राह्मण वर्ग है। यह वह वर्ग है जो समाज के आचार-विचार का संचालन करता है। वर्तमान युग में आचार-विचार संचालन का ढंग है शिक्षा, समाचार-पत्र, साहित्य, कला और देश का विधान। समाजवादी समाज में सब कार्य शासन अपने अधीन कर लेता है। इन सब पर कम्यूनिस्ट देशों में शासन का पूर्ण अधिकार है।

कानून पर शासन के अधिकार से हमारा अभिप्राय कानून चलाने से नहीं, प्रत्युत कानून निर्माण से है। कानून के चलाने का कार्य तो शासन का है ही, परन्तु कानून-निर्माण करना शासन का कार्य नहीं। उदाहरण के रूप में चोरी क्या है? चोर को कौन पकड़े? उसको पकड़ कर न्यायकर्त्ता के सम्मुख कब और कैसे उपस्थित किया जाये? न्यायकर्त्ता चोर को चोर किस प्रकार सिद्ध करे? उसको चोर किस प्रकार समझे और किस-किस चोरी का कितना-कितना दंड दे? इस सबके लिए नियम बनाना शासन का कार्य नहीं। यदि यह सब भी शासन ही करने लगे तो अपनी सुविधा के लिए वह एक पुलिस के अधिकारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बात को, जो चोर को पकड़ कर लाया है, बिना साक्षी अथवा किसी प्रकार का प्रमाण देखे, पकड़े व्यक्ति को चोर समझ ले और दंड दे दे। अतः जब हम कहते हैं कि देश का कानून शासन के अधीन नहीं होना चाहिये तो हमारा अभिप्राय उक्त परिस्थिति से देश को बचाने के लिये ही है। यह परिस्थिति जो हमने एक चोर के विषय में कानून बनाने की बात कही है, यदि शासन की रुचि अनुसार हो जाये तो शासन तो अभियुक्त को अपने को निर्दोष सिद्ध करने का अवसर भी न दे। पुलिस के कथन पर ही अभियुक्तों को अपराधी मान उनको फाँसी तक दे डाले।

अतः हमारा कहना है कि समाजवादी समाज के ढाँचे में शिक्षा, समाचारपत्र, साहित्य, कला और कानून-निर्माण, शासन अपने अधिकार में कर लेता है। ऐसा कम्यूनिस्ट देशों में हो रहा है और भारत में भी समाज को Socialistic Pattern (समाजवादी ढाँचा) देने वाले लोग यही करने जा रहे हैं। यहाँ पर धीरे-धीरे उद्योग-धंधों, व्यापार, व्यापार में लगने वाले धन, शिक्षा, पाठ्य-पुस्तकों, साहित्य-निर्माण तथा कुछ सीमा तक और एक ढंग से समाचारपत्रों तथा कानून-निर्माण पर शासक वर्ग अपनी छाप लगाते जाते हैं।

कम्यूनिस्ट देशों में तो लोग अपने विचार वालों का, राज्य से पृथक् संगठन भी नहीं बना सकते। अपने विचार प्रकाशित नहीं कर सकते; इतना ही नहीं मौखिक रूप में भी किसी दूसरे पर अपने विचार प्रकट नहीं कर सकते। वहाँ 'रेडियो सैट' रख तो सकते हैं, परन्तु जो आवाज़ शासक वर्ग की दृष्टि में अनुपयुक्त है, वह सुन नहीं सकते। शासक रेडियो तरंगों में शोर मचा कर उसे जनता तक पहुँचने से रोक सकते हैं।

यह समाजवाद है। समाजवाद में आप क्या खायें, क्या पहिनें, कब और किसके साथ विवाह करें, कैसे मकान में रहें, किस समय और कितने घंटे काम करें, यहाँ तक कि किस दिन काम से छुट्टी करें, घर से, पत्नी से, और अपने आप से, सब कुछ समाज अर्थात् शासन के अधीन है।

यह सब कम्यूनिस्ट देशों में कैसे किया जाता है? एक भयानक वृत्तान्त है। रूस जैसे देश में स्थान-स्थान पर कम्यूनिस्ट पार्टियाँ बनी हैं। एक गाँव में दस-बीस उच्छृंखल महत्वाकांक्षा रखने वाले व्यक्ति इस दल में सम्मिलित हो जाते हैं। इस दल के अतिरिक्त, इनसे मत-भेद रखने वाला कोई व्यक्ति कोई दूसरा दल नहीं बना सकता। न ही कोई बोलशिविक पार्टी के कामों के विरुद्ध किसी दल में सम्मिलत हो सकता है और प्रचार तो दूर रहा, विचार भी प्रकट नहीं कर सकता। कोई समाचार पत्र, रेडियो अथवा पुस्तक उस दल के विरुद्ध, न छप सकती है, न कोई उसके विरोध में बोल ही सकता है। भिन्न-भिन्न स्थानों के ये दल अपने में से पुलिस तथा सेना निर्माण करते हैं और वह पुलिस और सेना उसी दल का समर्थन करती है। उस दल के विरोधी को पकड़ कर मृत्युदंड तक दे देती है।

दल के प्रतिनिधि अपने-अपने राज्य (state) की 'पार्टी' (दल) बनाते हैं और राज्यों से पूर्ण देश की पार्टी निर्माण होती है। ये लोग अपना नेता अथवा, शासक, जो देश का शासक भी होता है, चुनते हैं। इसके साथ दस अन्य मन्त्री प्रेज़िडियम के सदस्य निर्वाचित हो जाते हैं। ये लोग देश की सेना और पुलिस पर शासन करते हैं।

रूस में बोलशिविक पार्टी के सदस्यों की संख्या किसी को ज्ञात नहीं। यह बताई नहीं जाती परन्तु यह अनुमान लगाया गया है कि दो करोड़ से तीन करोड़ के भीतर है। देश की जनसंख्या पचीस करोड़ के लगभग है। इनमें २१ वर्ष से ऊपर की आयु के नागरिकों की संख्या लगभग सत्रह-अठारह करोड़ होनी चाहिये। अर्थात् इन पन्द्रह-सोलह करोड़ पर दो-ढ़ाई करोड़ शासक करता है और शेष बारह-तेरह करोड़ को न तो सेना और पुलिस में भरती होने की स्वीकृति है, न ही शासक दल के कामों के विषय में विचार करने तथा उनके विपरीत अपने विचार प्रकट करने की स्वीकृति है। बोलशिविक दल के विरुद्ध तो कोई दूसरा दल बन सकता ही नहीं। दल बनाना, अथवा प्रचार करना तो दूर की बातें हैं, कोई यह भी नहीं कह सकता कि कम्यूनिस्ट पद्धति देश में अकल्याणकारी है। ऐसा कहने वाले को दंडनीय माना जाता है और यह दंड मृत्यु दंड तक हो सकता है।

भयंकर बात तो यह है कि दल के भीतर भी, शासक अर्थात् दल के नेता के विपरीत, उसकी नीति के, उसके कार्य के और उसकी बक-झक के विरुद्ध कोई भी दल के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीतर बैठकर भी, कुछ नहीं कह सकता। रूस में बोलशिविक पार्टी की बाईसवीं कान्फ्रेंस में, जो कुछ ख्रुश्चेव ने अपने विरोधियों के विपरीत कहा है, उसका प्रतिकार, उस का उत्तर और उसके किसी कटु वाक्य को मृदु करने का प्रयास भी तो कोई नहीं कर सका।

वहां पर समाचार-पत्रों पर शासक वर्ग का इतना प्रबल नियन्त्रण है कि देश में किसी भी विषय पर विचार-भेद दिखाई नहीं देता। यह विचार-भेद का अभाव यदि वास्तविक होता तो ख्रुश्चेव को अपने विरोधियों को गालियाँ देने की आवश्यकता न पड़ती।

यह है अति संक्षेप में समाजवाद का रूप।

वर्तमान युग के समाजवादी की उत्पत्ति

यह समाजवाद, जिसमें शासक अथवा शासक वर्ग सर्वेसर्वा हो जाता है और समाज के घटकों पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है, भौतिक वाद की उपज है। यूरोप में पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दि में कहे जाने वाले पुनरुत्थान (Renaissance) का परिणाम भौतिकवाद हुआ। भौतिकवाद और नास्तिक्य एक ही चित्र के दो रूप हैं। नास्तिक्य के प्रादुर्भाव और प्रचार का कारण यूरोप में ईसाई धर्म का युक्ति और प्रमाण रहित होना है। हज़रत ईसा ने अपनी कवित्व-प्रवृत्ति के अधीन जन-साधारण में कुछ सूक्तियाँ (Parables) कही प्रतीत होती हैं। उन सूक्तियों को जैसा उनके शिष्य स्मरण रख सके, हज़रत की मृत्यु के अनन्तर लिखा गया। उनसे परमात्मा, आत्मा और इनके कार्य के विषय में निराधार युक्ति तथा प्रमाण रहित अनेक धारणाएँ बन गयीं। ईसाई मत की इन धारणाओं को बुद्धिशील व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सके।

उदाहरण के रूप में हज़रत ईसा ने कहा था कि—
"प्रलय के समय जब सब मृत आत्माएँ कब्रों से निकलेंगी तो परमात्मा उनको देखेगा और जैसे-जैसे जिस के कर्म होंगे, वैसा उनको स्वर्ग अथवा नरक में स्थान देगा।"

इसका अर्थ ईसाई धर्म के अनुयाइयों ने यह लगाया कि पृथ्वी सपाट है अन्यथा परमात्मा कैसे सबको एकदम देख सकेगा? परिणाम यह हुआ कि जब गलीलियों सदृश वैज्ञानिकों ने पृथिवी को गोल बताया तो ईसाई धर्मानुयाइयों ने उन वैज्ञानिकों को धर्मविरोधी घोषित किया और उनको दंड दिलाया अथवा दिलाने का यत्न किया। ईसाई नेताओं (पादरियों) के इस कृत्य की प्रतिक्रिया हुई और जनता ने ऐसे धर्म, धर्म-प्रवर्त्तक और धर्म के मुख्य अंग परमात्मा और आत्मा को ही मानना छोड़ दिया।

ऐसी दुर्घटना भारतीय साहित्य में भी हुई है। महाभारत में लिखा गया कि भगवान कृष्ण का हृदय अतिप्रेम-मय था। अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण था। इस उक्ति का अर्थ लिया गया कि कृष्ण का व्यवहार अपनी सखियों से प्रेममय था। सखियों से प्रेममय का अर्थ लगाया गया 'वासनामय' और फिर वासनामय में रासलीला, यहाँ तक कि गोपियों के लहँगे का नाड़ा खींचने तक का प्रयत्न किया गया। गोपियों के कठोर स्तनों से कृष्ण की छाती के विदीर्ण होने की बात निकल आयी। इस अनाचार का परिणाम भी हुआ है। भारतवर्ष में बुद्धिवाद का लोप और केवल श्रद्धा का ठूंठ खड़ा रह गया है।

यूरोप में ईसाई धर्म की अनर्गल बातों के विरुद्ध विद्रोह हुआ तो नास्तिक्य का जन्म हुआ और नास्तिक्य का दूसरा रूप भौतिकवाद हुआ।

जहाँ विज्ञान का परिणाम शुद्ध आस्तिक्य का जन्म होना चाहिये था, वहाँ ईसाई मत के अनर्गल आस्तिक्य को अस्वीकार कर विज्ञान ने नास्तिक्य को जन्म दिया।

इस समय यूरोप में मशीन का युग आया। मज़दूर और मालिकों का जन्म हुआ। मालिक प्रायः धनिक तथा पठित वर्ग था, जो ईसाई धर्म के परमात्मा को स्वीकार नहीं कर सका। वह वर्ग उस समय के तत्त्वदर्शियों के कथन से प्रभावित हो गया। ईसाई धर्म के ईश्वरवाद का विकल्प था केवल नास्तिक्य, अतः यंत्र-युग में मालिक वर्ग प्रायः नास्तिक था। जो कोई आस्तिकता पर विश्वास करता था, वह भी पादरियों द्वारा विकृत आस्किता पर, नास्तिकता को ही प्रोत्साहन देता था। उदाहरण के रूप में इस मज़हब में यह विख्यात है कि मरते समय पादड़ी आ कर मरने वाले व्यक्ति से क्षमा-प्रार्थना करा ले और उसको परमात्मा के पुत्र हज़रत ईसा, की शरण में ले आये तो मरने पर पापी भी स्वर्ग लोक में चला जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सबका परिणाम यह हुआ कि यांत्रिक युग के आने पर यंत्रों का लाभ केवल मालिक को ही प्राप्त हुआ। सेवक उस लाभ से वंचित रह गया। मालिक के हाथ में, राजा का सहायक बन अथवा उसका विरोधी बन कर भी सत्ता आई तो उसने मज़दूर के अधिकारों को स्वीकार नहीं किया। मज़दूर केवल शोषित ही नहीं हुआ, प्रत्युत सामाजिक रूप में भी वह पतित हो गया। इस स्थिति को पूंजी वाद (Capitalism) का नाम दिया गया।

इसकी प्रतिक्रिया समाजवाद अर्थात् (Dictatorship of the Proletariate) मज़दूर वर्ग की तानाशाही, की स्थापना हुई। उक्त पूँजीवाद के समर्थकों ने अपने अधिकारों अर्थात् अपने अत्याचार के औचित्य को सिद्ध करने के लिये पादड़ियों का आश्रय लिया, तत्कालीन तत्त्व दर्शन का आश्रय लिया और इस विषय पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिख डाले। इसकी प्रतिक्रिया में इस नवीन समाजवाद, मज़दूर वर्ग की तानाशाही, के समर्थकों ने भी अपना तत्त्व दर्शन लिखा, अपने दर्शन के प्रचारक (Paid Communist Workers) कम्यूनिस्ट प्रचारक, निर्माण किये और अपना दंड विधान बनाया। अपने तत्त्व दर्शन का नाम कम्यूनिज़्म रखा और अपने दंड विधान को चलाने के लिये कम्यूनिस्ट स्टेट (समाजवादी सरकार) का निर्माण किया।

भारतीय-समाज-शास्त्र इन दोनों, पूंजीवाद और समाज वाद, को अवांछनीय, अनर्गल, अयुक्ति-संगत अर्थात् अधर्म युक्त मानता है। इस समाज व्यवस्था में जिसका संक्षिप्त सा चित्र ऊपर दिया है, दोनों के लिये स्थान है और दोनों की कुछ सीमा निर्धारित है। यह सीमा आत्मवाद की ही है।

यूरोपीय पूँजीवाद और समाजवाद, दोनों के दोनों नास्तिक्य की उपज हैं। अतः दोनों अपने-अपने काल में और अपने-अपने स्थान पर तानाशाह (dictator) बन बैठते हैं। भारतीय आत्मवादी तत्त्वशास्त्र तो किसी को भी, न मालिक को न मज़दूर को, तानाशाह बनने की स्वीकृति नहीं देता। 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' मानने वाले तो तानाशाह बन सकते ही नहीं।

योरपीय समाज शास्त्र

यह वर्णन किया जा चुका है कि यूरोपीय समाजशास्त्र यंत्र-युग में नास्तिक मालिकों के व्यवहार की प्रतिक्रिया मात्र है। मालिकों के व्यवहार में दोष था नास्तिकवाद का, अथवा आत्मा और परमात्मा के विषय में अशुद्ध धारणा वाद का, जो ईसाई मत के मिथ्यावाद की उपज थी। अतः नवीन समाजवादियों ने अपने शास्त्र में जहाँ समाज की पूर्ण धारणा को बदल दिया, वहाँ आत्मा और परमात्मा को भी स्वीकार नहीं किया। ईसाई धर्म को भी उन्होंने मालिकों का पिट्ठू माना।

संक्षेप में समाज के विषय में इन नवीन समाजवादियों की धारणाएँ इस प्रकार हैं।

(१) समाज में केवल दो वर्ग हैं। एक शोषक दूसरे शोषित (Exploiters and Exploited)। एक दुष्ट दानव है और दूसरे दीन-हीन।

(२) मनुष्य प्रकृति इन्द्रिय लोलुप है। यह इन्द्रियों के विषय के अधीन चलती है। इन्द्रिय विषयों में यौन-आकर्षण सबसे प्रबल है।

(३) मनुष्य के भीतर अथवा बाहर कोई शक्ति नहीं जो मनुष्य को इन इन्द्रियों के विषय पर काबू पाने की प्रेरणा दे अथवा उसको सबल बना सके। अतः शोषित वर्ग की तानाशाही ही ऐसा करने में समर्थ है।

(४) शोषित वर्ग की तानाशाही शासन के द्वारा ही कार्य कर सकती है, अतः इस वर्ग का ही शासन होना चाहिए।

(५) मनुष्य के भीतर शोषित वर्ग के शासन का अधिकार और समाज में भी इसका अधिकार, पुलिस और सेना द्वारा अर्थात् बलपूर्वक ही चल सकता है।

(६) रक्तरंजित क्रान्ति ही केवल शोषित वर्ग की तानाशाही स्थापित कर सकती है।

यह है समाजवाद का रूप। इसके परिणामस्वरूप ही कम्यूनिस्ट देशों में मजदूर वर्ग की तानाशाही स्थापित हुई है। इसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व सर्वथा लोप हो गया है।

वास्तव में मज़दूर वर्ग की तानाशाही स्थापित करते-करते कतिपय नेताओं की तानशाही ही स्थापित हो पाई है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वे भी बल-प्रयोग से अपनी तानाशाही स्थापित किये हुए हैं। केवल बल-प्रयोग से ही ऐसा नहीं हो सकता था, इस के लिये विचारों पर नियंत्रण की आवश्यकता अनुभव हुई और विचारों पर नियंत्रण के लिये उन सब साधनों पर शासन अर्थात् नेता का अधिकार हो रहा है, जिनसे विचारों को प्रोत्साहन मिलता है।

वास्तव में उक्त धारणाएँ ही असंगत हैं।

समाज में केवल दो ही वर्ग मानना और इन दो वर्गों को शोषित और शोषक मानना प्रथम भूल है।

समाज में दो वर्ग नहीं, प्रत्युत दो प्रवृत्तियों के लोग हैं। वर्ग और प्रवृत्ति में अन्तर है। प्रवृत्ति का सम्बन्ध स्वभाव से है, जो शिक्षा और वातावरण से बनती है। वर्ग तो कर्म और गुण के स्वभाव के साथ सामञ्जस्य होने पर बनते हैं। वर्ग और वर्ण पर्यायवाचक हैं। मनुष्यों में वर्ण, अर्थात् गुण, कर्म, स्वाभावानुसार विभाजन से चार वर्ग हैं।

यदि केवल स्वभाव अर्थात् प्रवृत्ति का विचार किया जाये तो मनुष्य दो प्रकार के हैं, परन्तु ये शोषित और शोषक नहीं। ये देवता और असुर हैं। चारों के चारों वर्ण के गुण और कर्म वाले होते हुए भी, स्वभाव से देवता भी हो सकते हैं और असुर भी। इसी कारण भारतीय समाज-शास्त्र में वर्ण-व्यवस्था करने के लिये गुण-कर्म के साथ स्वभाव को आवश्यक माना है।

गुण का अर्थ योग्यता है। इसको अंग्रेजी में qualifications' कहा जाता है। कर्म का अर्थ व्यवसाय 'profession' है। उक्त कथन का अर्थ यह है कि योग्यता और व्यवसाय वर्ण-व्यवस्था के लिये मुख्य होते हुए भी स्वभाव अर्थात् दैवी प्रवृत्ति साथ में होनी परमावश्यक है।

यह देखा गया है कि कम्यूनिस्ट समाज में भी गुण और व्यवसाय से ब्राह्मण वर्ग, क्षत्रिय वर्ग, वैश्य वर्ग तथा शूद्र वर्ग हैं। इसपर भी स्वभाव से सब के सब आसुरी हैं अथवा आसुरी बने रहने पर विवश किये जा रहे हैं।

भारतीय समाज में गुण-कर्म से वर्ग तो होते ही हैं परन्तु उनके साथ वर्गों में दैवी प्रवृत्ति अर्थात् स्वभाव का होना आवश्यक माना गया है।

भगवद्गीता में इस बात को बहुत ही साफ और स्पष्ट शब्दों में लिखा है :—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।

(भ० गी० अ० १६ श्लोक ६)

इस लोक में दो स्वभाव के लोग हैं, दैवी और आसुरी।

दैवी और आसुरी से अभिप्राय शोषित और शोषक नहीं हैं। तथा कथित शोषितों में भी आसुरी और दैवी स्वभाव के प्राणी होते हैं और हो सकते हैं। इसी प्रकार तथा कथित शोषकों में भी उक्त दोनों स्वभाव के प्राणी हैं और हो सकते हैं।

गीता में ही दोनों स्वभाव वालों के गुण वर्णन किये गये हैं। दैवी स्वभाव वालों के विषय में लिखा है :—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान योग व्यवस्थितिः
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(भ० गी० अ० १६, १-३)

अभय, शुद्ध, सात्विक वृत्ति, ज्ञान योग में निरन्तर स्थित, इद्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता और अपने-अपने वर्ण के कर्म में धर्मानुसार प्रवृत्त।

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्म-फल का त्याग, शान्ति, उदार भाव, सब जीवों पर दया, तृष्णा का त्याग, मृदुता, बुरे कर्मों से लाज, अचपलता।

तेजस्विता, क्षमा, धृति, शुद्धता, द्रोह न करना, अभिमान न करना, ये दैवी संपदा अर्थात् दैवी स्वभाव वालों के लक्षण हैं।

इसी प्रकार आसुरी स्वभाव के लक्षण लिखे हैं :—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिंतामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिता :
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।।
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ।।
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।।
(भ० गी० अ० १६ श्लोक ७–१४)

असुर लोग न प्रवृत्ति जानते हैं, न निवृत्ति (करणीय अकरणीय नहीं जानते)। उनमें न शुद्धता होती है, न आचार और न ही सत्य।

ये लोग कहते हैं सब जगत् असत्य है, निराधार है, परमेश्वर के बिना है। स्वयं हुआ है, काम को छोड़ इसका कुछ भी हेतु नहीं।

इस विचार से ये लोग अल्पबुद्धि, नष्टात्मा, क्रूर कर्म करने वाले, जगत् का क्षय करने के हेतु उत्पन्न हुआ करते हैं।

कभी भी न पूर्ण होने वाले कार्यों (विषय-वासनादि कर्मों) में लगे रहते हैं। एतदर्थ दम्भ, मान, मद से व्याप्त होकर, मनमानी कल्पना कर बुरे कर्म करने में प्रवृत्त रहते हैं।

ये आमरणान्त अगणित चिन्ताओं में ग्रस्त, कामोपभोग में डूबे हुए और उनको ही सर्वस्व मानने वाले सैंकड़ों आशा-पाशों में जकड़े हुए, काम, क्रोध, पूर्ण–सुख लूटने के लिये अन्याय से बहुत-सा अर्थ सञ्चय करने की तृष्णा वाले; मैंने यह पा लिया है और उस मनोरथ को सिद्ध करूँगा; इतना मेरे पास है, और भविष्य में इतना मेरे पास हो जावेगा; इस शत्रु को मैंने मार लिया है और अन्य को मार लूंगा; मैं ईश्वर, मैं भोग करने वाला, मैं सिद्ध, मैं बलवान और मैं ही सुखी हूं।

इसी प्रकार के अन्य अनेकों लक्षण आसुरी स्वभाव वालों के लिखे हैं।

भारतीय समाज-शास्त्र इन दो प्रकार के स्वभाव वाले मनुष्यों के बार वर्ग मानता है। वह शोषक तथा शोषित के विचार से वर्ग नहीं मानता। वर्ग हैं वर्ण। परन्तु वर्णों के गुण और कर्म के साथ दैवी स्वभाव का संयोग हो जाये तो चारों वर्ण रहते हुए भी सुख की वृद्धि होगी। न कोई शोषक रह जायेगा न शोषित।

इसी प्रकार युरोपीय समाजवादियों की अन्य धारणाएँ भी हैं। मानव इन्द्रिय-लोलुप है। यह सत्य है, परन्तु तब तक ही, जब तक मनुष्य अपने में मन तथा आत्मा की, जो कर्म फल का भोग करने वाला है, विद्यमानता का भान नहीं करता। जो सत्य हृदय से आत्मवाद में विश्वास करते हैं वे इन्द्रियों के विषयों का भोग करते हुए भी अधर्माचरण नहीं कर सकते।

इसी प्रकार शासन ही मनुष्य को ठीक मार्ग पर ला सकता है, यह सर्वथा असत्य, अप्रमाणित, अनुभव से असिद्ध बात है। दंड-विधान व्यापक सुधार करने में कभी सबल नहीं होता। धर्म की प्रेरणा, जो आत्मवाद की विशेषता है, ही समाज की प्रवृत्ति को उचित कल्याणकारी मार्ग पर ला सकती है। दंड विधान तो अपवाद वाले व्यक्ति (जो प्रेरणा से भी अप्रभावित हैं) के लिए ही है।

जो सब प्राणियों को आत्मवत् मानता है, वह तानाशाह नहीं हो सकता। न तो मालिक हो कर न ही सेवक हो कर।

संसार में तानाशाहों की आवश्यकता नहीं। किसी भी वर्ग की तानाशाही नहीं चाहिये। अतः इसके लिये रक्त-रंजित क्रान्ति की आवश्यकता बताना तो पाप है।

युरोपीय समाजवाद के दोष

हमने बताया है कि समाजवाद, (जैसा आज समझा जा रहा है) अन्य कम्यूनिस्ट देशों में साधारण रूप में और चीन तथा रूस में पूर्ण रूप में प्रचलित हो रहा है। इन देशों के शासक वर्ग के व्यवहार से, आज सन १९६२ में, किसी भी बुद्धिशील व्यक्ति को संदेह नहीं रह सकता कि गीता के उक्त श्लोकों में बताये आसुरी लक्षण पूर्ण रूप में उन में विद्यमान हैं। ख्रुश्चेव के अपने प्रत्येक भाषण और भाषण के प्रत्येक वाक्य से यही प्रकट होता है, "मैं महान शक्ति-शाली (ईश्वर) हूँ। मेरे पास रौकेट हैं। हाईड्रोजन बम्ब हैं। आधी पृथ्वी पर मेरा प्रभाव हो गया है, शेष पर हो जायेगा, इस शत्रु को मैंने मार लिया और अन्य को मार लूंगा, मैं सिद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हूँ, मैं बलवान हूँ इत्यादि ।" और ये सब आसुरी लक्षण हैं ।

समाजवाद असुरों की सृष्टि करने में ही समर्थ है। यह तो भारतीय शास्त्रानुसार, समाजवाद की परिभाषा हुई अब तनिक इसकी परख बुद्धि की कसौटी पर करनी चाहिये । इस परख से भी यह रांगा ही सिद्ध होगा। इस में सोने का लेशमात्र भी गुण नहीं है ।

इस समाजवाद ने अपने रूस और चीन वाले रूप को संसार की दृष्टि से सर्वथा ओझल कर रखा है। लौह-आवरण के कारण इससे उत्पन्न उन देशों में हो रहे अत्याचार, अनाचार, संहार, विनाश इत्यादि का रूप प्रकट नहीं हो रहा। लैनिन और स्टालिन ने अपने देश को इतना छुपाकर रखा कि अन्य देशों के बड़े-बड़े बुद्धिशील, तथा भले लोगों को भी मूर्ख बने रह गये थे। भारत के पण्डित जवाहरलाल इत्यादि सदृश कुछ एक नेता, रूस की सुनी, सुनाई बातें बता-बता कर गाँधी जैसे व्यक्ति और कांग्रेस जैसी संस्था को मूर्ख बनाते रहे और स्वराज्य अन्दोलन पर समाजवाद का पैवन्द लगाते रहे ।

धीरे-धीरे अनेक स्थानों पर वह लौह आवरण छिद्र, युक्त हुआ तो भीतर की झलक आने लगी है। इसके साथ ही भारत में समाजवाद को आदर्श मान, जब यत्न आरम्भ हुआ तो इस वाद के दोष और भी उग्ररूप से प्रकट होने लगे हैं ।

इन दोषों को अवगुण के स्थान पर गुण बताने में सरकार, कांग्रेस, कम्यूनिस्ट और प्रजा सोशलिस्ट दल वाले भी एड़ी से चोटी तक का ज़ोर लगा रहे हैं । जन साधारण को इनके झूठे प्रचार से मूर्ख बनाया जा रहा है ।

तनिक इनके दावों की, कि इस समाजवादी ढांचे से उन्होंने देश का अपार कल्याण किया है, परीक्षा होनी चाहिये। एतदर्थ हम निम्न बातें पाठकों के ज्ञान में लाते हैं ।

(१) क्या देश में सदाचार, बुद्धिवाद, धर्मपरायणता (Law mindedness) बढ़ रहे हैं ? सदाचार से हमारा अभिप्राय सत्य, अस्तेय, शौच, अहिंसा, परस्पर सद्व्यवहार इत्यादि से है । इन आचरणों का नागरिक-नागरिक, सम्बन्धी-सम्बन्धी, परिवार के भीतर-बाहर, राज्याधिकारी तथा प्रजा, स्वामी-भृत्य, नेता-भक्त इत्यादि में देखना चाहिये ।

हम निश्चय से कह सकते हैं कि देश में चोर, ठग, डाकू, झूठे, दुराचारी, शराबी, वेश्यागामी, अवसरवादी रिश्वतखोर, अनेकानेक अवगुणों वालों में असीम वृद्धि हुई है। भाई-भाई में, पड़ोसी-पड़ोसी में, पति-पत्नी में नागरिक-नागरिक में नेता और उसका अनुकरण करने वालों में, मालिक-नौकर में वैमनस्य बढ़ा है और द्रुतगति से बढ़ रहा है।

बुद्धिवाद का अभिप्राय है अपने परस्पर के झगड़ों को विचार, विवेक से, समझ-समझा कर निश्चय करना। अपने मार्ग को विचार कर निश्चय करना तथा बल का प्रयोग न करना।

यह स्पष्ट ही है कि भारतीय समाज में बुद्धिवाद का लोप होता जाता है । निजी बातों में बुद्धि के प्रयोग के कम होने का प्रत्यक्ष प्रमाण देश में हत्यायों में वृद्धि है । छोटे से झगड़े पर हत्या इस बात की सूचक है कि या तो झगड़े को समझ अथवा समझाकर निश्चय करने का यत्न ही नहीं किया गया अथवा इस दिशा में यत्न किया गया है तो समझने-समझाने की शक्ति ही नहीं रही । सार्वजनिक क्षेत्रों में भी बुद्धिवाद की कमी द्रुतगति से हो रही है। स्वराज्य प्राप्ति के अनन्तर सबको 'मत' मिल जाने के बाद भी और संसद् तथा विधान-सभाओं के निर्वाचन नियत समय पर होने पर भी, सत्याग्रह, भूख हड़ताल, जलूस और उनपर अथवा उनकी ओर से ईंट-बाज़ी में अतुल वृद्धि हुई है।

(२) क्या मानव भय से मुक्त हो रहा है ? भय तीन प्रकार के हैं, धन, जन, और जीवन का । धन छिन जाने का भय तो धनवान लोग ही भली प्रकार बता सकते हैं। एक बात निर्विवाद है। कोई भी नौकर अपनी नौकरी चले जाने के भय से मुक्त नहीं । वह मालिक की अनर्गल, अनधिकार युक्त बातें मानने के लिये भी विवश हो जाता है । कर्मचारियों की यूनियनों के निर्माण का कारण ही यह है कि कर्मचारी मालिक के अनाचार से अपने को सुरक्षित नहीं समझता। यूनियनें कर्मचारी को कुछ सीमा तक अपने मालिक के अनाचार से तो भयमुक्त करती हैं, परन्तु उसी सीमा तक कर्मचारी अपने को यूनियन के भय में ग्रस्त पाता है। रोज़गार जाने के भय का वास्तविक निराकरण नहीं हुआ। यह निराकरण तो मानव के स्वेच्छा से धर्मपरायण (Law-minded) होने पर ही हो सकता है । मालिक के अधर्मयुक्त व्यवहार के भय से कर्मचारी, यूनियन बनाता है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूनियन के अयुक्तियुक्त व्यवहार में फंस जाता है।

धन और रोजगार के भय के अतिरिक्त जन अर्थात् सम्बन्धियों के छिन जाने का भय होता है। यह भय रोग, दुर्घटना,द्वेष अथवा चोर-डाकू से होता है। दुर्घटनाओं में तो इस यंत्र-युग में वृद्धि होनी स्वाभाविक ही है, परन्तु द्वेष और चोर डाकुओं का भय भी इस समाजवाद के युग में कम नहीं हुआ, प्रत्युत बढ़ ही रहा है। रोगों से मुक्ति न मिलने का प्रमाण हस्पतालों में और डाक्टर, हकीम, वैद्यों के यहाँ रोगियों की भीड़ है।

जीवन के भय का अर्थ है आवश्यकताओं के अपूर्ण रह जाने का भय। इसमें मृत्यु का भय भी सम्मिलित है। इस महँगाई के काल में और अनावश्यक आवश्यकताओं में वृद्धि हो जाने से इनके अपूर्ण रह जाने का भय तो समाज में बना ही रहता है।

भारत में और इससे कहीं अधिक कम्यूनिस्ट देशों में प्राणी अनेक प्रकार के भय से ग्रस्त रहता ही है। ऐसे देशों में सरकार स्वयमेव एक अति भयानक रूप धारण किये हुए है। एक स्वतंत्रता-प्रिय व्यक्ति के लिये सरकार अधिक भय का कारण है और सरकार के साथ जन-साधारण का सहयोग भी भय से त्रस्त होने का कारण ही होता है।

हमारा दृढ़ मत है कि समाजवाद ने मानव को भय से मुक्त नहीं किया। कुछ आवश्यकताओं से वह उसी प्रकार मुक्त हुआ है, जैसे एक चिड़ियाघर का पशु भोजन के अभाव से मुक्ति पा जाता है। इस मुक्ति के लिये उस को अन्य अनेक प्रकार के भयों से त्रस्त रहना पड़ता है।

(३) क्या देश समृद्ध हो रहा है? मोटी दृष्टि से तो ऐसा प्रतीत होता है कि देश समृद्ध हो रहा है। रेल, सड़कें, कल-कारखाने, देश में बन रहे माल में वृद्धि, पक्की, भव्य इमारतें और अन्य इसी प्रकार की योजनाएँ, यह भास कराती हैं कि देश आर्थिक दृष्टि से उन्नति कर रहा है। वास्तव में यह समृद्धता, अर्थात् सम्पन्नता के लक्षण नहीं हैं। यह तो उस व्यक्ति की दशा का सूचक है जो लोगों से ऋण ले-लेकर घर पर हलुवा-पूरी खाता अथवा हवाई जहाज और मोटरों में सवार होता है।

यह सब कुछ दो प्रकार से सम्पन्न किया जा रहा है। एक 'डिफिशिट फाईनैन्सिंग' (जनता से उधार ले-लेकर) काम चलाने से। जनता से उधार लेने के दो अर्थ हैं। एक तो सरकार ऋण लेती है। सरकार ऐसा घोषणा करके करती है। यदि सरकार के घोषणा करने पर ऋण धड़ा-धड़ मिलने लगे, तब भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जनता के पास धन बढ़ रहा है। ऐसा नहीं हो रहा। दिन-प्रतिदिन सरकार को जनता से ऋण मिलना कम हो रहा है। प्रायः ऋणों की माँग पूरी नहीं होती। अंग्रेजी सरकार के दिनों में सरकारी ऋण प्रायः आवश्यकता से अधिक (over subscribed) मिलता था। आज बात उलटी है।

'डिफिशिट फाईनैन्सिंग' का एक अर्थ यह भी है कि सरकार कागज के नोटों का अधिकाधिक चलन करे और उन कागज के नोटों के विनिमय में सोना-चाँदी इत्यादि न दे सके। वर्तमान सरकार बहुत बड़ी मात्रा में ऐसा कर रही है। इसका अर्थ यह है कि सरकार सड़कें, रेलें, भव्य-भवन तथा कारखाने इत्यादि बना रही है और उसका मूल्य जनता को दे नहीं रही। इस समय तो जनता भ्रम में फँसी हुई है अथवा भय के कारण अपने कागज के नोटों के विनिमय में चाँदी अथवा सोना माँग नहीं रही। परन्तु यह निश्चय ही है कि सरकार के पास इन नोटों का भुगतान करने के लिये कुछ नहीं है।

उद्योगीकरण एक दूसरे ढंग से भी किया जा रहा है। यह है विदेशों से ऋण लेने से। जब से भारत में समाजवादी ढाँचा, राज्य का लक्ष्य बना है, तब से अरबों रुपयों के लिये देश, विदेशियों का ऋणी हो गया है।

अभी तक तो यह कहा जा रहा है कि देश में उद्योग-धंधों की वृद्धि होने पर देश इस ऋण को चुकाने के योग्य हो जायेगा। परन्तु इस युक्ति का थोथापन स्पष्ट होता जा रहा है।

हम विदेशों से लिया ऋण दो ढंग से ही चुका सकेंगे। एक तो अपने पास सोने-चाँदी के कोष (Reserves) में से। यह तो है नहीं। यदि होता तो 'नोट' सीमा से अधिक न छापे जाते।

दूसरे देश का कच्चा अथवा निर्मित (Manufactured) माल बाहर भेजने से देश में माल तो निर्मित हो रहा है, परन्तु एक तो यह इतना घटिया होता है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेशीय बाजार में चल नहीं सकेगा, दूसरे, मूल्य की दृष्टि से भी, हम अन्य देशों में बने माल का मुकाबिला नहीं कर सकेंगे।

भारत को इस दिशा में (कि देश का माल बेचकर ऋण चुकाया जा, सकेगा) जो भ्रम था, चीनी बाहर भेजने से कुछ तो दूर हुआ है। इंग्लैण्ड, जर्मनी और अमेरिका इत्यादि अन्य देश, जो टेक्निकल विद्या में भारत से अधिक उन्नत हैं, सुगमता से हम को मार्केट से बाहर कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में माल का मूल्य कम कर के बेचने के अर्थ होंगे देश के रहने वालों का पेट काटकर ऋण चुकाने का यत्न। यह भी सम्भव नहीं हो सकेगा। लोग भूखे मरने से पहिले देश में क्रान्ति कर सकते हैं।

यह सब, ऋण और कागज़ के अत्यधिक नोट किसी सीमा तक क्षम्य हो सकते थे, यदि निर्माण-कार्य की स्थापना सस्ते मूल्य पर हो पाती। यदि एक इमारत सरकार एक लाख में बना पाती है तो वैसी ही इमारत एक प्राईवेट व्यक्ति साठ-सत्तर हज़ार में तैयार कर देता है। यदि सरकार एक टन लोहा ६०० रुपये में तैयार कर सकती है तो व्यक्ति निजी रूप में उसको चार-पाँच सौ रुपये में तैयार कर लेता है। यही बात सब उद्योगों में है।

सरकार ने अखबारी कागज़ 'नेपा' का कारखाना लगाया है, किन्तु उसमें थर्ड क्लास कागज़, विलायती कागज से बहुत घटिया और अधिक मूल्य पर बना सकी है।

इसी प्रकार रिज़र्व बैंक की रिपोर्टों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि माल घटिया बना कर तथा महंगे दाम पर देकर भी सरकारी कारखानों में निजी उद्योग-धंधों से कम लाभ हो रहा है।

१९६० के आँकड़ों से यह पता चलता है १००१ प्राइवेट कम्पनियों के औसत लाभ की दर १०·५ प्रतिशत है। इसके मुकाबिले में सरकारी कम्पनियों के लाभ की दर ७·१७ प्रतिशत है। इसके साथ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सरकारी कारखानों और कम्पनियों का किसी से मुकाबिला नहीं अर्थात् प्रत्येक सरकारी कारखाने की अपने क्षेत्र में मोनोपली (एकाधिकार) है। लोगों को अनिवार्य रूप में कानून के अधीन, उन कारखानों में निर्मित वस्तुएँ खरीदनी ही पड़ती हैं।

जितना सरकार लाभ दिखा रही है, उससे अधिक तो प्राईवेट उद्योग वालों को रुपये पर व्याज देना पड़ता है। यदि कहीं सरकारी उद्योग और व्यवसाय को अपने-अपने क्षेत्र में एकाधिकार प्राप्त न हो तो निश्चय है कि सरकारी कम्पनियों के कब के दिवाले पिट गये होते।

कहने का अभिप्राय यह है कि समाजवाद के अधीन उद्योग-धंधों के राष्ट्रीयकरण से न तो माल सस्ता बन रहा है न ही बढ़िया। इससे हानि हो रही है। जनता को उसके परिश्रम का पूरा फल नहीं मिल रहा। एक क्लर्क ६ घंटे काम करके १३० रुपया वेतन पाता है, परन्तु उस १३० रुपये में, जो भी सरकारी कारखाने से बना माल खरीदने जायेगा, उस पर उसे कम-से-कम पचीस प्रतिशत अधिक मूल्य देना पड़ेगा। अर्थात् उसको अपने वेतन का लगभग चौथाई भाग व्यर्थ में देना पड़ता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि १३० रु० वेतन पाने वाले क्लर्क से ६ घंटे काम लेकर, साढ़े चार घंटे का वेतन दिया जा रहा है।

समाजवाद के इस सरकारी उद्योग तथा व्यापार क्षेत्र के विस्तार से अधिकाधिक लोग सरकारी नौकर होते जाते हैं। इसके साथ ही स्वतंत्र रूप से जीविका उपार्जन करने वालों की संख्या कम हो रही है। अभिप्राय यह कि देश में शूद्रों की वृद्धि हो रही है। एक सरकारी नौकर को वह स्वतंत्रता, राजनीति में, धर्म-कर्म के क्षेत्र में और अपनी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का उचित प्रयोग करने में, नहीं है जो एक स्वतंत्रता पूर्वक जीविकोपार्जन करने वाले को प्राप्त है।

इस प्रकार शूद्रों की इस देश में वृद्धि तो देश के मानसिक स्तर के उत्थान में भारी बाधक बन रही है।

मनु ने इस विषय में लिखा है—

यद्राष्ट्रं यद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम्
विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीड़ितम्।
मनु० अ० ८ श्लोक २२॥

जिस राष्ट्र में शूद्र और नास्तिक अधिक हों और द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) न हों, वह राज्य दुर्भिक्ष और व्याधि से पीड़ित नाश को प्राप्त होता है।

इसके साथ ही इसके पूर्ववर्ती श्लोक में मनु महाराज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिख गये हैं :—

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम्
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः।

जहाँ राजधर्म की व्यवस्था शूद्र करता है, उस राजा का राज्य उसके देखते ही देखते कीचड़ में फैली हुई गौ के समान नाश को प्राप्त होता है।

समाजवाद की सबसे बुरी बात, इसकी तानाशाही है। कुछ अंश तक तो, समाज-निर्माण के समय, व्यक्ति कुछ कर्त्तव्य समाज के करने के लिये नियत करता है। वह कर्त्तव्य सदा यह ही होता है कि व्यक्ति अपने अधिकारों का सीमोल्लंघन न कर सके। जबतक समाज व्यक्ति-व्यक्ति में सीमा बाँधने में संलग्न रहता है, वह अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। समाज यह कर्त्तव्य कभी बिरादरी अथवा पंचायत द्वारा सम्पन्न करता था और अब यह राज्य (शासन) द्वारा करता है। अब इस कार्य के लिये समाज पंचायतों का भी निर्माण कर रहा है। इससे अधिकारों की सीमा में अन्तर नहीं पड़ता।

जब समाज, अपने इस कर्त्तव्य का, अर्थात् यह देखने का कि कोई व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का भोग करते हुए कभी किसी दूसरे की स्वतंत्रता का हरण तो नहीं करता, पालन करता है, तब समाज में सुख और शान्ति स्थापित रहती है, परन्तु जब इस कर्त्तव्य का पालन करना छोड़ देता है और एतदर्थ प्रबन्ध करने में असमर्थ हो जाता है, तब समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसके साथ ही जब समाज अपने इस अधिकार से अधिक अधिकारों का भोग करने लगता है, अर्थात् जब वह उन अधिकारों को, जो व्यक्ति ने समाज को नहीं दिये और अपने पास अपने भोग के लिये रखे हुए हैं, भी व्यक्ति से छीन लेता है और स्वयं भोग करने लगता है, तब मनुष्य की मानवता पर आघात पहुँचता है। मनुष्य अपने आप अपने कर्त्तव्य के पालन को भूल जाता है और अपने कर्त्तव्य पालन के लिये समाज की आज्ञा का मुख देखने लगता है। दूसरे शब्दों में वह मानवता से उतर कर पशु के स्तर पर आ जाता है।

मनुष्य पशु तो होता नहीं। वह पशु से भिन्न है और समाज का यह व्यवहार सदा और सब स्थितियों में सहन नहीं कर सकता और प्रथम अवसर पाते ही विद्रोह करता है। क्रान्ति हो जाती है और क्रान्ति कभी भी मानव का कल्याण करने वाली नहीं होती।

समाज व्यक्ति के अधिकारों को छीने तो वह समाज तानाशाह (dictatorship) कहाता है। भले ही समाज अपनी तानाशाही किसी जन्मजात राजा द्वारा चलाये, किसी नेता द्वारा चलवाये अथवा किसी तथाकथित प्रजातंत्रात्मक संस्था द्वारा चलवाये, होगी यह तानाशाही ही। राजा, नेता, अथवा संसद्, जो भी अपने अधिकारों को, अपने कर्त्तव्य के लिये आवश्यक अधिकारों से अधिक, भोग करता है, वह समाज में व्यवस्था की अपेक्षा दुर्व्यवस्था ही उत्पन्न करेंगे। मनुष्य के स्वतंत्र रहने के स्वभाव को पददलित कर कोई भी समाज शान्ति स्थापित नहीं कर सकता। यही कारण है कि तानाशाही सरकार चाहे वह किसी राजा की हो अथवा किसी नेता या किसी संसदादि संस्था की हो, कुछ अधिक काल तक स्थित नहीं रह सकती। यदि किसी मिथ्या भ्रम (illusion) के कारण यह कुछ अधिक काल तक स्थित रहती है तो इसका परिणाम, शासक वर्ग पर भी अति भयंकर होता है।

एक तानाशाही सरकार, व्यक्ति की आध्यात्मिक स्वतंत्रता, मानसिक स्वतंत्रता अथवा आर्थिक स्वतंत्रता को छीनने का प्रयास करती है। उसके लिये सबसे बड़ा प्रलोभन व्यक्ति की आर्थिक स्वतंत्रता को हड़प करना होता है। शासक वर्ग व्यक्ति की उपज पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर अपनी तानाशाही को अधिक और अधिक काल तक स्थापित रखने का यत्न करता है। एतदर्थ वह उस धन के बल से मानव अर्थात् व्यक्ति की मानसिक स्वतंत्रता और उसके द्वारा आध्यात्मिक स्वतंत्रता का हरण करता है।

ऐसा करने के लिये, आज के युग में, शासन शिक्षा को अपने अधीन करने का प्रथम प्रयास करता है। शिक्षा शासन के अधीन करने से वह व्यक्तियों को भ्रम में डालने का यत्न करता है कि शासन के वे विस्तृत अधिकार उसके पास होने चाहियें। इसी में व्यक्ति का कल्याण है। इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न करने के लिये शासक, राजा अथवा व्यक्ति यह भ्रम निर्माण करता है कि वह सर्वज्ञ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। विद्वान् लोग भी उसकी सर्वज्ञता को पहुँच नहीं सकते अथवा विद्वान् लोगों का, शासन के अधीन रहकर कार्य करने में ही उनका अथवा समाज का कल्याण है। इसी लिए वह दूसरा भ्रम यह उत्पन्न करना चाहता है कि आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं। अतएव अध्यात्म नाम की कोई वस्तु है ही नहीं।

यह मिथ्या-वाद चिरकाल तक चल नहीं सकता। मनुष्य में विद्यमान् मन और आत्मा इसके विपरीत विद्रोह करते हैं और वह विद्रोह शासक वर्ग के लिये भयंकर तो होता ही है, समाज को भी अपार हानि पहुँचाने वाला होता है।

शासक जब व्यक्ति के मन और आत्मा पर प्रभुत्व स्थापित करने का यत्न करता है, तो निस्सन्देह वह अपना यह कर्त्तव्य, कि उसे व्यक्ति-व्यक्ति में अधिकारों की सीमा को बाँधना है, भूल जाता है। वह स्वयं वे अधिकार भोगने लगता है जो एक व्यक्ति के अधिकार होते हैं। ये अधिकार वह अपने सेवकों द्वारा कार्यान्वित कराता है। तब वह अपने उन सेवकों में, जिनके द्वारा वह व्यक्ति से छीने हुए अधिकारों का भोग करता है, और जन साधारण में, जिनपर उन अधिकारों का प्रयोग होता है, न्याय अर्थात् अधिकारों की सीमा नहीं बांध सकता। वह स्वयं ही सीमा बाँधने वाला अर्थात् न्यायकर्त्ता है और स्वयं ही अधिकारों की सीमा उल्लंघन करने वाला अर्थात् अन्यायकर्त्ता होता है।

भारतीय मत स्पष्ट है कि शासक केवल दंडनीति का संचालक होता है। दंडनीति का अर्थ यह है कि वह सदा यह देखता रहे कि व्यक्ति-व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह और व्यक्ति परस्पर अपने-अपने अधिकारों का सीमोल्लंघन तो नहीं करते। जो करे उसको पकड़ कर उसके इस अपराध के लिये उसे दंड दे।

मनुस्मृति में राजा के कर्त्तव्यों के विषय में लिखा है :—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥
दण्डः शास्ति प्रजा सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥

मनुः अध्यय ७, श्लोक १७, १८

संसार में दण्ड (शासन) ही राजा है। दण्ड धारण करने के कारण ही राजा पुरुष (परमात्मा) है। यह ही चारों आश्रमों (वर्णाश्रमों) में धर्म को स्थापित करने वाला है। (धर्म के अर्थ कर्त्तव्याकर्त्तव्य के हैं।)

दंड सब पर शासन करता है और सबकी रक्षा करता है। जन साधारण के सोये हुए अथवा जागते हुए दंड प्राणियों की रक्षा करता है। यही धर्म के नाम से विख्यात है।

और भी लिखा है—

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥

मनु० अ० ७ श्लोक १४॥

राजा द्वारा सब कार्य सत्य तथा न्याय युक्त करने के लिए तथा जीवों के रक्षार्थ परमात्मा ने दंड का विधान किया है।

शासन कभी भी मनुष्य की मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता को छीनने वाला नहीं हो सकता। यह मनुष्य-मनुष्य में न्याय करने के लिए ही निर्माण हुआ है। ऐसा शासन ही दंड है।

जब दंड स्वयं व्यक्तियों के पूर्णाधिकारों को भोग करने वाला हो जायेगा, तब वह न्याय किस पर करेगा? क्या अपराधी स्वयं अपने पर न्यायकर्त्ता हो सकता है?

भारतीय समाज शास्त्र व्यक्ति और समाज के अधिकारों की सीमाएँ निर्धारित करता है। पूर्ण स्वतंत्रता व्यक्ति में रहती है। जब व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का भोग करते हुए दूसरों की स्वतंत्रता को छीनने लगता है, तो शासन दंड के रूप में उपस्थित हो दोनों को अपनी-अपनी सीमा रखने के लिए दंडनीति चलाता है।

सूचना

धार्मिक एवं सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक तथा अन्य समस्याओं पर शुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से विवेचना प्रस्तुत करने का प्रयास शाश्वत-वाणी के माध्यम से किया जा रहा है। इसमें आपके पूर्ण सहयोग की आकांक्षा है। पढ़िये, मनन कीजिए एवं अपनी शंकाएँ प्रस्तुत कीजिए। हम उनके समाधान का प्रयत्न करेंगे।

—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे प्रकाशन

सभ्यता की ओर ३.००

भाग्य रेखा ३.००

श्री गुरुदत्त के दो सामाजिक उपन्यास पहली बार पुस्तकालय संस्करण म अत्यन्त ही आकर्षक रूपरखा।

तारों से पूछिए ५.००

विद्यार्थी समाज की स्वच्छन्दता पर आधारित श्री उमाशंकर का रोचक उपन्यास।

झरोखे ५.००

श्री श्रीराम शर्मा 'राम' रचित एक संघर्षरत नारी की कथा।

आग पानी और तूफान ४.००

डा० यतीन्द्र का मनोविज्ञान और समाज शास्त्र पर आधारित एक ऐतिहासिक उपन्यास।

टूटा व्यक्तित्व २.५०

श्री मनहर चौहान द्वारा नवीन शैली में प्रस्तुत एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास।

संसार की तेरह श्रेष्ठ कहानियाँ ३.००

सम्पादक : श्री गोपाल शेखरन्

हमारा किशोर साहित्य

गढ़मण्डल की रानी २.००

ले० श्री उमाशंकर

रानी दुर्गावती के शौर्यपूर्ण जीवन पर आधारित

बाजीराव पेशवा २.००

ले० श्री उमाशंकर

वीर बाजीराव पेशवा के प्रेरणादायक जीवन पर आधारित

भारत के साहसी वीरों की गाथाएँ २.५०

ले० धर्मपाल शास्त्री

देश देश की परियाँ भारत आईं २.००

ले० मनहर चौहान

खूब लड़ी मर्दानी २.००

ले० मनहर चौहान

महारानी लक्ष्मीबाई के वीरतापूर्ण जीवन पर आधारित

इन प्रकाशनों की विशेषता

- बहुरंगे आवरण पृष्ठ
- आकर्षक छपाई
- रोचक सामग्री
- मनोहारी रूप सज्जा
- सुदृढ़ जिल्द
- किसी भी पुस्तकालय की शोभा

उमेश प्रकाशन

५, नाथ मार्केट, नई सड़क दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वविश्रुत महान् मनीषी एवं दार्शनिक
भारत के उपराष्ट्रपति महोदय

सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन्

के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के
पूर्ण और प्रामाणिक सरल हिन्दी अनुवाद

डा० राधाकृष्णन् के विचारों पर मनन और उनके अध्ययन की जितनी आवश्यकता आज के त्रस्त मानव को है, उतनी पहले कभी न थी।
—बर्ट्रेण्ड रशल

पूर्व और पश्चिम कुछ विचार

(EAST & WEST SOME REFLECTIONS)
मूल्य : ५.००

धर्म और समाज

(RELIGION & SOCIETY)
मूल्य ८.००

राजपाल एण्ड सन्ज
कश्मीरी गेट, दिल्ली-६
द्वारा
प्रकाशित

नये वर्ष के नये प्रकाशन

मालवीय जी के लेख—
सम्पादक पं० पद्मकान्त मालवीय
भूमिका : राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ६.००

मालवीय जी - जीवन झलकियां—
सम्पादक पद्मकान्त मालवीय
मालवीय जी के दुर्लभ चित्रों के साथ मार्मिक संस्मरणों का संग्रह ८.००

अनुसंधान और आलोचना—डा० नगेन्द्र
मार्मिक आलोचना के १५ नये निबन्धों का संग्रह ४.००

लिच्छवियों के अंचल में—
डा० जगदीशचन्द्र जैन
पत्रों की मनोहर शैली में अनोखा सन्दर्भ ग्रन्थ ८.००

घर की बात—प्रेमनाथ दर
प्रतिष्ठित साहित्यकार का निराला सामाजिक नाटक १.५०

अन्तराल की लहरें—मू० ले० आइजक ऐसिमोव, अनु० स्वर्णलता भूषण
रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक उपन्यास ५.००

नया आलोक, नई छाया—विराज एम.ए.
प्राचीन कथा प्रसंग
नये दृष्टिकोण से नई शैली में ३.००

हमारे देश की नदियां—
भूपेन्द्रनाथ सान्याल
४४ चित्रों के साथ नई सामग्री २.५०

भोजन और स्वास्थ्य—डा० जी० एस० सहारिया और श्रीमती ए०के० सहारिया
स्वास्थ्य विषयक अनुपम पुस्तक ३.००

नैशनल पब्लिशिंग हाउस

कार्यालय—२६-ए, चन्द्रलोक, जवाहर नगर, दिल्ली-६ बिक्री केन्द्र—नई सड़क, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज का भारतीय ढांचा

भारतीय संस्कृति परिषद् की गोष्ठियों में कई वार विचार-विनिमय के उपरान्त अंग्रेज़ी में एक पत्रक (Bharatiya Pattern of Society) प्रकाशित किया गया था। वह पत्रक विचारोत्पादक एवं प्रेरणात्मक सिद्ध हुआ तथा उसके हिन्दी में अनुवाद की आवश्यकता को अनुभव किया गया। प्रस्तुत लेख उसका संशोधित एवं परिवर्द्धित अनुवाद है। —सम्पादक

भारत में एक बहुत बड़ा ऐसा जन समूह है, जो देश में ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जिसका आधार भारतीयता हो। 'भारतीय जनसंघ' और 'हिन्दू महासभा' दो राजनीतिक दल भी ऐसे हैं जो भारत में भारतीयता के आधार पर समाज का निर्माण करना चाहते हैं।

भारतीयता के आधार पर समाज का निर्माण एक समाघोष-मात्र नहीं है। समाज के ऐसे ढांचे की एक स्पष्ट और निश्चित रूपरेखा है। दुर्भाग्य से भारत में मुसलमानी राज्य, अंग्रेजी शासन और अनेकानेक खिलौने राज्य जो विदेशियों ने निर्माण किये थे, अनेकों अन्य ढाँचे निर्माण कर गये हैं, और भारतीय समाज का ढाँचा, जन-साधारण के मन में धुंधला पड़ता जाता है। इस देश की पढ़ी-लिखी जनता तो, जिसने पश्चिमी लेखकों द्वारा लिखित भारत का इतिहास पढ़ा है, उस ढाँचे को सबसे पहिले भूली है।

समाज के भारतीय ढाँचे की रूपरेखा, जो नीचे दी जा रही है, केवल संक्षेप में ही है। विस्तृत विवरण के लिये न तो यहाँ स्थान है और न समय ही। समय-समय पर परिस्थितियों के अनुसार इस ढाँचे का विस्तार न्यूनाधिक होता रहेगा। इस पर भी सिद्धान्त यही होंगे और इस दृष्टि से यह रूपरेखा पर्याप्त स्पष्ट है। समाज के भारतीय ढाँचे में किस प्रकार की व्यवस्था होगी, उसका स्पष्ट दर्शन इससे हो सकेगा।

वर्तमान अवस्था

भारतीय संसद् ने, जिसमें इस समय कांग्रेस दल का स्पष्ट और कठोर बहुमत है, यह निश्चय किया है कि 'समाजवादी' ढाँचा इस देश के समाज पर ठोंस दिया जाये। इसका नाम इन्होंने (Socialistic Pattern of Society) रखा है। जब यह ढाँचा पूर्ण हो जायेगा तब उस समाज की रूपरेखा कैसी होगी, इसे स्पष्ट नहीं किया गया। इसपर भी जो कुछ अभी तक दिखाई दिया है, उससे हम स्पष्ट रूप से जान सकते है कि निकट भविष्य में क्या होने वाला है। कांग्रेस के प्रस्तावों की साधारण दिशा, कांग्रेस और भारत सरकार के सर्वेसर्वा पंडित जवाहरलाल के वक्तव्य, एवं भारत सरकार के नित्य के काम, ऐसे हैं कि किसी को भी संदेह में रहने के लिए स्थान नहीं रहा।

प्रवृत्ति, निश्चित रूप में समाजवाद की ओर है और "social" शब्द के उपरान्त "istic" पूंछ अर्थहीन होती जाती है। परिवहन-व्यवसाय तथा बीमा-कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण, उद्योग क्षेत्र और व्यापार क्षेत्र में सरकारी क्षेत्र का अंधा धुंध प्रसार, भूमि और आय पर उच्च सीमाओं का बाँधना, अनाज के व्यापार तथा अन्य काम धंधों में राज्य का एकाधिकार (monopoly), संयुक्त खेती-बाड़ी तथा कृषि सहकारी-समितियों पर बल तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य सरकार की नियत का स्पष्ट दर्शन कराते हैं कि यह Socialistic Pattern क्या होने वाला है। यह शब्द सरलचित्त जनता को भ्रम में डालने के लिए है। धोखा धड़ी से देश को कम्यूनिस्ट प्रकार के एकाधिकार में लाने का उद्देश्य है।

अतः यह अत्यावश्यक हो गया है कि जनता के समक्ष समाज का भारतीय ढाँचा उपस्थित किया जाये। यहाँ हम कम्यूनिस्ट ढाँचे को रद्द करने के कारणों का उल्लेख करना नही चाहते। वे कारण स्पष्ट हैं। यहाँ तो हम केवल वह ढाँचा ही प्रस्तुत करना चाहते हैं जो हमारे विचार में अपने देश में वर्तमान अथवा इस वर्तमान से भविष्य के लिए बनने वाले ढाँचे से सब प्रकार से श्रेष्ठ है।

भारतीय ढाँचे में लोक-कल्याण (Public Welfare) की भावना तो निहित है ही। इसमें लोककल्याण से बहुत कुछ अधिक भी सम्मिलित है। इसका आधार धर्म की भावना है, जो केवल कल्याण की भावना से कहीं बड़ी है। एक विचार से इस ढाँचे को ही युक्ति युक्त ढाँचा कहा जा सकता है। युक्ति, भली-भाँति स्पष्ट होने से और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भौतिकवाद, जैसा समाजवादियों में विख्यात है, से भिन्न होने से मानव का एक व्यापक गुण बन जाता है, जिसको धर्म कहते हैं ।

हम आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि धर्म के अर्थ पंथ, मत (religion) इत्यादि नहीं हैं । हमारी परम्परा में यह शब्द इन अर्थों में कभी प्रयुक्त नहीं हुआ । धर्म एक आदर्श विश्वासों और व्यवहार का नाम है, जिनसे एक व्यक्ति, व्यक्ति समूह अथवा समाज अपना पूर्ण विकास और सर्व श्रेष्ठ भलाई प्राप्त कर सकता है ।

धर्म के ढांचे पर निर्मित समाज, स्पष्ट है कि, ऐसी कठोर चौखट नहीं हो सकती जिसमें समाज के सदस्य एक अस्वाभाविक, अनिच्छित, अयोग्य और बौने रूप में जकड़ दिये जायें और वे मूक पशुओं की भाँति हांके जायें ।

वास्तविक मानव, मानव भावनाओं से परिपूर्ण, जिन का आधार युक्ति युक्त विचार और व्यवहार हो, इस ढांचे में निर्माण हों । यह भारतीय ढाँचे का उद्देश्य है । समाजवादी ढांचे में, जो एक कठोर चौखट मात्र है और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्यतया रहना होता है, निरे पशु ही निर्माण होते हैं, जो दूसरों के आदेश पर सोते-जागते अथवा कार्य करते हैं, और इच्छारहित पशुओं की भाँति जीवन व्यतीत करते हैं ।

सर्व प्रथम, भारतीय समाज के ढाँचे की स्पष्ट व्याख्या व्यक्ति और समाज के अधिकारों में रेखा खींचना है । यह रेखा बिना सर्वसम्मति के बदली अथवा छोटी-मोटी नहीं की जा सकती । यह एक प्रकार का वचन है जो कोई भी दल, भले ही वह बहुत बड़ा हो, भंग नहीं कर सकता ।

अधिकारों का उल्लेख करते हुए हम विश्वासों और विचारों की स्वतंत्रता को सर्वाधिक प्रधानता देते हैं । हम तब ही स्वतंत्र होते हैं जब हमारा बाहिरी व्यवहार हमारे आभ्यन्तरिक विश्वासों से स्वाभाविक रूप में स्रवित होता है । इसका युक्ति-युक्त परिणाम है अपने विश्वासों और विचारों को स्वतंत्रता से प्रसारित करने का अधिकार रखना । जब भी कोई सरकार अथवा बहुसंख्यक दल विश्वास और विचार स्वातन्त्र्य छीनना चाहती है, निस्सन्देह यह उस वचन को भंग करती है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विषय में है । इसी प्रकार कोई सरकार (अथवा बहुसंख्यक दल) बिना दूसरों को समझाये अपने विचार और विश्वास उन पर थोप नहीं सकती । समाज का धार्मिक ढाँचा बलपूर्वक व्यक्ति के विश्वासों और उनके विश्वासों की स्वतन्त्रता की सीमा निर्धारित नहीं कर सकता ।

इन अधिकारों की केवल एक ही सीमा है । वह यह कि ये अधिकार किसी दूसरे के वैसे ही अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते ।

काम-धंधे तथा व्यवसाय की स्वतंत्रता में भी यही सिद्धान्त, जो ऊपर लिखा गया है, कार्य करता है । समाज के धार्मिक ढांचे में प्रत्येक व्यक्ति कोई भी काम-धंधा अथवा व्यवसाय जो वह पसन्द करता है, करने में स्वतंत्र है ।

जो कुछ ऊपर कहा गया है, वह स्वेच्छा से कोई दल तथा संस्था बनाने में बाधक नहीं होता, परन्तु ऐसे सब दलों अथवा संस्थाओं को अपने सदस्यों को विश्वासों, विचारों, काम-धंधों और व्यवसाओं की स्वतंत्रता का आश्वासन देना होगा । इसका यह अर्थ है कि ऐसे दलों को अपने सदस्यों में मतों की विभिन्नता की स्वतंत्रता देनी होगी । साथ ही उनको नवीन दल अथवा संस्था बनाने की भी स्वतंत्रता होगी ।

नित्य के जीवन में भी अपने विश्वासों और मति के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता भी उक्त सिद्धान्त के अनुसार चलेगी । एक व्यक्ति को अपने ढंग से जीवन व्यतीत करने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी । शर्त यह है कि वह किसी दूसरे व्यक्ति अथवा दल की वैसी ही स्वतंत्रता में बाधक नहीं होगा । पूर्ण स्वतंत्रता, दूसरों की स्वतंत्रता के साथ-साथ, का सिद्धान्त निम्न दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा ।

एक समय था जब कुछ व्यक्ति यह माँग करते थे कि मस्जि़दों के सामने बाजा न बजाया जाये । दूसरे शब्दों में इस विचार के व्यक्तियों के पूजा-पाठ को शान्ति से कर सकने का अधिकार सुरक्षित किया जाय । बिना किसी प्रकार की विघ्न बाधा के पूजा-पाठ के अधिकार की रक्षा होनी ही चाहिए । यह प्रत्येक व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को मिलनी ही चाहिए, भले ही वह समूह बहुत छोटा हो। इसपर भी, यह अधिकार उस सिद्धान्त से नियंत्रित होगा, जो ऊपर वर्णन किया गया है। यदि मस्जिद सार्वजनिक मार्ग पर बनी हो, तो क्या इस मस्जिद में जाकर प्रार्थना करने वाला कह सकता है कि उस सार्वजनिक-मार्ग पर हल्ला-गुल्ला बंद किया जाये, क्योंकि उसे नमाज़ पढ़नी है? क्या वह उस मार्ग पर आने-जाने वालों के अधिकार में बाधक नहीं बन रहा? अर्थात् एक सार्वजनिक मार्ग पर बनी मस्जिद में जाकर नमाज़ पढ़ने वाला यह नहीं कह सकता कि नमाज़ के समय किसी भी प्रकार के आने-जाने वाले के लिए मार्ग बन्द कर दिया जाय। यदि वह अपनी नमाज़ के अधिकार की रक्षा चाहता है तो उसको किसी दूसरे के अधिकार में हस्तक्षेप न करने के लिए, या तो नमाज़ किसी ऐसी मस्जिद में जाकर पढ़नी चाहिये जो सार्वजनिक मार्ग से दूर हो अथवा ऐसे समय पर पढ़नी चाहिये जब सार्वजनिक मार्ग पर आने-जाने वाले न हों।

आर्थिक व्यवस्था में भी उक्त सिद्धान्त का प्रयोग होना चाहिये। मान लीजिए एक व्यक्ति कपड़ा सीने की मशीनें बना रहा है। यह उसका अधिकार है, परन्तु उसका यह अधिकार नहीं कि वह किसी दूसरे को यह कहे कि वह उन मशीनों के बनाने का कारखाना न खोले अथवा बनाने वाला बनानी बंद कर दे। दूसरे शब्दों में किसी भी कार्य में, किसी व्यक्ति, व्यक्ति समूह अथवा राज्य के लिए भी, एकाधिकार (Monopoly) बनाना दूसरों के अधिकारों पर छापा डालने के समान होगा।

युक्तियुक्त अर्थात् धर्म के आधार पर निर्मित समाज का ढाँचा समाजवादी ढाँचे के आधार के ही विपरीत है। समाजवाद, जैसा कि कम्युनिस्ट देशों में समझा जाता है कि कोई व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह, जो विचार, विश्वास और कार्य पर एकाधिकार (Monopoly) प्राप्त किये हुए है, तब इस एकाधिकार प्राप्त किए व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी को भी विचार करने, विचार का प्रचार करने अथवा उस विचार पर कार्य करने की स्वीकृति नहीं होती।

राष्ट्रीयकरण इस एकाधिकार का दूसरा नाम है जो सरकार प्राप्त कर लेती है। इस पर भी उक्त सिद्धान्त को लागू करना चाहिये। सब राष्ट्रीयकरण वाले क्षेत्रों में सरकार व्यक्तियों के उस क्षेत्र में कार्य करने के अधिकार को छीन लेती है।

धर्म के आधार पर निर्मित समाज के ढाँचे में संस्कृति, तथा अध्यात्म के क्षेत्र में भी उक्त सिद्धान्त का पालन होगा। संगठन की तथा जिससे जो चाहे, राय करने की स्वतन्त्रता होगी। इसी प्रकार पूजा-पाठ की विधि और स्थान की स्वतन्त्रता होगी। इसके परिणाम में विचार और विश्वास बदलने की भी स्वतंत्रता होगी। संक्षेप में प्रत्येक व्यक्ति को विचार करने, प्रचार करने और पूजा-पाठादि का कार्य करने की स्वतंत्रता होगी, शर्त यही है कि उसको किसी दूसरे की किसी प्रकार की भी स्वतंत्रता छीनने का अधिकार नहीं होगा।

राज्य

प्रत्येक समाज में व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह के अधिकारों पर सीमा, जैसी ऊपर वर्णन की है, निर्धारित करना आवश्यक है। इस कार्य के लिए शासन की आवश्यकता होती है।

यह शासन किसी धार्मिक समाज में समाजवादी समाज से भिन्न प्रकार का होगा। धार्मिक समाज में उस सीमा के निर्धारण के लिए शासन बनाया जायेगा, जिससे कोई व्यक्ति अथवा समूह दूसरों के उचित अधिकारों को मिटा न सके।

समाजवादी समाज का शासन तो अपने विचार, अपने विश्वास और अपने कार्य, बलपूर्वक जनता पर थोपता है। ऐसी अवस्था में वह स्वयं एक पक्ष बन जाता है और दूसरों के अधिकारों का संरक्षक अथवा उनपर सीमा निर्धारण करने का यन्त्र नहीं रह जाता।

अतः एक धार्मिक ढाँचे के समाज में शासन के पास आर्थिक, मानसिक और आत्मिक क्षेत्रों में विचार और व्यवहार पर नियंत्रण का एकाधिकार नहीं होना चाहिये। शासन तो दूसरों की स्वतंत्रता पर सीमा बाँधने के लिए बनाया जाता है। यदि यह स्वयं भी उस स्वतन्त्रता का भोक्ता हो, जिस पर सीमा बाँधने के लिए वह बनाया गया है, तो यह अपना कार्य कैसे कर सकेगा? वह संस्था जो उद्योगपति हो, जो शिक्षा संस्थाएँ चलाये,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंदिर तथा मस्जिदों का संचालन करे, अथवा व्यापार और व्यवसाय करती हो, शासक कैसे हो सकती है ? यदि ऐसा हुआ तो जन-जन की विचार, विश्वास और व्यवहार की स्वतन्त्रता नहीं रहेगी।

राज्य का निर्माण जनता पर शासन करने के लिए किया गया है। अतः एक संस्था कैसे शासक और शासित, दोनों एक साथ ही हो सकती है ? एक व्यक्ति अपराधी और न्यायकर्त्ता दोनों एक ही समय में नहीं हो सकता। धार्मिक ढांचे के समाज में जनता के अधिकार एक ऐसी संस्था द्वारा रक्षित होने चाहियें, जो स्वयं उन अधिकारों में जनता के मुकाबिले में न हो।

अतः धार्मिक ढाँचे के समाज के चार अंग होने चाहियें :—(१) प्रजा, (२) विचारक, (३) शासक और (४) न्यायकर्त्ता।

समाज का एक बहुत बड़ा अंश प्रजा होगी। वास्तव में यह ही मुख्य रूप में समाज होगा। इसी के हित में अन्य तीनों अंश कार्य करेंगे। और इसी में से उन तीनों अंशों के लोग प्राप्त किये जायेंगे। किसी भी स्वतन्त्र समाज में शासक, विचारक और न्यायकर्त्ता प्रजा के बाहर से नहीं आ सकते।

प्रजा की सेवा के लिए, प्रजा के प्रतिनिधि द्वारा शासक, नियुक्त किये जायेंगे। वह प्रतिनिधि जीवन भर के लिए राजा भी हो सकता है। अथवा किसी निश्चित काल के लिए राष्ट्रपति हो सकता है। वह ही देश का मुख्य शासक होगा।

शासक वर्ग के, अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए, कुछ अधिकार होंगे। इन अधिकारों को देने वाली प्रजा है। अतः शासन को प्रजा के अधीन रखने के लिए मुख्य शासक का वयस्क व्यक्तियों के मतों द्वारा समय-समय पर निर्वाचन होना चाहिये। मुख्य शासक के व्यवहार को ठीक और धर्मयुक्त बनाने के लिए उसको सब लाभ के कामों से पृथक् रखना चाहिए।

धार्मिक ढाँचे के समाज का दूसरा अंग विचारक हैं। विस्तृत-रूप में यह अंग समाज का शिक्षा विभाग होगा। इसमें वे सब लोग सम्मिलित होंगे, जो किसी भी ढंग से, प्रजा के विचारों के निर्माण में लगे होंगे। एक प्रारम्भिक पाठशाला के अध्यापक से लेकर विश्वविद्यालय के कुलपति तक और पुजारी, मुल्ला, पादरी इत्यादि भी इसी अंग में माने जायेंगे। इस रूप में काम करने वाले लोग वे हैं जिनको प्राचीन भारतीय समाज में ब्राह्मण माना जाता था।

स्वाभाविक रूप में समाज के इस अंग के लिए लगभग पूर्ण स्वतन्त्रता अत्यावश्यक है। इसका नियंत्रण मुख्यतः विश्वविद्यालयों के अधीन होगा। विश्वविद्यालय को धन राज्य तथा जनता से दान-दक्षिणा द्वारा मिलेगा, परन्तु न तो राज्य और न ही दानी महानुभाव इसके शिक्षा-कार्य में हस्तक्षेप करेंगे। शिक्षा कैसी हो और किसको कितनी दी जाय, इसका निर्णय विश्वविद्यालय ही कर सकेंगे और पाठशालाएं, विद्यालय तथा महाविद्यालय इनके ही नियन्त्रण में होंगे।

विश्वविद्यालयों की शिक्षा किसी प्रकार की भी नौकरी पाने का अधिकार प्रदान नहीं करेगी। शासन एवं न्याय-विभाग में विभागीय परीक्षाओं और इस कार्य के निमित्त निर्मित आयोगों द्वारा कर्मचारी नियुक्त होंगे।

औद्योगिक और व्यावसायिक-शिक्षा विश्वविद्यालयों के अधीन नहीं होगी। इस शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य और उद्योगों तथा व्यवसायों की समितियों (Giulds of Traders and Manufacturers) पर होगा।

समाज का विचारक अंग मानव मन को ज्ञान प्रदान करने के लिए होगा। अतः यह स्वाभाविक है कि इस कार्य के लिए उपाय और ढंग, संस्था-संस्था और शिक्षक-शिक्षक के मन और रुचि पर निर्भर होंगे।

धार्मिक समाज का तृतीय अंग होगा शासन विभाग। इसके दो उप-विभाग होंगे। एक धर्म संस्थान (Legislative Department) और दूसरा शासन (Administration)।

शासन और धर्म-संस्थान पृथक्-पृथक् हैं। धर्म-संस्थान अथवा धर्म-सभा समाज के विचारक अंग का प्रतिनिधि होना चाहिये। इनका जनसाधारण द्वारा निर्वाचित होना सर्वथा अयुक्तिसंगत समझा जाना चाहिए।

धर्मशास्त्री (Legislators) वे लोग हो सकते हैं जो समाज को विचारों के प्रवाह के साथ-साथ चला सकें। इनको ऐसे नियम-उपनियम बनाने होते हैं, जो समाज के घटकों के व्यवहार को धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष की प्राप्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए मार्ग-दर्शन कर सकें। ऐसा काम विद्वान्, चरित्रवान तथा दूरदर्शी लोग ही कर सकते हैं। वयस्क निर्वाचन क्षेत्र से ऐसे लोग चुने जाने सम्भव नहीं। इनके निर्वाचन का मताधिकार केवल पढ़े-लिखे विद्वानों को ही हो सकता है। धर्म-सभा के सदस्यों के निर्वाचन के लिए मतदाता विश्वविद्यालय से प्राप्त शिक्षाधारी और समाज में उपकारी कार्य में संलग्न व्यक्ति ही हो सकता है। साथ ही सभा की सदस्यता का प्रत्याशी तो मतदाताओं से भी अधिक योग्यता और अधिक अनुभव का व्यक्ति हो सकेगा। यह उपविभाग न तो शासन का कार्य कर सकेगा, न ही यह शासक के अधीन होगा।

शासन उप-विभाग राष्ट्रपति के अधीन होगा। यह वयस्क घटकों के मत से निर्वाचित होगा, परन्तु यह कार्य करेगा धर्म सभा की व्यवस्थाओं के अनुसार। राष्ट्रपति किसी व्यवस्था को धर्मसभा से स्वीकार कराने के लिए अपने उच्च पद का प्रयोग नहीं कर सकेगा। मुख्य शासक और उसका विभाग धर्मव्यवस्था देने वाले विभाग (Legislative Department) से सर्वथा पृथक् होगा। धर्मसभा व्यवस्था निश्चित करेगी और शासन उस व्यवस्था के अनुसार कार्य करेगा।

शासन को किसी व्यवस्था के चलाने में यदि असुविधा होगी तो मुख्य शासक उसका विवरण धर्मसभा के अध्यक्ष के पास लिखकर देगा और धर्मसभा में उस असुविधा को उपस्थित कर निर्णय लेना होगा।

यह सम्भावना उपस्थित हो सकती है कि शासन धर्मसभा की व्यवस्था के अनुसार कार्य न करे। यह सम्भावना भी हो सकती है कि शासन किसी व्यवस्था का अर्थ धर्मसभा से भिन्न लगाये। यह भी सम्भव है कि एक घटक किसी व्यवस्था के प्रतिकूल व्यवहार करे अथवा किसी व्यवस्था के अर्थ ही भिन्न लगाये। इसमें उचितानुचित का निर्णय करने के लिए एक स्वतन्त्र न्याय संस्थान (Law Department) हो। इस विभाग के अधीन सब प्रकार के न्यायालय होंगे। न्यायकर्त्ताओं और न्याय विभाग के अधिकारियों की नियुक्ति, न्याय आयोग (Judicial Service Commission) के द्वारा होगी, जो विश्वविद्यालय के न्याय के स्नातकों (Law Graduates) में से ही नियुक्त किये जावेंगे।

समाज के इस अंग का कार्य यह देखना होगा कि समाज के सब अंग शासन, धर्मसभा तथा प्रजा, नियमों तथा व्यवस्थाओं का पालन करते हैं अथवा नहीं। शासन विभाग की भाँति समाज का यह अंग भी लाभकारी कार्यों में भाग नहीं ले सकेगा।

राष्ट्रपति देश के भिन्न-भिन्न राज्यों में उप-शासक नियुक्त करेगा और वे अपने-अपने राज्य में शासन का उत्तरदायित्व लेंगे।

विभिन्न राज्यों में पृथक्-पृथक् धर्म-सभा (Legislative Bodies) हो सकती हैं और नहीं भी हो सकतीं। यदि होंगी तो देश की और राज्यों की धर्मसभाओं के कार्य-क्षेत्र विभिन्न होंगे। प्रत्येक अवस्था में धर्मसभाएँ शासन से पृथक् रहेंगी और उनका निर्वाचन विश्वविद्यालय के, उपयोगी कार्यों में संलग्न, स्नातकों द्वारा ही होगा।

समाज का ढाँचा पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक कि इसमें सेना अर्थात् क्षत्रियवर्ग को एक मानयुक्त स्थान प्राप्त न हो। इस क्षत्रिय वर्ग का समाज में स्थान भी देश के विधान में उल्लिखित और निश्चित होना चाहिये। यह विभाग होगा तो राष्ट्रपति के अधीन ही, इस पर भी इसके कार्य, अधिकार और इसकी प्रतिष्ठा विधान में उल्लिखित एवं निश्चित होगी।

कर्तव्य

यह ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि एक व्यक्ति, व्यक्ति-समूह अथवा दल की स्वतंत्रता की सीमा का निर्धारण दूसरों की स्वतंत्रता का सम्मान करने से ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य सीमा भी सबकी स्वतंत्रता पर माननी होगी। यह उस कर्त्तव्य से उत्पन्न होती है जो राष्ट्र की राजनीतिक, सांस्कृतिक और आचार सम्बन्धी एकता के स्थिर रखने के लिए आवश्यक है। किसी व्यक्ति, व्यक्ति-समूह अथवा दल को राष्ट्र की एकता के विपरीत कहने अथवा करने का अधिकार नहीं होगा। इस दिशा में किया जाने वाला कोई भी कार्य राष्ट्र-द्रोह माना जायेगा।

राजनीतिक, सांस्कृतिक अथवा चारित्रिक ऐक्य समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का एक सुदृढ़ केन्द्र होगा। यह समाज को भंग किये बिना भंग नहीं हो सकेगा। जनता की सर्वसम्मति से अथवा युद्ध से ही इस केन्द्र को भंग किया जा सकेगा। धार्मिक समाज के ढाँचे में युद्ध एक विवशता की अवस्था होती है। यदि समाज के घटकों के विचार-निर्माण का कार्य स्वतंत्र विचार के व्यक्तियों (ब्राह्मण-विभाग) के अधीन रखा जायेगा और इसमें शासन हस्तक्षेप नहीं करेगा, तो युद्ध की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। युद्ध उसी अवस्था में सम्भव हुए हैं, जब शासन ने विचारक विभाग का कार्य अपने हाथ में ले लिया है।

राजनीतिक ऐक्य का अभिप्राय देश की उन भौगोलिक सीमाओं की स्थिरता से है जिसमें कोई समाज अर्थात् राष्ट्र रहता है। ये सीमाएँ अपरिवर्तनशील हैं।

सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक ऐक्य की रूप रेखा है :—

(१) विचार स्वतंत्रता।

(२) धर्म तथा विधान के लिए मान (Respect for Law & Order)।

(३) विद्वानों के लिए मान-युक्त स्थान।

(४) माता-पिता और गुरुजनों के लिए आदर।

(५) समाज की परम्पराओं और रीतियों के लिए आदर।

(६) समाज के साहित्य और संस्कृति के लिए आदर।

(७) समाज की स्वाभाविक व्यवस्थाओं (विवाहादि) के लिए आदर।

यह देश का विधान नहीं। यह तो समाज का ढाँचा है। समाज में ऐक्य तो देश के विधान से भी पवित्र वस्तु है। ऐक्य विधान का विषय भी नहीं। यह उससे कहीं ऊँचा है।

यह ढाँचा क्यों ?

समाज के भारतीय ढाँचे को प्रस्तुत करने में निम्न बातों का ध्यान रखा गया है। एक, भारतीय ढाँचा भारतीय समाज-शास्त्र के अनुकूल हो। दूसरे, यह भारत की वर्तमान परिस्थिति में उपयुक्त भी हो।

पहिले वर्तमान परिस्थिति का वर्णन करना ही युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। यह कहा जाता है कि भारतीयों को स्वराज्य प्राप्त हो गया है। परन्तु स्वराज्य के अर्थों पर विचार करने से विदित होगा कि अभी स्वराज्य प्राप्त नहीं हुआ, प्रत्युत यह तो कुछ और ही है।

स्वराज्य अर्थात् अपना राज्य कहने पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसका अपना ? कहने को तो यह कहा जा सकता है 'देश की जनता का अपना।' परन्तु देश में तो चोर, ठग, धूर्त, स्वार्थी, पागल, निर्बुद्धि, मूर्ख, अशिक्षित, अयोग्य, कृपण, दुर्जन, क्रूर, कपटी, दुराचारी, दुराग्रही, अनीतिमान इत्यादि अनेक अवगुणों वाले भी बसते हैं। क्या इनका राज्य स्वराज्य होगा अथवा वाञ्छित राज्य कहायेगा ?

देश में किसके राज्य को स्वराज्य कहेंगे, यह प्रश्न विचारणीय है। उक्त अनेकों अन्य अवगुणों एवं दुर्गुणों से युक्त मानवों के अतिरिक्त भारत की वर्तमान अवस्था में देश में वे लोग भी बस रहे हैं जिनके मन में देश तथा भारत के राष्ट्र के कल्याण की भावना नहीं है। अभी पन्द्रह वर्ष पूर्व भारत में भारी संख्या में ऐसे लोग भी थे जो अपना पृथक् देश और पृथक् राज्य चाहते थे। वे केवल देश और राज्य ही पृथक् नहीं चाहते थे प्रत्युत अपनी राज-नीति, मानव-व्यवहार और समाज-व्यवहार भी भिन्न ही रखना चाहते थे। हमारा आशय भारत के मुसलमानों से है। देश में दूसरे बसने वालों की रुचि अथवा इच्छा के विपरीत इनको पृथक् देश मिल गया परन्तु देश के नेताओं की अनभिज्ञता, अयोग्यता अथवा प्रमाद के कारण उस श्रेणी के बहुत से लोग इस देश में ही रह गये। ऐसे रह जाने वाले मुसलमानों की संख्या साढ़े चार करोड़ के लगभग थी। देश विभाजन के पूर्व इन साढ़े चार करोड़ मुसलमानों के विचार उनके विचारों से भिन्न थे क्या, जो पाकिस्तान वाले क्षेत्र में रहते थे अथवा पाकिस्तान चले गये हैं? प्रमाण और प्रत्यक्ष ज्ञान से यह सिद्ध होता है कि इन साढ़े चार करोड़ में से बहुत ही कम ऐसे थे, जो पृथक् देश, पृथक् राष्ट्र और पृथक् राज्य नहीं चाहते थे।

पाकिस्तान चाहने वाले राज्य पाने अथवा राज्य संचा-लन के कितने योग्य थे, यह पिछले पन्द्रह वर्ष के पाकिस्तान के राज्य-संचालन से सर्वविदित ही है। इतने लम्बे काल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में वे अपना संविधान भी निर्माण नहीं कर सके। वहाँ दो वर्ष से अधिक स्थायी कोई मंत्रि-मंडल नहीं बन सका और अंत में वहाँ सैनिक राज्य होकर ही रहा।

पाकिस्तान चाहने वालों की अयोग्यता, अशिष्टता और बर्बरता का प्रमाण पाकिस्तान में कादियानी-पंथ वालों पर अत्याचार, और गैरमुसलमानों को द्वितीय श्रेणी की नागरिता प्रदान करने और अपने पड़ोसी भारत राज्य के साथ बार-बार वचन-भंग करने से मिलता है।

इसी श्रेणी के साढ़े चार करोड़ लोगों का भारत में निवास है। इस बात का किसी के पास प्रमाण नहीं कि इनके आचार-विचार और मान्यताओं में पाकिस्तानी मुसलमानों से विभिन्नता है। यदि कुछ प्रमाण हैं तो वे इसके विपरीत ही हैं। अतः हमारा स्पष्ट प्रश्न है कि भारत में स्वराज्य के अर्थ इस श्रेणी के लोगों के राज्य से भी हैं क्या ?

हम यह मान भी लेते हैं कि स्वराज्य कोई पुरस्कार नहीं है जो उनको मिला है जिन्होंने इसके लिए प्रयास किया है अथवा जिन्होंने इसके लिए त्याग और तपस्या की है। स्वराज्य का भोग केवल उनका अधिकार मानने से, जिन्होंने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए प्रयास किया था, हम ऐसे विवाद में पड़ जायेंगे जो अनन्त हो जायेगा। परन्तु स्वराज्य का भोग उनके लिए कैसे मान्य हो सकता है जिन्होंने भारत के भीतर न रहना, न राज्य प्राप्त करना और न वहाँ का राष्ट्रीय बनना स्वीकार किया हो ? यह दूसरी परिस्थिति है जो देश में व्याप्त है।

तीसरी परिस्थिति देश में अंग्रेजी राज्य-काल की शिक्षा-प्रणाली ने उत्पन्न की है। इस शिक्षा-प्रणाली ने एक ओर तो शिक्षा को मानव के हितार्थ न मानकर इसको राज्य-सत्ता के हित की वस्तु मान लिया है। अंग्रेजी शासन-काल में यह शिक्षा, शिक्षितों को अंग्रेजी शासन, अंग्रेजी व्यवहार और अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य के उपासक निर्माण करने के लिए बनी थी। उस काल में इस शिक्षा ने भारतीय मन पर अपार प्रभुत्व जमा लिया था। यहाँ तक कि देश के धर्म तथा शास्त्र के ज्ञाता भी भारतीय धर्म-शास्त्र की श्रेष्ठता का प्रमाण अंग्रेजी तथा यूरोपीय भाषा तथा लेखकों की पुस्तकों में ढूंढ़ने लगे थे। उपनिषद् जैसी पुस्तकों की महानता को प्रकट करने के लिए इन ग्रन्थों के प्रमाणों की आवश्यकता न मान इनके विषय में शोपन-हावर तथा मैक्समूलर के कथन की आवश्यकता अनुभव करने लगे थे। भारतीय दर्शन-शास्त्र पर डाक्टर की उपाधि प्राप्त करने के लिए लेख भी अंग्रेजी भाषा में ही लिखे जाने लगे थे। देश की अँग्रेजी पढ़ी-लिखी जनता तो शिक्षित कहाने लगी और शेष अशिक्षित। यही शिक्षा और इस शिक्षा से विभूषित लोग स्वराज्य-प्राप्ति के अनन्तर यहाँ अध्यापक और राज्याधिकारी बने हैं। यही कारण है कि यहाँ का विधान भी बना तो अंग्रेजी विधान की प्रतिलिपि ही बन पाया। यहाँ तक कि विधान में यदि कुछ लिखना छूट गया है तो वह वैसा ही मानने को लिखा गया जैसा इंगलैंड में प्रचलित है। यहाँ कानून बन रहे हैं तो वे ही जो इंगलैंड में प्रचलित हैं। उदाहरण के रूप में स्त्रियों के तलाक तथा उत्तराधिकार का कानून। यहाँ आर्थिक व्यवस्था बनाई जा रही तो वह जो यूरोप के कुछ देशों में प्रचलित है, इत्यादि इत्यादि। आज भी अंग्रेजी भाषा देश की राष्ट्रभाषा की विरोधिनी बनी हुई है। आज भी हम वेश, भाषा तथा भूषा के क्षेत्र में अभारतीय हैं और बनते जा रहे हैं। इस पर हमारा प्रश्न है कि स्वराज्य के अर्थ क्या इनके राज्य से हैं ?

अतः जब समाज का ढाँचा प्रस्तुत किया गया है तो इन परिस्थितियों और इसी प्रकार की अन्य परिस्थितियों का ध्यान रख कर ही किया है।

हम यह मानते हैं कि एक चोर, धूर्त, अशिक्षित, अयोग्य इत्यादि के हाथ में स्वराज्य दे देना तो स्वराज्य को अनधिकारियों के हाथ में देना होगा। इसी प्रकार उस व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह का वह स्वराज्य नहीं हो सकता जिसने इस देश को अपना देश नहीं माना, यहाँ के हित में अपना हित नहीं समझा और जो जन-समूह यहाँ की प्रतिष्ठित सम्मानित मान्यताओं में श्रद्धा और निष्ठा नहीं रखता। इसी प्रकार यह स्वराज्य उन शिक्षितों का भी राज्य नहीं हो सकता जो अपने पूर्वजों को मूर्ख और अँग्रेजी भाषा और वेश-भूषा में विश्वास करते हैं।

हम यह तो नहीं चाहते कि किसी के भी नागरिक अधिकारों को कम किया जाय। हाँ, उन अधिकारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्राप्त करने के लिए सब नागरिकों के लिए समान योग्यताएँ लिखनी आवश्यक समझी हैं। एतदर्थ उक्त सामाजिक ढाँचे में एक अध्याय कर्त्तव्यों के विषय में लिखा है।

साथ ही धर्म-व्यवस्था देने के अधिकार को प्राप्त करने के लिए शिक्षा और देश के जीवन में उपयोगी अंग होने की शर्त भी लिखी गई है। इन दो बातों को हम इस ढाँचे का अत्यावश्यक अंग मानते हैं।

हम शासन, धर्म-व्यवस्था और न्याय-व्यवस्था में अन्तर मानते हैं। शासन का अर्थ दंडनीति का संचालक (Administrations) ही मानते हैं। इसको अंग्रेज़ी के एक अन्य शब्द से भी प्रकट किया जाता है। यह शब्द है Executive (प्रबन्धक)। भारतीय परम्परा में इसको राजा कहते हैं। आजकल भी प्रजातान्त्रिक-प्रणाली में इसे राष्ट्रपति का नाम दिया जाता है।

धर्म-व्यवस्था अर्थात् कानून बनाने का कार्य शासन से भिन्न है। जहाँ शासक पर देश को पूर्ण जनता का विश्वास होना आवश्यक है, वहाँ धर्मशास्त्रियों अर्थात् कानून बनाने वालों पर विद्वानों का विश्वास होना अत्यावश्यक है। एक अविद्वान्, अनुभवहीन व्यक्ति से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह देश के कानून अर्थात् धर्म-व्यवस्था निर्माण में सम्मति दे सकता है।

एक बार लाहौर की एक धार्मिक सभा में, वेद मत प्रचार के लिए स्थापित की गई थी, में किसी बात पर विवाद चल पड़ा। उसका परिणाम यह हुआ कि उस सभा का प्रधान एक अनपढ़ व्यक्ति वेद का ज्ञान तो दूर रहा, संस्कृत भाषा से भी सर्वथा अनभिज्ञ, मशीनरी मर्चेन्ट निर्वाचित हो गया। यह स्थिति एक संस्था में इतनी हानिकर नहीं हो सकती जितनी देश की धर्म-सभा (Legislative Body) में हो सकती है। यदि एक अविद्वान् देश की अवस्था से अनभिज्ञ, मानवता विहीन, धर्म-व्यवस्थापक बन जाये तो हानि केवल धर्म सभा के सदस्यों की नहीं प्रत्युत देश की पूर्ण जनता की होगी। अतः देश की धर्म-व्यवस्था पर सम्मति देने वाला तो विद्वानों के विश्वास का पात्र होना ही चाहिये। अविद्वानों और मानवता से वंचित व्यक्तियों के मत के आश्रित यह व्यवस्था नहीं होनी चाहिये।

न्यायकर्त्ता तो निर्वाचित व्यक्ति होना ही नहीं चाहिये। उसको किसी के एहसान के अधीन भी रहना नहीं चाहिये। उसको निर्वाचित व्यक्तियों की अधीनता में रखना भी नहीं चाहिये।

इस प्रकार राज्य के इन तीनों अंगों को पृथक्-पृथक् रख कर इनका परस्पर समन्वय करना समाज के इस भारतीय ढाँचे का एक विशेष अंग है।

जब से कांग्रेस बनी थी, तब से ही यह माँग कर रही थी कि Executive (प्रबन्धक) और Judicial (न्यायिक) संस्थान एक-दूसरे से पृथक् रखे जायें। परन्तु जब स्वराज्य स्थापित हुआ तो इन संस्थानों के स्रोतों को एकमय कर दिया गया। हमारा यह मत है कि यह सुराज्य का सूचक नहीं है। यह स्वराज्य का भी सूचक नहीं है। सुराज्य और स्वराज्य पर्यायवाचक शब्द होने चाहिये।

कांग्रेस ने विधान ऐसा बनाया है कि प्रधानमंत्री और उसके द्वारा निर्मित मंत्रिमंडल जहाँ शासक है, वहाँ कानून बनाने वाला भी। राष्ट्रपति का कुछ भी अधिकार नहीं। प्रधानमंत्री ही सर्वेसर्वा है। यहाँ तक कि न्यायाधीश भी राज्यों और केन्द्र के मंत्रिमंडलों के सुझावों पर नियुक्त होते हैं।

अतः यह वह स्वराज्य नहीं जिसकी माँग देश १८८५ से करता रहा था। पंडित नेहरू इत्यादि का, केवल पार्टी का राज्य स्थापित करने के लिए, यह आयोजन है। हमारा भारतीय ढाँचा इस दुर्व्यवस्था को दूर करने के लिये है। हम देश का शासन सर्व मत से निर्वाचित राष्ट्रपति के अधीन, रखना चाहते हैं। कानून बनाने का अधिकार धर्म-सभा (Legislative Body) के अधीन जो विद्वन्मण्डली विद्वान और अनुभवी व्यक्तियों के अधीन हो, अर्थात् उन के द्वारा निर्वाचित होनी चाहिये।

न्यायाधीश की नियुक्ति, राष्ट्रपति द्वारा परन्तु विश्वविद्यालयों की न्याय-समितियों (Law Faculties) के सुझावपर, होनी चाहिये। उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश (Chief Justice of the Supreme Court) सब विश्वविद्यालयों की न्यायसमितियों द्वारा सुझाये गए, तीन-चार नामों में से राष्ट्रपति नियुक्त करे और देश का पूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय प्रशासन, न्याय पंचायतों तक, इस व्यक्ति के अधीन हो।

शासन और धर्म-सभा देशरूपी रथ के दो अति प्रबल अश्व के समान हैं। इन दोनों पर न्याय-प्रशासन रूपी लगाम का नियंत्रण होना चाहिये।

यह भारतीय मान्यता है कि धर्म-व्यवस्था केवल दंड नीति से संचालित नहीं हो सकती। दंड (Administration) तो केवल धर्मच्युत लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए बलयुक्त उपाय प्रयोग कर सकता है। श्रेष्ठ और कानून भंग न करने की इच्छा वालों को सन्मार्ग दिखाने का कार्य न तो शासन कर सकता है, न ही उसे करना चाहिये। जिस दिन देश का शासन अपनी दंड नीति से ही शिक्षक और सुधारक बन जायेगा, उस दिन समाज में घोर पतन का प्रसार होना आरम्भ हो जायेगा। धर्म अर्थात् व्यवस्थित जीवन अन्तर-प्रेरणा का विषय है। बाहर से किसी बात का भय दिखाने का नहीं।

यही कारण है कि एक स्वतंत्र, विद्वान और चरित्रवान वर्ग (ब्राह्मण वर्ग) की आवश्यकता समाज के ढाँचे में अनिवार्य मानी गई है। देश की पूर्ण शिक्षा इसी वर्ग से संचालित होनी चाहिये। शिक्षा, शासन और राजनीतिक दलों के प्रभाव से पृथक् होनी चाहिये।

इस समय शासन ने देश में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर रखी है कि शिक्षा सब प्रकार से शासन के अधीन हो रही है। प्रायः सब शिक्षण-संस्थाएँ शासन के संकेतों पर चलती हैं। देश में एक ऐसी मति बनती जा रही है कि प्राईवेट (निजी रूप में संचालित) शिक्षण संस्थाओं को अवांछनीय माना जाने लगा है। समय-समय पर ऐसी संस्थाओं के विरुद्ध घृणा का प्रदर्शन भी होता रहता है। उदाहरण के रूप में दिल्ली में पंजाब तथा अन्य स्थानों की हिन्दी परीक्षाओं के लिए विद्यार्थी तैयार करने के लिये कुछ अध्यापकों ने शिक्षा केन्द्र खोल रखे हैं। इन केन्द्रों को प्रायः गलियाँ दी जाती हैं। परन्तु सरकारी ढाँचे के विद्यालय इनका स्थानापन्न प्रस्तुत नहीं कर सके। यह बात निर्विवाद है कि पंजाब में जितना हिन्दी भाषा की शिक्षा में इन शिक्षा केन्द्रों का योगदान है, उतना पंजाब यूनिवर्सिटी की अपनी संस्थाओं का भी नहीं है।

जब ब्राह्मण वर्ग को इस ढाँचे में स्वतंत्र विद्वानों का वर्ग माना है तो शिक्षण संस्थाएँ सरकारी शिक्षा विभाग से स्वतंत्र करनी ही होंगी। यह इस लेख का विषय नहीं कि, इन को कैसे स्वतन्त्र किया जाये, इस विषय में सविस्तार लिखा जाये। परन्तु समाज की आत्मा को राजनीतिक दलों के कीचड़ और पाशों से मुक्त करने का यही एक उपाय है।

यहाँ इतना लिख देना तो ठीक ही होगा कि शासन ने दो उपायों से शिक्षा को अपनी दासी बना रखा है। एक तो देश में अपने को सब से बड़ा नौकरियों के देने वाला मालिक बना कर। यह तो मानना ही होगा कि शासन कार्य के लिए बहुत अधिक संख्या में कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु इन कर्मचारियों पर अनेकों प्रकार के प्रतिबन्ध लगा कर इनको शासक दल की नीति के सर्वथा अनुकूल रखने के लिये प्रयास करना सर्वथा अवांछनीय है। साथ ही ऐसे कर्मचारी जो शासन के अधीन हों, की संख्या पूर्ण जनता का एक छोटा सा अंश ही होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त नौकरियों की प्राप्ति विद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों के प्रमाण-पत्रों के आधार पर नहीं होनी चाहिये। प्रत्येक सरकारी अथवा गैरसरकारी कार्यालय को अपने कर्मचारी नियुक्त करने के लिए अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार परीक्षा का आयोजन करना चाहिये। शिक्षा को नौकरी प्राप्ति का साधन न रख कर मानव की आत्मा, मन और शरीर के विकास का साधन बनाने के लिये यह अत्यावश्यक है।

शिक्षा से हमारा अभिप्राय औद्योगिक, व्यावसायिक तथा टैक्निकल शिक्षा से नहीं है। इन विषयों की शिक्षा तो उद्योग तथा व्यवसाय-श्रमिकों (guilds) को देनी चाहिये। साधारण शिक्षा तो पूर्ण रूपेण सांस्कृतिक होनी चाहिये।

शिक्षा के लिये अनुदान (Grant) देने से न तो सरकार शिक्षा-संचालन का अधिकार प्राप्त कर लेती है, न ही किसी धनीमानी का यह अधिकार दिया जा सकता है। शिक्षा-संचालन विद्वान् और चरित्रवान् व्यक्तियों का कार्य है। राज्य की राजस्व व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि या तो जनता के पास इतना धन बच जाये कि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा अथवा अन्य धर्मकार्यों के लिए दान देने का सामर्थ्य खो न बैठे, अन्यथा राज्य विद्यार्थियों की संख्या के विचार से शिक्षा-संस्थाओं को अनुदान देने के लिए तत्पर रहे।

भारतीय समाजशास्त्र में यह माना गया है कि व्यक्ति द्वारा समाज का निर्माण हुआ है। समाज ने व्यक्ति का निर्माण नहीं किया। न ही समाज में यह सामर्थ्य हो सकती है। जब समाज व्यक्ति के सिर पर सवार हो उस को किसी ढाँचे में ढालने का यत्न करता है, तब व्यक्ति एक पशु का रूप धारण कर लेता है।

व्यक्ति में स्वतंत्रतापूर्वक, स्वेच्छा से कार्य करने की प्रेरणा होनी चाहिये। वह स्वतंत्र, प्रेरणा के अधीन, कार्य ही ऐसा होना चाहिये कि मानव समाज के कल्याण के लिए हो।

इसपर भी समाज का निर्माण मानव ने अपने लिए हितकर समझ कर किया है। इसलिए समाज के कार्य का कुछ क्षेत्र होना तो अनिवार्य ही है। इस क्षेत्र में समाज का अधिकार भी है। समाज के इस भारतीय ढाँचे में समाज और व्यक्ति के कार्य-क्षेत्र में सीमा रेखा खींचने का यत्न किया है।

विद्वानों का आदर, माता-पिता तथा गुरु के लिए आदर, समाज की परम्पराओं, साहित्य और संस्कृति के लिए आदर, देश की धर्म व्यवस्था के लिए आदर इत्यादि व्यक्ति पर बन्धन समाज-हित में ही बाँधे गये हैं।

एक अन्य बन्धन, जिससे समाज की व्यवस्था बनी रहे और व्यक्ति तथा समाज में सीमा रेखा बनी रहे, यह है कि किसी भी व्यक्ति को किसी ऐसी स्वतंत्रता का उपभोग नहीं करना चाहिये जो किसी दूसरे की स्वतंत्रता में बाधक हो।

इन प्रतिबन्धों के साथ व्यक्ति पूर्ण रूपेण स्वतंत्र होना चाहिये। उसकी मानसिक और आत्मिक उन्नति के लिए यह अत्यावश्यक है।

इस स्थान पर हम एक बात और लिख देना आवश्यक मानते हैं। वह यह कि इस प्रकार के स्वतंत्र समाज में मत-भेद और विभिन्न सम्प्रदाय होने अनिवार्य हैं। मत-भेद पशुओं, वह भी पालतू पशुओं, में नहीं होते। यदि होते भी हैं तो वे प्रकट नहीं होते। भारतीय समाजशास्त्र मनुष्य और पशु में अन्तर मानता है। पशुओं का समाज नहीं होता। इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि पशु अपने लिए समाज बना नहीं सकते। उनमें कभी कोई समूह बना दिखाई देता है तो वह किसी बलशाली पशु के बल-प्रयोग से बनता है। यह समाज नहीं। यह झुंड अथवा समूह होता है। मनुष्य-समाज, तथा पशुओं के झुंड, भिन्न वस्तु हैं। यह व्यक्तियों की स्वेच्छा से निर्माण की हुई वस्तु है। व्यक्ति ने अपने जन्मसिद्ध अधिकारों में से कुछ समाज को अर्पण किये हैं।

एक अधिकार व्यक्ति ने अपने पास रखा हुआ है। और सभी सभ्य समाज व्यक्ति के उस अधिकार का आदर करते हैं। यह अधिकार है विचार और विचार-प्रसार की स्वतंत्रता। आचार स्वतन्त्रता के विषय में प्रतिबन्धों का वर्णन ऊपरकर चुके हैं। आचार सम्बन्धी बंधनों की उपस्थिति में विचार, विचार-प्रसार और इनके लिए ज्ञान-प्राप्ति की स्वतंत्रता मानव के पास होनी चाहिए।

इस विचार-स्वतंत्रता और विचार-प्रसार की स्वतंत्रता एवं ज्ञान-प्राप्ति की स्वतंत्रता के होने से मत विभिन्नता अनिवार्य है। मत विभिन्नता का अर्थ ही यह है कि समाज में मत-मतान्तर हों। यदि उक्त प्रतिबन्धों पर समाज को आरूढ़ रखा जायेगा तो यह मत-मतान्तरों की अनेकता समाज में विघटन उत्पन्न नहीं कर सकेगी,

इस स्वतंत्रता के साथ मत मतान्तरों का होना न केवल अनिवार्य है, प्रत्युत लाभदायक भी। उन्नति का मार्ग केवल यही है। यह देखा जाता है कि कभी-कभी कोई तानाशाह द्रुत-गति से देशों में उन्नति करने में सफल हो जाता है। जर्मनी में हिटलर और रूस में स्टालिन का उदाहरण उल्लेखनीय है। परन्तु यह उन्नति, जो ये दोनों तानाशाह अपने-अपने राज्य में कर सके, न तो लोक-कल्याण की सूचक है, न ही यह स्थायी रह सकेगी। यह उन्नति केवल एक दिशा में हुई है और उस भय से उत्पन्न हुई है जो प्रायः सब तानाशाह शासकों के मन में समाया रहता है। वह भय है संसार से अपने को बचा कर रखना। इस भय के अधीन ही हिटलर ने लाखों यहूदियों की हत्या का पाप मोल लिया और इसी भय के कारण स्टालिन ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाखों देशवासियों को गोली मार कर अथवा 'कन्सैन्ट्रेशन कैम्प, में भूखा रख कर मार डाला। इन दोनों देशों में जो कुछ उन्नति हो रही है, वह देश, दल और तानाशाह शासक की सुरक्षा के हेतु हो रही है। वहाँ मानव में मानवता नहीं पनप रही।

भिन्न-भिन्न मत होने से मत-मतान्तर बनते हैं और ऐसा होने से मानव और फिर उससे समाज उन्नत होता है।

यह ढाँचा भारतीयता के अनुकूल भी है। भारतीयता का स्वरूप इतना विस्तृत है कि वह यहाँ पर पूर्ण रूप में दिया नहीं जा सकता। इस पर भी उसकी मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है।

भारतीयता की सर्वप्रथम वस्तु इसका आत्मवाद है। समाज के भारतीय ढाँचे में आत्मवाद का स्पष्ट उल्लेख सम्भव नहीं। यह तो 'ढाँचा' अर्थात् केवल रूपरेखा है। इस रूपरेखा के भीतर विचार-स्वातंत्र्य का रखना इसी कारण है कि प्रत्येक मनुष्य में एक आत्मा की विद्यमानता मानी गई है। यह माना गया है कि वह आत्मा स्वतन्त्र रहने के लिए यत्नशील रहता है। जब-जब इसकी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं, यह विद्रोह करता है। इन विद्रोहों को शान्त करने के लिए भारतीयता ने इसको स्वतन्त्रता देने का निर्णय किया है। इस पर प्रतिबन्ध केवल यह लगाया है कि वह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त को माने। इस सिद्धान्त का व्यावहारिक स्वरूप इस ढाँचे में दिया है कि मनुष्य उस स्वतन्त्रता का उपभोग करे जो किसी दूसरे की स्वतन्त्रता की बाधक न हो।

भारतीयता का दूसरा सिद्धान्त है वर्णाश्रम धर्म।

वर्णों को जब गुण, कर्म, स्वभाव से मान लिया जाय तो इसके सम्बन्ध में बहुत-सी आपत्ति निर्मूल हो जाती है। भारतीय समाज के पतन काल से पूर्व यह वर्ण व्यवस्था गुण, कर्म, स्वभाव से ही मानी जाती थी।

वर्ण-व्यवस्था की विशेषता यह है कि व्यक्ति के शिक्षा काल में ही गुरु यह निश्चय कर देता था कि अमुक बालक अथवा बालिका का गुण, कर्म, स्वभाव उसको अमुक वर्ण के योग्य बनाता है और वह उसके अनुसार जीवन में प्रवेश कर सकता है। इसमें छूट यह थी कि शिक्षा काल के अनन्तर भी यदि किसी मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव बदल जायें तो वर्ण बदल सकता है।

समाज के ढाँचे में इस व्यवस्था की आवश्यकता दो बातों में पड़ी है, एक तो मान-प्रतिष्ठा में और उनको उनकी योग्यतानुसार काम मिलने में। यह समाज के लिए परमावश्यक बात है कि उसका बुद्धिमान अंग अपनी बुद्धि के विकास के लिए पूर्ण अवसर पा सके और फिर उसका समाज के हित में प्रयोग कर सके।

वर्ण-व्यवस्था का दूसरा उपयोग समाज की सैन्य शक्ति का पूर्णतया सदुपयोग हो सके। गुण, कर्म तथा स्वभाव से क्षत्रिय प्रवृत्ति वालों की वृत्ति अर्थात् जीवन-कार्य भी क्षत्रिय का होना चाहिये। आज विज्ञापन द्वारा और प्रचार से सेना में भरती होती है। इसमें भरती करने के लिए भारी प्रलोभन भी दिखाये जाते हैं। यह उपाय ग़लत है। इन प्रलोभनों और प्रचार के प्रभाव से सेना में प्रायः ऐसे लोग भरती हो जाते हैं जो गुण और स्वभाव से क्षत्रिय वर्ग के नहीं होते। ऐसी अवस्था में सेना को देश और जाति का नहीं प्रत्युत शासन का भक्त बनाये रखने के लिए इसको बाहिरी वातावरण से सुरक्षित, और सेना छोड़ने वालों पर कठोर दण्ड का भय बना कर, रखने की आवश्यकता अनुभव की जाती है। यह अस्वाभाविकता इसी कारण है कि सेना में, क्षत्रिय गुण और स्वभाव रहित व्यक्ति भी भरती हो रहे हैं।

अतः वर्ण व्यवस्था की इन दोनों विशेषताओं को इस ढाँचे में सम्मिलित किया गया है।

भारतीयता की तीसरी विशेषता शिक्षा को राजनीति अथवा राजनीतिक दलों से मुक्त रखना है। इसका प्रबन्ध भी इस ढाँचे में है।

भारतीयता में शासन को, धर्म व्यवस्था देने वालों से पृथक् रख कर, धर्म व्यवस्थापकों की आज्ञानुसार कार्य करने की आवश्यकता को माना है। राजा, ब्राह्मण, अर्थात् धर्म व्यवस्था देने वाला, नहीं रहा। इसकी पृथकता को भली-भाँति प्रकट कर दिया गया है।

एक और विशेषता भारतीयता की रही है कि राजा वैश्य वृत्ति नहीं करता था। अर्थात् शासन उद्योग, व्यापार और व्यवसाय से पृथक् रहता था। यह वैश्य-वृत्ति राजा

(शेष पृष्ठ १४४ पर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाश्वत अर्थव्यवस्था

श्री सीताराम गोयल

आज का युग अर्थशास्त्र का युग है। अर्थशास्त्र को ही अन्य समस्त शास्त्रों का मूल एवं सार समझा जाता है। अमेरिका इत्यादि जिन देशों में सब प्रकार के कृषिज तथा शिल्पज उत्पादन की मात्रा अभूतपूर्व समझी जाती है, उन देशों में भी उस मात्रा को और भी बढ़ाने के लिए उग्र प्रयत्न होता रहता है। जो देश अमेरिका की तुलना में कम उत्पादन करते हैं, उनके बीच अमेरिका के समान बन जाने की होड़ लगी हुई है। राजनीति का प्रत्येक प्रसंग तो अर्थचर्चा से ओतप्रोत हो ही गया। संस्कृति के सब प्रसंगों में भी अर्थचर्चा का अनुपात दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है। यहाँ तक कि साहित्य इत्यादि का सृजन भी अर्थोत्पादन का ही एक अवान्तर भेद माना जाने लगा है।

उस दिन सोवियत रूस में कविता, उपन्यास, चित्र तथा संगीत इत्यादि के सृजन के लिए एक पंचवर्षीय योजना बनाई गई थी! योजना बनाने वालों ने हुंकार की थी कि संस्कृति के क्षेत्र में सोवियत भूमि को शेष समस्त संसार के उत्पादन को मात कर देना चाहिए!! मानो कविता इत्यादि करना कोयले की खान खोदने के समान है, जिसमें कुछ परिश्रमी लोगों को बटोर कर काम पर लगा देने से ही उद्देश्य सिद्ध हो जाएगा। इसी प्रकार की विचारधारा से प्रभावित होकर, देश-देश के साहित्यकार, पत्रकार तथा अन्यान्य शिल्पकार अपने-आपको श्रमजीवियों की श्रेणी में गिनवाने के लिए लालायित देखे जाते हैं, और किसी भी गोष्ठी में बैठकर प्रकाशकों तथा पत्र-प्रभुओं द्वारा अपने अनन्त शोषण की कहानियाँ कहते सुने जाते हैं।

एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के देश अपने-आपको अनुन्नत कहते हुए केवल इसीलिए नहीं अघाते कि इन देशों में कल-कारखानों का प्राचुर्य पाश्चात्य के उद्योग-प्रधान देशों जैसा नहीं है। ये अनुन्नत देश अपनी अध्यात्म की परम्परा से पूर्णतया पराङ्मुख होते जा रहे हैं, अपनी परम्परागत सभ्यता-संस्कृति के प्रति नाक-भौं सिकोड़ते रहते हैं, अपनी समाज-व्यवस्था में भरी कुरीतियों को लेकर आर्त-क्रन्दन करते सुने जाते हैं। सो सब इसीलिए कि इन देशों में इस्पात और गन्धक के तेज़ाब का उत्पादन अपेक्षाकृत कम है। ये देश अपने देश के पुरातन शिल्प और स्थापत्य इत्यादि के वैभव को डालर के विनिमय में इसीलिए बेचने के लिए प्रतिपल प्रस्तुत रहते हैं कि उस डालर के बल पर प्लास्टिक बनाने की कुछ मशीनें क्रय की जा सकती हैं।

भारतवर्ष में तो हम इस महामारी का दुष्ट दृश्य अपनी आँखों से देख रहे हैं। इस देश में आए दिन विदेश के लोगों के दल के दल देखे जाते हैं। उन लोगों के लिए आवास के लिए बड़े-बड़े होटल बनाए गए हैं, यातायात का विशेष प्रबन्ध किया गया है, बड़े-बड़े नगरों के प्रधान पथों को परिष्कृत रक्खा जाता है। सो सब किस लिए? केवल इसीलिए कि वे लोग विदेशी मुद्रा, विशेषकर डालर, लेकर आते हैं और इस देश में खर्च करके चले जाते हैं। उन लोगों के बूट-सज्जित चरणकमलों के लिए प्रत्येक मन्दिर-मस्जिद का द्वार खुला हुआ है, प्रत्येक तीर्थ-स्थान पर तैरने तथा नौका-विहार करने का प्रबन्ध किया गया है। और भारतवर्ष की पुरातन तथा अद्यतन शिल्पकला के संभार को उनके हाथों बेच देने की होड़ लगी हुई है। उन लोगों को घुमाने, उनका मनोरञ्जन करने तथा उनको बहका कर उनका धन ऐंठने का व्यवसाय जो लोग करते हैं, वे छाती फुला कर कहते हैं कि वे टूरिस्ट इन्डस्ट्री को बढ़ाकर देश को अधिकाधिक समृद्ध बनने में सहायता दे रहे हैं!!

भारत सरकार का सारा बुद्धि-बल तथा अन्यान्य सम्बल एक पञ्चवर्षीय योजना के उपरान्त दूसरी पञ्चवर्षीय योजना बनाने पर व्यय हो रहा है। आततायी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कम्यूनिस्ट साम्राज्य के प्रत्यक्ष आक्रमण से देश का परित्राण करने में जो विलम्ब हो रहा है, उसका एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि देश की अर्थ-व्यवस्था अभी-भी अधूरी है और सैनिक अभियान का भार वहन नहीं कर सकती। पञ्चवर्षीय योजनाओं को पूरा करने के लिए सरकारी कर्मचारी वर्ग की संख्या बढ़ते-बढ़ते अपरिमेय हो गई है। देश में जो नए-नए कारखाने तथा बाँध इत्यादि बने हैं, उनको दिखलाने के लिए देश-देश के शासकों का नित्यप्रति आह्वान किया जाता है और उनके द्वारा शुद्ध शिष्टाचार के नाते की गई प्रशंसा को बार-बार रेडियो पर सुनाया जाता है, पत्र-पत्रिकाओं में मोटे-मोटे अक्षरों में छापा जाता है।

आज भारतवर्ष में जो भी बड़ी-छोटी, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियाँ और सभाएं होती हैं, उनमें नव्वे प्रतिशत तो सीधे तौर पर अर्थचर्चा के निमित्त ही समाहूत अथवा समवेत होती हैं। शेष दस प्रतिशत सभाओं की चर्चा का विषय विज्ञान, साहित्य, दर्शन, इतिहास इत्यादि बतलाया जाता है। किन्तु उनमें से भी प्रत्येक के सभापति का अध्यक्षीय भाषण पढ़ने पर अर्थचर्चा ही प्रधान प्रसंग प्रतीत होती है। सबके सब एक स्वर से यही कहते सुने जाते हैं कि अर्थ की उपलब्धि हो गई तो अन्य सब कुछ की उपलब्धि अपने-आप हो जाएगी। एक ही साधे सब सधें, सब साधे सब जायँ—यह दोहा किसी सन्त ने भगवद्-भक्ति की महिमा बतलाते हुए रचा था। किन्तु आज के भारतवर्ष में इसका प्रयोग अर्थोपलब्धि की महिमा गाने के लिए किया जाता है।

आज भारतवर्ष के विद्यालयों में अर्थशास्त्र के विभाग में प्रवेश पाने की अभीप्सा करने वाले छात्र-छात्राओं की संख्या ही सर्वापेक्षा अधिक है। उनमें से अनेकों को निराश रहकर अर्थशास्त्र-विभाग के द्वार से ही लौट आना पड़ता है। अर्थशास्त्र के अध्यापक अपने मुख पर ऐसी गम्भीर मुद्रा धारण किये रहते हैं, मानो वे ब्रह्माण्ड का रहस्य खोजते हुए थककर चूर हो गए हों। वे लोग जूते के उत्पादन से सम्बन्ध रखने वाले आँकड़ों का पाठ करते समय ऐसे मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं, मानो वे किसी महान संगीत का उद्गान करने में व्यस्त हों। उन लोगों की व्यर्थ की बकझक तथा कलम-घिसाई को छापने के लिए जितने कागज़ का व्यय होता है, उसका उत्पादन करने के लिए वनों के प्रान्त के प्रान्त काटे जा रहे हैं।

किन्तु अर्थशास्त्र के अध्यापकों, प्राध्यापकों तथा विशेषज्ञों की यह प्रतिदिन वृद्धमान होती हुई स्वदेशी संख्या फिर भी वाञ्छित अध्यवसाय के अनुपात से कम रहती है। इसलिए मोटे वेतन तथा भत्ते देकर यहाँ विदेशी, विशेषकर अमरीका के, अर्थशास्त्रियों को आमन्त्रित किया जाता है। ये विदेशी विशेषज्ञ देश के इस या उस क्षेत्र का सप्ताह भर कर अपना परामर्श देते हैं, अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हैं, और सरकार का योजना विभाग तथा अनेकों अन्य संस्थाएँ उस परामर्श तथा उस प्रतिवेदन को परम पुनीत प्रवचन मानकर उसको सिद्ध कर दिखाने में ही अपने पुरुषार्थ की पराकाष्ठा समझते हैं। अमेरिका इत्यादि की कई-एक बड़ी-बड़ी फाउन्डेशन तो केवल इसी प्रकार का परामर्श देने के लिए इस देश में डेरा लगा बैठी हैं, बहुत बड़े विशेषज्ञों को यहाँ बुला-बुला कर इस देश के जीवन के प्रत्येक पक्ष का परीक्षण तथा अन्वीक्षण किए जा रही हैं।

अर्थोन्नति के प्रसंग में प्रकाशित पुस्तकों, पत्रों तथा पत्रिकाओं का अवलोकन करने पर सर्वत्र एक ही स्वर सुन पड़ता है—इस देश में जो कुछ भी पुरातन है, परम्परागत है, जनगण द्वारा पावन समझा जाता है, उस सबका तुरन्त प्रत्याख्यान होना चाहिए, अन्यथा इस देश को युग-युग में विस्तीर्ण होते आए अवनति के गर्त से निकाला नहीं जा सकेगा। गोमाता तथा गोवंश पर इन समस्त महानुभावों की विशेष कृपादृष्टि है। ये सबके सब आँकड़ों के अम्बार लगा कर बारम्बार कहते हैं कि यदि यहाँ का असंख्य तथा अनर्थक गोवंश यदि इसी प्रकार पूजा जाता रहा तो वह यहाँ के सारे खाद्य-पदार्थ को खा जाएगा और यहाँ के मनुष्यों के लिए भूखों मरने के अतिरिक्त कोई अन्य किनारा नहीं रह जाएगा। यहाँ के अन्य रीति-रिवाजों, आचार-अनुष्ठानों, श्रद्धा-आस्थाओं के विषय में इन विशेषज्ञों के मत-मतान्तर की चर्चा विस्तार से करने की आवश्यकता नहीं। वे सब यहाँ की प्रत्येक परम्परागत सम्पद् को अर्थोन्नति के मार्ग में बाधा मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन अर्थशास्त्रियों के परामर्शों को ग्रहण करके सरकार ने विविध प्रकार के करों द्वारा साधारण जनगण का जो शोषण किया है, उसकी उपमा कम्यूनिस्ट देशों के बाहर किसी अन्य देश के इतिहास में उपलब्ध नहीं होती। इन अर्थशास्त्रियों द्वारा सुझाई हुई योजनाओं की पूर्ति के लिए इस देश ने विदेश से जितना ऋण कुछ वर्षों में लिया है उसको चुकाने का प्रसंग प्रस्तुत होते ही किसी भी विचारवान् व्यक्ति को पसीना छूट पड़ेगा। और इन अर्थशास्त्रियों को सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ पहुँचाने के लिए, इनकी गवेषणा के साधन-स्वरूप पुस्तकालय इत्यादि खोलने के लिए, तथा इन लोगों के वेतन चुकाने के लिए जिस अपार धन का व्यय दस वर्षों में हुआ है, उस के परिमाण का ज्ञान होते ही कुबेर भी विस्मय से अभिभूत हो जाएगा।

इन अर्थशास्त्रियों की बातों पर यदि विश्वास किया जाए तो यह देश अभूतपूर्व रूप से सुखी और समृद्ध होता जा रहा है। देश में बढ़ते हुए विविध प्रकार के उत्पादन के आँकड़ों को ये लोग सैकड़ों प्रकार से सजाते हैं। वे आँकड़े सब समय सब साधारण लोगों की समझ में भले ही न आएँ, किन्तु उन आँकड़ों का अन्तिम निष्कर्ष सदा सीधा-सादा निकलता है—यदि इसी प्रकार से प्रगति होती रही तो कुछ ही वर्षों में यह देश सब प्रकार की हारी-बीमारी और सब प्रकार के दुख-दारिद्र्य से मुक्त हो जाएगा। अर्थशास्त्रियों को यदि कोई शिकायत है तो यही कि यहाँ के नरनारी मैथुन-क्रिया के विषय में असावधान होने के कारण यहाँ की जनसंख्या को संयत करने में अर्थशास्त्री के साथ सहयोग नहीं कर रहे। अतएव इन सबकी ओर से सरकार को बारम्बार यह सुझाव दिया जाता है कि सन्तति-निरोध का प्रचार तथा प्रयोग और भी अधिक तीव्रगति से आगे बढ़ना चाहिए। योजनाओं की सफलता को यदि किसी ओर से पूरी आशंका है तो वह इस देश में गाजर-मूली की नाँई बढ़ती हुई मनुष्य-सन्तान की ओर से है।

किन्तु इन अर्थशास्त्रियों के आँकड़ों के जटिल जंजाल से बाहर निकलते ही वस्तु सत्य कुछ और ही दिखलाई देता है। यह माना कि भारत के अनेक अंचलों में कल-कारखानों से निकलने वाले धूएँ की मात्रा वातावरण को अभूतपूर्व रूप से विषाक्त करने लगी है। यह भी माना कि इस देश के बड़े-बड़े नगरों में कारों, बसों तथा ट्रकों का शोर-शराबा तथा धूल-धूआँ अत्यधिक बढ़ गया है। और यह भी माना कि उन नगरों में सिनेमाओं, होटलों, चायखानों, मदिरालयों तथा वेश्यागृहों की संख्या में भी विशेष वृद्धि हुई है। किन्तु यह किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस देश के साधारण जनगण के दैनन्दिन जीवन में किसी भी प्रकार के प्रकृत सुख अथवा किसी भी सहजबोध्य समृद्धि की मात्रा में अणुमात्र भी अभिवृद्धि हुई है।

सर्वप्रथम इस देश के गाँव की ओर आँखें उठाई जाएँ। कारण, इस देश के विशाल जनगण का अधिकाँश अभी-भी गाँव में रहता है। किसी भी सहृदय व्यक्ति को, जिसने आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व के गाँव को देखा था, यह मानने में बाधा का बोध नहीं होगा कि गाँव की दुर्दशा आज अभूतपूर्व अवस्था को प्राप्त हो चुकी है। यदि उन कतिपय अंचलों को भुला दिया जाए जिनमें सिंचाई का सम्यक् प्रबन्ध है, तो देश की अधिकाँश देहात में कृषि का ह्रास स्पष्ट है। गाँव की दस्तकारी तो एक प्रकार से प्रलय के पाश में जा पड़ी है। आज के गाँव में किसी भी प्रकार के उत्पादन का काम करने वाला व्यक्ति वही है जो मूढ़ समझा जाता है तथा अन्य कुछ भी करने में असमर्थ है जो कोई भी ग्रामीण शिक्षा प्राप्त कर लेता है अथवा किसी अन्य दिशा में चतुर है, वही शारीरिक श्रम को लज्जास्पद मानता है। इस प्रकार उत्पादन के क्षेत्र में बुद्धिबल का विलोप सर्वत्र स्पष्ट है।

रही ग्रामीण समाज के जीवन में साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति की बात। बड़े-बड़े नगरों के निकट बसे हुए कुछ गाँव जिसकी दृष्टि को घेर कर नहीं बैठे और जो उन गाँवों को देखकर भारतवर्ष की प्रगति पर विस्मय प्रकट करने वाले विदेशियों के शब्दजाल से मोहान्ध नहीं हुआ, वह देश के अधिकाँश गाँवों में सृष्ट होते हुए कटु-सत्य को देख कर तुरन्त ही कह देगा कि साधारण आवश्यकताओं की उपलब्धि भी पूर्वापेक्षा कम और दुष्कर हो गई है। गाँव में घी-दूध तो एक प्रकार से रहा ही नहीं। चाय और घासलेट का प्रयोग ही प्रवृद्धमान है। इस अभाव के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण तथा नगरों की ओर से आने वाले प्रभाव से बढ़ते हुए दुराचार के कारण, गाँव का स्वास्थ्य दिन-प्रति-दिन नष्ट होता जा रहा है।

नगरों में भी एक अल्पसंख्यक उच्चवर्ग को छोड़कर किसी की दशा में कोई विशेष सुधार नहीं दिखाई देता। गन्दी गलियों के भीतर छोटी-छोटी कोठरियों में बड़े-बड़े परिवारों को लेकर रहना, रोटी कमाने के लिए रोज-रोज दूर दफ्तर में जाना, और फिर भी कुछ बचा पाने के स्थान में कर्ज के भार से दबते जाना, मध्यवित्त वर्ग की यह सर्वसामान्य रामकहानी है। उस वर्ग से नीचे वाले वर्ग के आवास, भोजन तथा अन्य सुख-सुविधा के विषय के तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। उस वर्ग के मोहल्लों में जाते ही पानी के नलों तथा पाखानों पर लगी हुई भीड़ को देख कर सत्य का साक्षात्कार करने में किसी को देर नहीं लगेगी। नारकीय जीवनयापन की इस पद्धति में किसी भी प्रकार की किसी भी प्रगति का कहीं भी कोई समावेश नहीं दीख पड़ता।

हाँ, साधारण जनगण के इस क्षीण होते हुए जीवन-मान पर परदा डालने का प्रयत्न कर रहा है एक अन्य जीवनमान। वह है नगरों में बसे हुए कुछ पूँजीपतियों, उच्च-पदस्थ सरकारी अधिकारियों तथा विदेशागत विशेषज्ञों का वैभव। इस वर्ग के वासस्थान के लिए नित्यनूतन ढंग के विशालकाय मकान नित्यनूतन नगरांचलों में बनते हैं। इस वर्ग की वेशभूषा बहुमूल्य तथा नित्यनूतन है। और इस वर्ग का खानपान, उत्सव-समाज तथा आमोद-प्रमोद भी नित्यनूतन है। मानो यह वर्ग एक असंख्य दास-वर्ग का स्वामी हो। ऐसे दास वर्ग का जिसकी सृष्टि भगवान् ने इस वर्ग के रञ्जनार्थ ही की है। आज के भारतवर्ष में दरिद्र जनता तथा एक मुष्टिमेय धनाढ्य वर्ग के बीच जो विभेद आता जा रहा है, उसकी उपमा भारतवर्ष के दीर्घ-कालव्यापी इतिहास में नहीं मिलती।

अर्थव्यवस्था की इस दिशा को देखकर कोई भी विचारवान व्यक्ति मान लेगा कि यह देश किसी पागलपन के पाश में फँस गया है। अन्यथा यह सम्भव नहीं था कि समता, स्वतन्त्रता तथा समृद्धि के नारों के साथ-साथ साधारण जनगण के जीवन में ऐसी अभूतपूर्व असमता, अस्वतन्त्रता तथा असमृद्धि का प्रसार होता। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि आज भारतवर्ष के अधिकांश लोगों को इस पागलपन की परम्परा देखने अथवा समझने का अवकाश नहीं। भारतीय समाज में समष्टि-चेतना का विलोप और एक व्यष्टि-चेतना का द्रुत उदय होता जा रहा है। जिस भी व्यक्ति से बातें करो, उसी को अपनी फिक्र पड़ी है। किसी को भी अवकाश नहीं कि एक क्षण रुक कर अपने पड़ोसी की भी सुध ले ले।

यह भी स्पष्ट है कि इस पागलपन का जन्म इस देश में नहीं हुआ। इसका जन्मस्थान है पाश्चात्य योरप तथा उत्तर अमेरिका जहाँ पर पुष्ट होकर यह पागलपन आज धरा के ओर-छोर तक प्रसार पा गया है और एक प्रलय-कालीन आप्लावन के समान सब कुछ को लीलता जा रहा है। अतएव इस पागलपन की परम्परा को समझने के लिए पाश्चात्य योरप तथा उत्तर अमेरिका के इतिहास का अवलोकन करना होगा। इस पागलपन के समर्थक भी हमको यही परामर्श देते हैं। पाश्चात्य योरप के आर्थिक इतिहास का पारायण करने के समान पुण्य उन लोगों के मत में अन्य किसी भी कृत्य द्वारा अर्जनीय नहीं। तो हम उस इतिहास का ही एक सिंहावलोकन किए लेते हैं।

: २ :

पाश्चात्य देशों का इतिहास देखने पर पता चलता है कि यह पागलपन वहाँ भी बहुत पुराना नहीं है। अभी तीन-चार सौ वर्ष पहिले पाश्चात्य के देशों की भी यही अवस्था थी जिसको लेकर "अनुन्नत" देशों के अर्थशास्त्री आज आँसू बहाते हुए नहीं अघाते। वहाँ भी मनुष्य के जीवन में अर्थोपलब्धि का स्थान संस्कृति के सोपान में सर्वापेक्षा निम्नस्थ था और अर्थोपार्जन के लिए ही जीवन-यापन करने वाले लोगों को जुगुप्सा की दृष्टि से देखा जाता था। तब वहाँ जड़वाद और भोगवाद की उस दृष्टि का उदय हुआ, जो आज पाश्चात्य की एकमात्र जीवन्त दृष्टि रह गई है।

जड़वाद ने सिंहनाद किया कि इहलोक के अतिरिक्त कोई अन्य लोक नहीं है तथा मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों के परे ज्ञान प्राप्त करने का कोई अन्य साधन नहीं है। इस सिंह-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाद का सहारा लेकर भोगवाद ने सब प्रकार की अध्यात्म-साधना तथा सूक्ष्म उपलब्धियों की भर्त्सना की। भोगवाद ने घोषणा की कि मनुष्य पशु का ही एक पर्याय है और आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन के अतिरिक्त उसकी अन्य समस्त प्रवृत्तियाँ आत्मवञ्चना हैं। मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ केवल इहलौकिक ज्ञान का संग्रह करने की ही साधन नहीं हैं, अपितु विषय-पदार्थों के स्पर्श द्वारा प्राप्य स्थूल सौख्य के संग्रह की साधन भी हैं। मनुष्य की बुद्धि किसी भी प्रकार के वाद-विवाद अथवा विश्लेषण-अन्वेषण के लिए नहीं बनाई गई। उसका एकमात्र करणीय है स्थूल सुख की खोज करने वाले मनुष्य-पशु का पथप्रदर्शन।

जड़वाद तथा भोगवाद ने मिलकर राजसमाज की भी एक व्याख्या कर डाली। उस व्याख्या के अनुसार समाज वस्तुतः स्वार्थ-परायण व्यक्तियों का समूह है, जिस की स्थिति इसीलिए सम्भव है कि विभिन्न व्यक्तियों के विभिन्न स्वार्थ अन्योन्याश्रित हैं। अतएव वही समाज श्रेयस् की साधना करने में सक्षम है जिसमें इन स्वार्थों के बीच एक सर्व-सामान्य समझौता हो जाता है और तदनन्तर प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ की बाधा-बन्धनहीन साधना करने में संलग्न हो जाता है। समाज की समृद्धि व्यक्ति की समृद्धि का ही एक उपप्रसंग है। यदि व्यक्ति को अपना स्वार्थ साधने का समुचित अवसर दे दिया जाए तो स्वार्थ-सिद्धियों का एक समुदाय अपने आप सृष्ट हो जाएगा। वह समुदाय ही समाज का स्वार्थ-समुच्चय है।

राज्य के लिए इस व्यक्तिगत स्वार्थ-साधना को प्रेरित तथा प्रोत्साहित करने से बढ़कर और कोई पुण्यकृत्य नहीं। व्यक्तिगत स्वार्थों के बीच जो भी समझौता जिस समय स्वयमेव समुत्पन्न हो जाता है, वही राजकीय शासन-विधान के लिए परम प्रमाण है। उस समझौते का अतिक्रमण करने वालों को दण्ड देकर राज्य अपने शासन-कर्तव्य को पूरा समझ सकता है। शेष सब बातों को वह समझौता स्वयमेव संभाल लेगा। और इस समझौते के विषय में कोई वाद-विवाद करने की आवश्यकता नहीं। बस सब के सब वयस्क व्यक्तियों को मताधिकार दे दिया जाए और वे लोग एक विधान-सभा का निर्वाचन कर लें। उस विधान-सभा में इस समझौते के प्रसंग पर सब प्रकार के मत-मतान्तर विभिन्न दलों के रूप में प्रतिबिम्बित हो जाएँगे। उन द... की परस्पर तू-तू मैं-मैं के फलस्वरूप जिस ओर भी बहु... का झुकाव दिखाई दे, उसी ओर समाज में वाञ्छनीय स... झौते को भी झुक जाना चाहिए।

इस प्रकार का प्रयोग सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में हुआ फिर पाश्चात्य योरप के अन्यान्य देशों में। अमेरिका... वह प्रयोग आज भी चल रहा है। किन्तु इस का प... सर्वत्र एक ही निकला। सब ओर त्राहि-त्राहि की पुक... उठने लगी। प्रत्येक पुरातन परम्परा के पाँव उखड़ गए... चारों ओर एक घोर उच्छेदवाद का उन्मत्त नृत्य दृष्टिगोच... हुआ। और उन्मुक्त भोगलिप्सा के विष से विदग्ध जनत... कम-से-कम काम करके अधिक-से-अधिक अर्थलाभ... सुविधा के लिए कोलाहल करने लगा। समाज में यन्त्रवि... के प्रयोग द्वारा जो भी समृद्धि बढ़ी, उसी का उपभोगाधिका... कलह के बीज बोने लगा। कलह का यह कटुपरिणा... बृहत्तर समाज ने ही नहीं भोगा, परिवार के जीवन में... इसका विस्फोट होने लगा। समाज के कोने में एक करुण क्रन्दन और क्रोधाविष्ट कोलाहल व्याप्त हो गया।

तब समाजवाद नाम के एक अन्य समाधान ने सि... उन्नत किया। इस समाधान ने जड़वाद अथवा भोगवा... का प्रत्याख्यान नहीं किया। इन दोनों सिद्धान्तों का प्रचण्ड... प्रचार करना ही समाजवाद का प्रथम सूत्र बना। समाज... वाद ने समाधान यही किया कि भोग-पदार्थों का स्व... परिमाण ही समाज की सारी दुर्व्यवस्था का मूल है। ये... केन-प्रकारेण उस परिमाण को इतना परिवृद्ध किया जा... कि सब व्यक्तियों को एक समान और सम्यक् उपभोग... सुविधा प्राप्त हो सके। तदनन्तर व्यक्ति शान्त हो जाए... और समाज में एक नई संस्कृति का उदय होगा।

इस समाधान का भी प्रचार एवं प्रसार हुआ। दे... देश का बुद्धिजीवी वर्ग इस समाधान को सत्य के पर... स्वरूप के समान स्वीकार करने लगा। वह वर्ग एक स्व... से पुकार उठा कि कुछ काल के लिए अन्य सब प्रसंगों... विस्मृत करके भोग पदार्थों के परिमाण को परिवृद्ध कर... के लिए आकाश-पाताल एक किया जाए। यह परिवृ... किस प्रकार प्राप्त हो—इस प्रसंग पर एक विकट वाद-वि...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ और समाजवाद के भी अनेक सम्प्रदाय बन गए। उनमें से एक सम्प्रदाय अन्य समस्त सम्प्रदायों की तुलना में उग्रतर अध्यवसायी था। उसने रूस में शासनसत्ता पर अधिकार कर लिया। रूस की परम्परागत समाज-व्यवस्था का पूर्ण उच्छेद हुआ और उसके स्थान में एक नई समाज-व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। वह है कम्यूनिज्म की समाज-व्यवस्था जो भारतवर्ष के शास्त्रों में वर्णित आसुरिक आततायी-तन्त्र का ही एक आधुनिक नाम है। पागलपन की पाश्चात्य परम्परा यहाँ पराकाष्ठा को प्राप्त हो गई है।

हमारे देश का शासकवर्ग भी, पाश्चात्य विद्यापीठों में शिक्षित तथा संस्कृत होने के कारण, इसी पराकाष्ठा की ओर विशेष रूप से परायण है। उस वर्ग को यह भ्रम है कि रूस में जो आततायी-चक्र चला है, उसको चलाए बिना ही इस देश में रूस की अर्थव्यवस्था का अनुकरण किया जा सकता है। किन्तु यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि इस शासकवर्ग ने यदि रूस की अर्थव्यवस्था का अनुकरण करने के अपने हठ को शीघ्र ही नहीं छोड़ा तो उस अर्थव्यवस्था का आविर्भाव यहाँ हुए बिना ही यहाँ पर उस आततायी-तन्त्र का उदय अवश्य हो जाएगा। रूस अथवा अमेरिका अथवा अन्य किसी भी परदेश की अर्थप्रणाली का अनुकरण इस देश की समस्त सभ्यता-संस्कृति को किसी अन्य साँचे में ढाले बिना सम्भव नहीं।

अब तनिक पाश्चात्य की अर्थ-व्यवस्था का अन्तरतम रहस्य भी हृदयंगम कर लेना चाहिए। उस अर्थ-व्यवस्था की मार्जना में यह बात बाम्बार दोहराई जाती है कि उसका एकमात्र ध्येय है मनुष्य की पशु-समस्याओं का समाधान करके, मनुष्य के जीवन में से सब प्रकार के अभौतिक अभाव को दूर करके, और मनुष्य के जीवन में सब प्रकार के स्थूल सौख्य का संग्रह करके, मनुष्य को मानवोचित जीवनयापन का अवसर प्राप्त करवाना। किन्तु उस अर्थव्यवस्था की समस्त गतिविधि किसी अन्य ही दिशा की सूचना दे रही है। यह माना कि उस अर्थव्यवस्था ने मनुष्य के जीवन में से बहुत से भौतिक अभाव दूर कर दिए हैं। यह भी माना कि उस अर्थव्यवस्था के फलस्वरूप मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार के अभूतपूर्व स्थूल सौख्य का संग्रह जुटा दिया है। किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि उस अर्थव्यवस्था ने मनुष्य को किसी मानवोचित जीवनयापन का अवसर दिया है। ऐसा अवसर वह कभी दे भी नहीं सकेगी।

कारण, मनुष्य तो उस अर्थव्यवस्था के आत्मनिर्भर, आत्मपोषक प्रसार का एक उपकरण मात्र बनता जा रहा है। मनुष्य क्या खाएगा, कैसे कपड़े पहनेगा, किस प्रकार के आवास में रहेगा, किस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करेगा, किस प्रकार का साहित्य पढ़ेगा, किस प्रकार का संगीत सुनेगा, कहाँ जाकर किस प्रकार के आमोद-प्रमोद में रत होगा—ये सब बातें वह अर्थव्यवस्था अपने-आप निर्णीत कर देती है। किसी भी मनुष्य की इच्छा-अनिच्छा तथा रुचि-अरुचि की अपेक्षा किए बिना। और मनुष्य को अपना मन मारकर, हार मानकर, वह सब स्वीकार करना पड़ रहा है। यदि कोई-कोई मनुष्य उस अर्थव्यवस्था के बलात्कार को सहन करने के लिए तैयार नहीं हो पाता तो उस को वह अपने वृत्त से बाहर निकाल फेंकती है और उसके जीवन में अभाव-अनादर के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं बन पाता।

यह तो उसी पुरातन कथानक की पुनरावृत्ति है जिस में किसी साधक ने अखण्ड साधना करके एक दानव को अपना अनुचर बनाने के लिए सिद्ध किया, और वह दानव तुरन्त ही उस साधक का स्वामी बन गया। आज जो भी समाज इस अर्थव्यवस्था के आवर्त में आ पड़ा है, उसी के समष्टिगत तथा व्यष्टिगत जीवन में सब प्रकार के स्वाच्छन्द्य का उत्तरोत्तर विलोप होता जा रहा है। कई एक पाश्चात्य समाजों में तो स्वाच्छन्द्य के इस विलोप की क्रिया इतनी आगे बढ़ गई है कि किसी को स्वाच्छन्द्य के विषय में कुछ स्मरण ही नहीं रहा। आज पाश्चात्य का साधारण नागरिक अपने बन्धन को ही अपना आभूषण बतलाकर गर्व से छाती फुलाता फिरता है। यह मनुष्य के पतन की पराकाष्ठा है। मनुष्य के मुख से पशुत्व का प्रस्तुति-पाठ सुनना।

इस दुर्गति का मूल कारण है पाश्चात्य का जड़वाद तथा उस जड़वाद से निष्पन्न भोगवाद। भोगपरायणता के समान मनुष्य के लिये कोई अन्य बड़ा बन्धन नहीं होता। कारण, भोगप्रवृति का स्वभाव ही यह है कि वह सदा भूखी रहती है। भोग-प्रवृत्ति की तृप्ति उतनी ही दुःसाध्य है जितनी कि मधु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की एक बूंद से समुद्र के जल को मीठा बना देने की क्रिया। मनुष्य का मानस भोग से कभी तृप्त नहीं होता। पुराने भोगों से विमुख होकर वह नये भोगों की खोज करता है। और इसी प्रकार मरणपर्यन्त। अतएव भोग का नित्यनूतन संग्रह ही इस प्रकार की प्रवृत्ति का मूलमन्त्र है। इस प्रवृत्ति का प्रश्रय पाकर किसी शान्त अथवा सुस्थिर अर्थव्यवस्था की उपलब्धि त्रिकाल में भी सम्भव नहीं।

और अब तो पाश्चात्य के समस्त समाजशास्त्रियों ने यह स्वीकार भी कर लिया है कि अर्थव्यवस्था का यह आवर्त किसी दिन किसी किनारे की ओर जाने वाला नहीं। इसी प्रकार बढ़ते रहना ही इस अर्थव्यवस्था का धर्म है। मनुष्य की किसी भी इच्छा-अनिच्छा अथवा रुचि-अरुचि की अपेक्षा यह अर्थव्यवस्था किसी दिन नहीं कर पाएगी। कारण, इस अर्थव्यवस्था का प्रेरणा-स्थल मनुष्य के मानस में न होकर यन्त्रविद्या के विकास में है। यन्त्रविद्या के विकास को रोका नहीं जा सकता। और विकास के प्रत्येक पर्व में अर्थ-व्यवस्था का आपादमस्तक आलोड़ित हो उठना भी अनिवार्य है। अतएव मनुष्य के लिये केवल एक ही मार्ग रह जाता है—प्रत्येक आलोड़न के पूर्व वह अपने-आपको उस आलोड़न का आघात सहने के लिये प्रस्तुत करे और उस आलोड़न के उपरान्त वह फिर से अपने पाँव जमाने के लिये पुरुषार्थ करे। प्रत्येक नूतन आलोड़न का आघात उत्तरोत्तर उग्रतर होगा। और अन्ततः मनुष्य के जीवन में प्राणधारण करने की साधना के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की साधना का समावेश ही नहीं रह जाएगा।

उन युगों की कहानी अब बीती बात हो चली है जब कि मनुष्य अपनी आजीविका के लिये थोड़ा-सा श्रम करके अपने अन्तर की अभीप्सा को अभिव्यक्त कर सकता था। आज के युग में मनुष्य के अन्तर का प्रसंग प्रस्तुत करना ही प्रतिषिद्ध है। अन्तर तो एक कोरा कागज है जिसपर बाहर के संसार में प्रतिपल होने वाली उथल-पुथल अपनी प्रतिच्छाया अंकित करती रहती है। प्रतिच्छायाओं को लेकर व्यस्त होने का कोई अर्थ नहीं। बाहर के संसार को लेकर व्यस्त होना ही समीचीन है। और व्यस्त होने की उस क्रिया में सफलता का सार है अर्थ की उपलब्धि। अतएव अर्थ की उपलब्धि के लिये ही लालायित होना चाहिये, कर्मरत रहना चाहिये। आधुनिक अर्थव्यवस्था का यह मूलभूत आधार है।

: ३ :

शाश्वत अर्थव्यवस्था मनुष्य की किसी अशाश्वत प्रवृत्ति को आधार बनाकर खड़ी नहीं हो सकती। वह मनुष्य की शाश्वत प्रवृत्ति को ही अपना प्रधान आधार बनाकर प्रवर्तित होती है। भोग की लिप्सा और उस लिप्सा को पूरी करने के लिये अर्थ की साधना—ये दोनों मनुष्य की अशाश्वत प्रवृत्तियाँ हैं। मनुष्य की शाश्वत प्रवृत्ति है अपने स्वरूप का साक्षात्कार और उस स्वरूप में से निष्पन्दित शक्ति का सम्पात। स्वरूप के साक्षात्कार तथा उसके द्वारा प्राप्त शक्ति का सम्पात ही समाज की शाश्वत अर्थ-व्यवस्था के आधार बन सकते हैं। इसी तत्त्वशास्त्र का आश्रय लेकर वेद के ऋषियों ने वर्ण-व्यवस्था का विधान दिया था। उस व्यवस्था में अर्थ का चिन्तन तथा संग्रह करने वालों का स्थान महत्त्वपूर्ण अवश्य है, किन्तु सर्वोत्कृष्ट नहीं। और उस अर्थ-चिन्तन तथा अर्थ-संग्रह की प्रेरणा भी स्वार्थ-परायण नहीं, यज्ञोन्मुख है।

शाश्वत अर्थव्यवस्था की समस्त प्रेरणा का वर्णन श्रीमद् भगवद्गीता के निम्नोक्त श्लोकों में मिलता है:

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।
यज्ञशिष्टाशिनो सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जन्ते ते त्वघं पापाः ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

अर्थात् "प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि करते समय साथ-ही-साथ यज्ञ की भी सृष्टि करके कहा कि आप लोग यज्ञ के द्वारा समृद्ध हों और यज्ञ आप लोगों के लिये कामधेनु का काम दे। जो सत्पुरुष यज्ञ में से अवशिष्ट का उपभोग करते हैं वे सब प्रकार के पापों से मुक्त हो जाते हैं। किन्तु जो लोग केवल अपने लिये ही हाँडी चढ़ाते हैं, वे पाप का ही भक्षण करते हैं। इस प्रकार यह यज्ञ का जो चक्र प्रवर्तित किया गया है, उसका अनुसरण जो मनुष्य नहीं करता और जो केवल इन्द्रिय-सुख की साधना करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ पाप बटोरता रहता है, वह व्यर्थ ही जीवन का भार वहन करता है।"

यज्ञ का अर्थ बहुत बृहद् है, और अर्थव्यवस्था के प्रसंग में इस शब्द का प्रयोग इसके अल्पतम अर्थ में ही किया जा रहा है। कुछ आधुनिक पण्डितों ने इस शब्द का अर्थ आधुनिक ढंग के श्रम-विभाजन तथा अर्वाचीन सहकारिता इत्यादि के अर्थ में किया है। किन्तु वह सब अनर्थ है। यज्ञ की क्रिया केवल मनुष्य समाज में ही नहीं, केवल इस मर्त्यलोक में ही नहीं, सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यज्ञ का बाह्य रूप विविध लोकों तथा विविध प्रसंगों में परिवर्तित होता रहता है, किन्तु उसका अन्तरात्मा सदा एक-समान रहता है। उस अन्तरात्मा का प्रतीक है वैदिक अनुष्ठान में विहित द्रव्ययज्ञ।

ब्रह्माण्ड में प्रतिपल चलते रहने वाले आदान-प्रदान की दो परम्पराएँ स्पष्ट हैं। एक परम्परा के अन्तर्गत जो कुछ स्थूल है, जो कुछ निम्नतर है, जो कुछ बाह्य है, वह अपनी अपेक्षा सूक्ष्म, अपनी अपेक्षा उच्चतर, अपनी अपेक्षा आन्तरिक के प्रति आत्मत्याग करता है और इस प्रकार अपने-आपको रूपान्तरित करके ऊर्ध्वायमान होता रहता है। दूसरी परम्परा के अनुसार जो कुछ स्थूल है, जो कुछ निम्नतर है, जो कुछ बाह्य है, वह अपनी अपेक्षा सूक्ष्म को, अपनी अपेक्षा उच्चतर को, अपनी अपेक्षा आन्तरिक को अपने में आत्म-सात् करने का अध्यवसाय करता है और इस प्रकार और भी अधोगमन के लिए प्रवृत्त होता है। इनमें से पहिली परम्परा यज्ञ की दैवी परम्परा है और दूसरी परम्परा यज्ञ से विद्वेष करने वाली आसुरी परम्परा है।

अतएव अर्थव्यवस्था के प्रसंग में यज्ञ का अर्थ है स्वार्थ का त्याग तथा परार्थ के लिए प्रयत्न। इसी यज्ञ के प्रवर्तित होने से शाश्वत अर्थव्यवस्था का सूत्रपात होता है। और इसी यज्ञ के प्रवर्तन से वर्ण-व्यवस्था का भी आविर्भाव सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। जो लोग अपने स्वभाव-नियत गुण के फलस्वरूप सर्वथा अन्तर्मुख होकर अपने स्वरूप के साक्षात्कार तथा उस साक्षात्कार द्वारा उपलब्ध शक्ति की साधना में अपना सारा अध्यवसाय केन्द्रित कर देते हैं, वे ब्राह्मण हैं। वे लोग ही जानते हैं कि मनुष्य का आचरण, समाज की व्यवस्था तथा शासन की प्रणाली किस युग में और किस स्थान पर कैसी होनी चाहिए। वे लोग ब्राह्मण हैं जो इस प्रकार के ज्ञान-यज्ञ में सतत प्रवृत्त होकर सर्वतोमुखी धर्म का साक्षात्कार करते हैं और विधान देते हैं। उनके द्वारा दिये हुए समस्त धर्म-विधान का मर्म यही होता है कि किस प्रकार व्यष्टि तथा समष्टि के जीवन में यज्ञ की दैवी परम्परा की प्रतिष्ठा हो।

कुछ अन्य लोग अपेक्षाकृत कम अन्तर्मुख होते हैं। वे ब्राह्मणों के समान स्वयं धर्म का साक्षात्कार नहीं कर सकते, किन्तु ब्राह्मणों का वचन उनके शुद्ध मानस में पूर्णतया प्रतिध्वनित होता है। और वे उस वचन का पालन स्वयं करने में ही सक्षम नहीं होते, अपितु दूसरों द्वारा करवाने में भी समर्थ होते हैं। उनका पराक्रम, उनका बाहुबल, उनकी प्राणोत्सर्ग करने की प्रवृत्ति, उन लोगों को सदा ही धर्म की रक्षा करने की प्रेरणा देती है। अतएव जो काम ब्राह्मण लोग अपने स्वभाव-नियत गुण के कारण स्वयं नहीं कर सकते, वे काम ये दूसरे लोग करते हैं। उन कामों में मुख्य काम है दण्डधारण करना जिसके परिणामस्वरूप धर्म का पालन करने वाली प्रजा का परिरक्षण तथा धर्म का अतिक्रमण करने वाले आततायियों का दलन होता है। ऐसे लोगों को क्षत्रिय कहा जाता है।

तीसरे प्रकार के लोग वे हैं जो और भी कम अन्तर्मुख होने के कारण न तो धर्म का साक्षात्कार करने में सक्षम हैं, न धर्म की रक्षा के लिए दण्डधारण करने और प्राणोत्सर्ग करने में समर्थ। किन्तु ये लोग धर्म के स्थूल उपकरणों को सहेजने के काम में कुशल होते हैं। धर्म के स्थूल उपकरण हैं धन-धान्य, पशु इत्यादि जिनसे सारी प्रजा शरीर-धारण करने में समर्थ होती है। शरीर धर्म का आद्य साधन है। शरीर को स्वस्थ तथा पुष्ट रखना ही होगा। और इस काम को संभालने का भार वहन करने में जो लोग कुशल हैं, वे वैश्य हैं। धर्म के अनुकूल रहने वाली वैश्यवृत्ति अर्थ की अथक साधना करती है, धन-धान्य का प्रचुर उत्पादन तथा संग्रह करती है। किन्तु वह वृत्ति स्वार्थ-परायण नहीं हो सकती। स्वार्थ-परायण होते ही वह अधर्म में रत हो जाएगी। वह वृत्ति परार्थ-परायण ही हो सकती है। अतएव धर्मानुकूल अर्थात् यज्ञार्थ अथवा सारे समाज के भरण-पोषण के लिए अर्थ-चिन्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा अर्थ-संग्रह करना ही वैश्यवृत्ति का परिचय देना है। और यह वैश्य-वृत्ति ही शाश्वत अर्थ व्यवस्था का सनातन आधार है।

शाश्वत अर्थव्यवस्था का दूसरा आधार है शूद्र वर्ण। समाज में अनेक लोग ऐसे होते हैं जो सर्वथा बहिर्मुख होने के कारण न धर्म का साक्षात्कार करने में सक्षम हैं, न दण्ड-धारण करने योग्य और न अर्थ-चिन्तन अथवा अर्थ-संग्रह के लिए समर्थ। वे केवल शारीरिक श्रम करना ही जानते हैं। सो भी दूसरों के आदेशानुसार। यदि उचित आदेश न मिले तो ये लोग हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाएँ अथवा केवल अपने भरण-पोषण के लिए ही परिमित सा परिश्रम करके रुक जाएँ। इनको आदेश देना, संगठित करना तथा इनके श्रम को सुचारु रूप से संचालित करना वैश्य वर्ग का काम है। धर्मानुकूल रहने वाला शूद्र वर्ण तो केवल सेवा करने का ही अधिकारी है। अन्य उच्चतर वर्णों द्वारा अनुशासित होकर ही वह अपना तथा औरों का कल्याण कर सकता है। किसी अन्य वर्ण से सेवा करवाने का अधिकार उसे कभी प्राप्त नहीं हुआ। ऐसे अधिकार के लिए उसकी ओर से आग्रह होते ही वर्णव्यवस्था की धारा उलट जाएगी, वर्णसंकर का उदय होगा, यज्ञ की दैवी परम्परा पलट कर यज्ञविरोधी आसुरी परम्परा में परिणत हो जाएगी।

मानव-पिण्ड में विद्यमान् प्रवृत्तियों को प्रमाण मान कर उनकी परम्परा के साथ तुलना करने पर वर्णव्यवस्था का भेद सर्वथा स्पष्ट हो जाएगा। मनुष्य में चार प्रवृत्तियाँ हैं—आत्मा, मानस, प्राण और शरीर। यज्ञ की दैवी परम्परा के अनुकूल आत्मा सत्य का साक्षात्कार करने में रत रहता है, मानस उस साक्षात्कार को बाह्य जीवन में व्यक्त करने में, प्राण उस साक्षात्कार द्वारा संकेतित पथ पर जीवनव्यापार संचालित करने में, और शरीर इन अन्य तीनों प्रवृत्तियों का भार वहन करने तथा इनका स्थूल साधन बन जाने में। जिस व्यक्ति के जीवन में यह परम्परा प्रतिष्ठित होती है वह उत्तरोत्तर ऊर्ध्वयिमान होता चला जाता है, और एक दिन उसका सारा जीवन सत्य द्वारा व्याप्त हो जाता है।

किन्तु यदि व्यक्ति के जीवन की यह परम्परा यज्ञ-विरोधी आसुरिक परम्परा में परिणत हो जाए तो शरीर स्वामी बन जाता है तथा प्राण, मानस और आत्मा इत्यादि उसके अनुचर। तब उस व्यक्ति के जीवन में सत्य का उत्तरोत्तर विलोप होता चला जाता है और मिथ्या का उत्तरोत्तर उदय होने के कारण वह अधोगति के गर्त में गिरता चला जाता है।

समाज की व्यवस्था के विषय में भी यही विधान लागू है। ब्राह्मण समाज का आत्मा है क्षत्रिय उस का मानस, वैश्य उसका प्राण, और शूद्र उसका शरीर। समाज का कल्याण उसी समय होता है जब कि उसमें यज्ञ की दैवी परम्परा प्रतिष्ठित हो और निम्नतर वर्ण अपनी अपेक्षा उच्चतर वर्ण का अनुचर बने। यदि इस परम्परा को पलट कर यज्ञ-विरोधी आसुरी परम्परा का प्रवर्तन किया जाता है तो वह समाज अधःपतन की ओर चल पड़ता है।

इस दृष्टान्त से यह भी स्पष्ट हो गया कि मनुष्य के विविध अध्यवसायों की श्रेणी में अर्थसाधना का स्थान कहाँ है और मानव-समाज की व्यवस्था में अर्थ-व्यवस्था का साध्य क्या है। इसी न्याय का अनुसरण करके सनातन शास्त्रों में पुरुषार्थ-चतुष्टय का विधान दिया गया है। वहाँ कामोपभोग की उसी इच्छा को स्वीकार किया गया है जो धर्माविरुद्ध हो। उस कामोपभोग के लिए जो अर्थ-संग्रह विधेय है, वह भी धर्माविरुद्ध होना चाहिए। इस प्रकार से त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की साधना करने से चतुर्थ वर्ग अथवा मोक्ष की प्राप्ति अपने आप हो जाती है। किन्तु धर्म की परिवेष्टिनी के बाहर पदार्पण करते ही अर्थ और काम मोक्ष के घातक बन जाते हैं।

(४)

अब हम शाश्वत अर्थ-व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकते हैं। भारतीय शास्त्र के युग-सिद्धान्त से भी अर्थ-व्यवस्था का एक अविच्छेद्य सम्बन्ध है। शाश्वत अर्थ-व्यवस्था अपने पूर्ण स्वरूप में केवल सतयुग में ही उदय होती है। परवर्ती युगों में उसके स्वरूप का उत्तरोत्तर गोपन होना आरम्भ हो जाता है। और कलियुग में वह सर्वथा विकृत होकर आसुरी परम्परा में परिणत हो जाती है।

इस स्थल पर एक अन्य तथ्य का समन्वय कर देना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वांछनीय है। विभिन्न युगों में केवल मनुष्य का सत्त्व ही विभिन्न प्रकार का नहीं होता, अपितु प्रकृति का दातृत्व भी विभिन्न प्रकार का देखा जाता है। इस कारण एक युग के सत्त्वसम्पन्न मानवसमाज को उस युग की अत्यन्त दयालु प्रकृति से जो पदार्थ अल्प परिश्रम के द्वारा प्राप्त हो जाते हैं, उन्हीं की उपलब्धि के लिए एक अन्य युग के सत्त्वहीन मानवसमाज को असहयोग करने वाली प्रकृति के साथ भीषण संघर्ष करना पड़ता है। मानव-समाज के सत्त्व का युग-परिवर्तन के साथ जो सम्बन्ध है, वह हम एक अन्य लेख में समझा चुके। युग-परिवर्तन का सम्बन्ध लोक-संस्थान से है। अतएव ऊर्ध्वस्थ लोक जब मर्त्यलोक में मूर्त होते हैं तब मर्त्यलोक के मानव का मानस ही नहीं, मर्त्यलोक की प्रकृति भी सौम्य और शान्त हो जाती है। उस प्रकृति में अकस्मात् होने वाले उपद्रव सतयुग में कभी नहीं होते। न ही वह प्रकृति समय पर वर्षा बरसाना इत्यादि भूलती है। अतएव उपद्रव करने तथा समय पर धोखा देने वाली प्रकृति के साथ संघर्ष करने के लिए अर्थ-व्यवस्था का जो अंग प्रयोजनीय है, उस के प्रादुर्भूत होने की सतयुग में आवश्यकता ही नहीं।

अर्थ-व्यवस्था का एक अन्य अंग आज राष्ट्र की रक्षा के लिए प्रयोजनीय है। सो इसलिए कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच जो सनातन सम्बन्ध सतयुग में प्रकट होते हैं, उनका अन्य युगों में विलोप हो जाता है और एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र की ओर से होने वाले अकारण आक्रमण के लिए कटिबद्ध रहना पड़ता है। आक्रमणकारी मनोवृत्ति द्वारा मलिन राष्ट्रों में जो शस्त्रास्त्र बनाए जाते हैं, उनका सामना करने के लिए प्रत्येक अन्य राष्ट्र को भी वैसे ही शस्त्रास्त्र बनाने पड़ते हैं। और इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में एक विकृति का प्रसार होने लगता है। अतएव सनातन अन्तर्राष्ट्रीय नीति तथा शाश्वत अर्थ-व्यवस्था अनेक प्रकार से अन्योन्याश्रित हैं।

सतयुग में मनुष्य सत्त्वसम्पन्न अर्थात् अन्तर्मुख होता है। उसको जो सुख अपने अन्तर में उपलब्ध हो सकता है और होता रहता है, वह बाह्य जगत् के किसी भी पदार्थ के उपभोग से प्राप्य नहीं। अतएव उसके जीवन में बाह्य परिग्रह की मात्रा बहुत कम होती है। शुद्ध और शक्ति-दायक भोजन, स्वच्छ और सुन्दर वस्त्र, स्वस्थ आवास और सात्त्विक आमोद-प्रमोद—इन उपकरणों के वृत्त में उस का जीवन तृप्ति का उपभोग कर लेता है। और इन उपकरणों के उत्पादन के लिए जो कुछ भी परिश्रम तथा कला-कौशल प्रयोजनीय होता है, वह सब आसानी से और बिना किसी प्रकार के बलात्कार का प्रयोग किए ही उपलब्ध हो जाता है। परिश्रम करना तथा कला-कौशल का परिचय देना जिन वर्गों तथा वर्णों का स्वधर्म होता है, वे प्रसन्नतापूर्वक सारे समाज के लिए कर्मरत होते हैं। अपने परिश्रम तथा कला-कौशल के विनिमय में उन लोगों को अधिकाधिक स्थूल परिग्रह करने का लोभ संतापित नहीं करता।

अतएव इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में आजकल के कलकत्ते-बम्बई जैसे तो क्या, मध्ययुगीन दिल्ली-आगरा जैसे नगरों का भी कोई स्थान नहीं हो सकता। राष्ट्र में दस-पाँच छोटे-छोटे नगर हो सकते हैं, जैसे कि राजा अथवा राज्यसत्ता का निवासस्थान, पण्य के क्रय-विक्रय तथा आयात-निर्यात के स्थान, किन्तु अधिकतर जनता छोटे-छोटे स्वच्छ ग्रामों में वास करती है। प्रत्येक ग्राम का जीवन एक परिवार के जीवन के समान होता है, जो अपने जीवनव्यापार को चलाने के समस्त स्थूल साधन अपने श्रम द्वारा तथा अपने आस-पास में उपलब्ध उपकरणों का उपयोग करके उत्पन्न कर लेता है। इस परिवार के अन्तर्गत क्रय-विक्रय का परिमाण कभी भी किसी बाजार का रूप धारण नहीं कर सकता। न ही बाहर के किसी बाजार के उतार-चढ़ाव का सम्पात इस परिवार के अन्तर्गत चलने वाले क्रय-विक्रय पर पड़कर उसमें विशेष उतार-चढ़ाव उपजा सकता है।

वैश्यवृत्ति का सार है धन-संचय के लिए क्रय-विक्रय करना। जिस समाज में अथवा जिस युग में यह वृत्ति प्रसार पा जाती है, उस युग और समाज में व्यर्थ के उत्पादन की मात्रा बढ़ जाती है, और उत्पादन के क्रय-विक्रय का मार्ग साफ करने के लिए जनगण के बीच विज्ञापनबाजी द्वारा जनगण को उसका उपभोग करने के लिए उकसाया जाता है। किन्तु सतयुग में अथवा सत्समाज में वैश्यवृत्ति को कभी भी इतना प्रसार नहीं पाने दिया जाता कि वह उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग अथवा समाज की प्रधान वृत्ति बन जाए। जनगण की उपभोग-वासना को कृत्रिम रूप से भड़काकर बढ़ाया नहीं जाता। अतएव व्यर्थ के उत्पादन के लिए ऐसी अर्थ-व्यवस्था में कोई स्थान नहीं। न ही केवल रुपया कमाने के उद्देश्य से किसी प्रकार के सस्ते तथा रुचि-विहीन पदार्थों के उत्पादन को प्रश्रय दिया जाता है। जिन भी पदार्थों का उत्पादन किया जाता है, वे एक शुद्ध, स्वच्छ, संयमित और सादा जीवन-यापन करने के साधन होते हैं। उन साधनों का परिमाण यथेच्छ प्रचुरता में प्राप्त होता है। और ग्रामीण परिवार के उपभोग के उपरान्त जो कुछ बच जाता है उसे ग्राम के बाहर विक्रयार्थ भेज दिया जाता है। नगरों में उस पण्य का व्यवसाय हो सकता है।

अतएव यह स्पष्ट है कि शाश्वत अर्थ-व्यवस्था कृषि-प्रधान होती है। भूमि को माता मानकर उसकी सब प्रकार से सेवा करना और फिर उसपर किए गए परिश्रम द्वारा प्राप्त पदार्थों का उपभोग करना ही शाश्वत अर्थ-व्यवस्था का प्रथम आधार है। भूमि पर परिश्रम करने के लिए तथा कृषिज पदार्थों को परिष्कृत करने के लिए जिन थोड़े से यन्त्रों की आवश्यकता होती है, उनको ग्राम के कारीगर ही बना लेते हैं। वे कारीगर लोग वस्त्र, बर्तन-भाण्डे तथा सुखद किन्तु स्वच्छ और सादे आवास की सज्जा के लिए जो भी सामग्री चाहिए, वह सब भी बना लेते हैं। इस प्रकार शाश्वत अर्थ-व्यवस्था में बड़े-बड़े कल-कारखानों की कल्पना नहीं की जा सकती। और उन कारखानों द्वारा सृष्ट सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्यान्य समस्याओं के समाधान का प्रसंग ही कभी उपस्थित नहीं हो सकता।

शाश्वत अर्थव्यवस्था में द्रुत यातायात के साधनों की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। पण्य का यातायात अल्प मात्रा में होता है। उसका समस्त भार वहन करने के लिए समाज की पशुसम्पदा ही पर्याप्त होती है। और वह पशुसम्पदा कृषि तथा दही-दूध की उपज के लिए भी उपयुक्त होती है। अतएव शाश्वत अर्थव्यवस्था का दूसरा आधार है पशुपालन। शुद्ध वंश के सुन्दर तथा शक्ति-सम्पन्न पशु उस अर्थव्यवस्था के आधार ही नहीं, अलंकार भी होते हैं। मनुष्य पशुओं के साथ मैत्री का व्यवहार करता है। और विनिमय में वे पशु उसके उपभोग के उपकरण जुटाते हैं, उसका तथा उस के पण्य का भार वहन करते हैं।

शाश्वत अर्थव्यवस्था का तीसरा आधार है शिल्प और स्थापत्य का उत्कर्ष। घरों और ग्राम को, पशु-सम्पदा को, नर-नारियों को, मन्दिर तथा चौपाल को सजाने और सुन्दर बनाने के लिए चित्रकारी और हस्तकला इत्यादि का उपयुक्त और रुचि सम्पन्न उपयोग किया जाता है। उच्चकोटि के संगीत को ध्वनित के करने के लिए विविध वाद्ययन्त्र बनाए जाते हैं। उच्च कोटि के साहित्य को लिपिबद्ध करने के लिए जो लेखनी और मसीपात्र काम में लाये जाते हैं, वे भी हस्तकला के उत्कृष्ट नमूने होते हैं। स्थापत्य का विकास सब प्रकार के सुन्दर आवास, अवस्थानागार, मन्दिर और सभागृह बनाने के लिए उचित दिशा में होता रहता है।

शाश्वत अर्थव्यवस्था का चौथा आधार है प्रकृति की विभिन्नता के अनुरूप साधारण उत्पादन में, शिल्प और कला-कौशल की विभिन्नता को व्यक्त करना। देश के जिस अंचल में प्रकृति की ओर से जो भी उपकरण सहज उपलब्ध हैं, उन्हीं को सहेज कर मानव के उपभोग के लिए उपयोगी बनाना इस अर्थव्यवस्था का मूल-मन्त्र है। उस अंचल से बहिरस्थ स्थानों से आए हुए फैशन के फेर में पड़ कर वह अर्थव्यवस्था अपने स्थान पर उपलब्ध प्राकृतिक वैभव का प्रत्याख्यान नहीं करती। न ही वह अर्थव्यवस्था वैभव के बीच अभाव की मिथ्या अनुभूति से अवसाद-ग्रस्त होती है। जो-कुछ भी आसपास उपलब्ध है, उसी को मनुष्य के बुद्धिबल तथा हस्तलाघव के प्रयोग से उपभोग के लिए उपयोगी बना लिया जाता है। उन उपभोग-पदार्थों का कुछ अंश बाहर जा सकता है, और बाहर के उपभोग पदार्थों का एक अल्प परिणाम वहाँ आ सकता है। किन्तु इस आयात-निर्यात के कारण उस अंचल की अर्थव्यवस्था में किसी उत्पात का उदय नहीं होता।

शाश्वत अर्थव्यवस्था का पाँचवाँ आधार है प्रकृति के प्रति मैत्री की भावना। अशाश्वत अर्थव्यवस्था की प्रेरणा जुटाने वाली विचारधारा मनुष्य तथा प्रकृति के बीच एक वैमनस्य की भावना का प्रतिपादन करती है। अतएव नदियों पर पुल और बाँध बनाना, पहाड़ों को काट कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरंग और यात्रापथ तैयार करना, वनों को उखाड़ कर नगर बसाना—इस प्रकार के अनेक अनर्थकारी अध्यवसाय प्रत्येक प्रकार की अशाश्वत अर्थव्यवस्था में अपने-आप उत्पन्न होते हैं और बढ़ते जाते हैं। शाश्वत अर्थव्यवस्था में प्रकृति के साथ संघर्ष करके उसके रंग-रूप और विन्यास को विशेष प्रकार से सँवारने के लिए संघर्ष नहीं किया जाता। प्रकृति का प्रत्येक रूप शाश्वत अर्थव्यवस्था द्वारा स्वीकृत किया जाता है, और मानवप्राणी उसी के साथ मैत्री करके उसमें से अपने उपभोग की सामग्री ही नहीं, अपितु अपने मानस के लिए भावों का वैभव तथा अपने शिल्प, साहित्य और संगीत के लिए प्रतीक जुटाता है।

इस प्रकार शाश्वत अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत मानव-प्राणी अथवा समष्टिगत समाज उस अर्थव्यवस्था का खिलौना नहीं बनता। वह सदैव उस अर्थव्यवस्था का स्वामी बन कर रहता है। शरीर-धारण तथा कला-कौशल की साधना के लिए जितने अर्थ-संग्रह का प्रयोजन होता है, उतने से आगे उस अर्थव्यवस्था को कभी नहीं बढ़ाया जाता। और न ही उस अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत आ-जीविका का उपार्जन मात्र मनुष्य का सारा जीवन घेर कर बैठता है। आजीविका का उपार्जन वस्तुतः जीवन का एक गौण प्रसंग ही होता है। जीवन के प्रधान प्रसंग उसके परे रहते हैं, और उन प्रसंगों के लिए यथार्थ अवकाश का कभी अभाव नहीं होता। इतना ही नहीं, आजीविका के उपार्जन को भी ऊर्ध्वायमान करके उसमें उत्तरोत्तर उन प्रधान प्रसंगों का समावेश किया जाता है।

: ५ :

अब हम, इस लेख के अन्तिम परिच्छेद में, भारतवर्ष की वर्तमान अर्थ-व्यवस्था को लेकर कुछ चर्चा करेंगे। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना होगा कि कलियुग के आगमन के कारण इस समय न तो प्रकृति ही सौम्य है, और न अन्तर्राष्ट्रीय अवस्था ही शाश्वत अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल। कलियुग की जो घनीभूत छाया पाश्चात्य में उदय होकर इस देश की ओर बढ़ती आरही है, उसी को यथाशक्ति अवरुद्ध करने का प्रसंग आज हमारे सामने उपस्थित है। कारण, वह छाया एक विशेष प्रकार की अर्थ-व्यवस्था भी अपने साथ ला रही है जिसके नाम विविध हैं किन्तु जो अपने साररूप में एक ही है।

पाश्चात्य विद्यापीठों में शिक्षित-दीक्षित हमारे अर्थ-शास्त्री तथा अन्यान्य बुद्धिजीवी लोग जब कभी भारत के लिये उपयुक्त अर्थ-व्यवस्था की चर्चा करने बैठते हैं, तब-तब वे इस विषय में सर्वथा एकमत देखे जाते हैं कि यहाँ पर जो अर्थ-व्यवस्था आज तक रही है, वह अनुन्नत है और उसको एक उन्नत अर्थ-व्यवस्था द्वारा स्थानान्तरित किया जाना चाहिए। तदनन्तर ही उन लोगों के बीच यह विवाद जन्म लेता है कि वह उन्नत अर्थव्यवस्था कौन-सी है। कोई अमेरिका की पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को उन्नत मानते हैं, कोई रूस की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को, कोई डेन्मार्क इत्यादि देशों की लोककल्याण अर्थ-व्यवस्था को, और कोई इन सब व्यवस्थाओं के विशेष-विशेष अंगों की एक भारतीय खिचड़ी को।

किन्तु विचार तथा विवाद की यह पद्धति एक परतन्त्र मानस का विकार मात्र है। तनिक-सा गहरा विचार करते ही यह तुरन्त स्पष्ट हो जाता है कि जिस मानदण्ड से माप कर हमारी परम्परागत अर्थ-व्यवस्था को अनुन्नत कहा जाता है, उस मानदण्ड को प्रमाण मान लेने का कोई कारण नहीं। वस्तुतः वह मानदण्ड उन्हीं अर्थ-व्यवस्थाओं का मानदण्ड है जिनको उन्नत मानकर उनका प्रवेशद्वार इस देश की ओर खोलने का प्रयत्न किया जा रहा है। अतएव भारत की सनातन परम्पराओं के प्रति श्रद्धा-सम्पन्न किसी भी व्यक्ति को उस समस्त शब्दजाल के फेर में पड़ने की आवश्यकता नहीं।

इस प्रसंग में सम्यक् अनुशीलन का प्रथम आधार है यह आस्था कि भारतवर्ष में जो अर्थ-व्यवस्था युग-युग से रही है वह शाश्वत अर्थ-व्यवस्था के संकेतों के वहन करने के कारण सर्वथा मननीय तथा अनुकरणीय है। हमारी परम्परागत अर्थ-व्यवस्था में जिन सिद्धान्तों का संकेत मिलता है वे ही शाश्वत अर्थ-व्यवस्था के वे सिद्धान्त हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। काल के प्रवाह में तथा विदेशी आधिपत्य के आघात से उस अर्थ-व्यवस्था में अनेक विकृतियाँ आ गई हैं तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त क्रियान्वित होने वाली पंचवर्षीय योजनाओं के कारण अनेक अंचलों से उसका आमूल उन्मूलन भी हो चुका है। यह भी मानना पड़ेगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि पूँजीवाद तथा समाजवाद का चक्र यदि इसी गति से इस देश में और कुछ दिन तक अनवरुद्ध चलता रहा तो वह अर्थ-व्यवस्था प्राण दे देगी और फिर उसके पुनरोद्धार की प्रत्याशा इस युग के अन्त तक नहीं रहेगी। किन्तु यह सब होते हुए भी यह समझ लेना चाहिए कि भारतवर्ष की परम्परागत अर्थ-व्यवस्था अभी तक पूर्णतया पराजित नहीं हुई है और इस देश के अधिकाँश भाग में अब भी वह विद्यमान है। अतएव उस अर्थ-व्यवस्था के अवशिष्ट अंगों को पुनरेण प्राणान्वित करके उसको सर्वप्रथम आत्मत्राण केलिए तथा तदनन्तर पराक्रम के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है।

बहुत से लोग यह मानते हैं कि आधुनिक ढंग की यन्त्र-विद्या का उस देश में आगमन ही इस नियति का सूचक है कि परम्परागत अर्थ-व्यवस्था का परित्राण अथवा पुनरुत्थान अब सम्भव नहीं हो सकेगा। गाँधीवादी लोग इसीलिए अपनी सारी शक्ति लगाकर आधुनिक यन्त्रविद्या का विरोध करते हैं और यन्त्रों के उपयोग मात्र को प्रायः हिंसात्मक मानते हैं। वे कहते हैं कि अहिंसात्मक अर्थव्यवस्था वही है जिसमें यन्त्र का कम-से-कम और मानव के श्रम का अधिकाधिक प्रयोग हो। किन्तु ये दोनों विचारधाराएँ सर्वथा भ्रान्त और अन्ततः एक दूसरी की पोषक हैं। यह माना कि आधुनिक यन्त्रविद्या अनेक अंश में कलियुग की देन है और उसके वशीभूत हो जाना कलियुग का आवाहन करना है। किन्तु इसी कारण यह नहीं माना जा सकता कि उस यन्त्रविद्या का सदुपयोग नहीं किया जा सकता। उपयोग की दिशा ही इस बात का निर्णय करेगी कि हम कलियुग की युगश्रद्धा के साथ सहयोग कर रहे हैं अथवा उसके विरुद्ध संघर्ष।

यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि आधुनिक पाश्चात्य के देशों में यन्त्रविद्या के विकास तथा प्रयोग की जो दिशा अभी तक रही है, उसका निर्णय यन्त्रविद्या अथवा तत्सम्बन्धी किसी सिद्धान्त ने नहीं किया। उस विद्या के विकास तथा प्रयोग को उस दिशा में ले जाने का श्रेय आधुनिक पाश्चात्य की जड़वादी श्रद्धा ने किया है। उस श्रद्धा की व्याख्या इस अंक में अन्यत्र कई स्थान पर तथा इस लेख के आरम्भ में हो चुकी है। सारांश में वह श्रद्धा मनुष्य को एक विशेष प्रकार का पशु मानती है जो प्रकृति पर प्रभुत्व पाकर अपने उपभोग की सामग्री जुटाने के लिए संघर्ष कर रहा है। उपभोग की मात्रा की कोई सीमा नहीं। अतएव अधिकाधिक उपभोग प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक उत्पादन तथा उस उत्पादन के वितरण के लिए अधिकाधिक वेतन का वितरण होना चाहिए। अतएव सब मनुष्यों की समस्त शक्तियों को उत्पादन तथा वितरण की इस क्रिया के ऊपर केन्द्रित कर देना ही उस श्रद्धा का संदेश है। इस क्रिया के प्रसार में मनुष्य की सभ्यता-संस्कृति, उसके पारिवारिक तथा अन्य परम्परागत संस्कार और सुख सर्वथा गौण हैं। उन सब का बलिदान करके मनुष्य को अपनी समस्त शक्ति उत्पादन के काम में लगा देनी चाहिए।

इस विशिष्ट श्रद्धा के कारण ही पाश्चात्य के देशों में यन्त्रविद्या का विकास तथा प्रयोग एक विशेष दिशा में हुआ है। वह दिशा है बड़े-बड़े कल-कारखानों की दिशा, बड़े-बड़े नगरों की दिशा, प्रतिपल क्रन्दन करने वाले मजदूर-संघों की दिशा, कृषि के उन्मूलन की दिशा, किसान को मजदूर में परिणत करने की दिशा, और अन्ततः एक सर्वव्यापी विक्षोभ तथा क्रान्ति के विस्फोट की दिशा। इस देश की श्रद्धा यदि पाश्चात्य श्रद्धा का अनुकरण करना अस्वीकार कर दे तो पाश्चात्य से प्राप्त यन्त्रविद्या के विकास तथा प्रयोग की दिशा में बहुत कुछ परिवर्तन करना ही नहीं, उस दिशा के सर्वथा विपरीत एक अन्य दिशा में चले जाना भी सम्भव है। इस लेख के अन्त में हम उसी उचित दिशा का संकेत देंगे।

किन्तु इसके पूर्व पाश्चात्य की दिशा के प्रसंग में दो धाराओं का सम्यक् सिंहावलोकन कर लेना चाहिए। एक है पूँजीवादी देशों की धारा, दूसरी है रूस इत्यादि कम्यूनिस्ट देशों की धारा। पूँजीवादी देशों में उत्पादन के विकास की जो ऐतिहासिक परम्परा मिलती है, उसमें मनुष्य के दैनन्दिन उपभोग के पदार्थों को बनाने वाले कल-कारखानों का उदय सर्वप्रथम हुआ। उन कल-कारखानों की संख्या तथा आकार-प्रकार ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनमें काम आने वाली मशीनों के उत्पादन का विकास हुआ। किन्तु कम्यूनिस्ट राष्ट्रों में इस धारा को उलटा प्रवाहित किया गया। वहाँ मशीनों के उत्पादन का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रपात सर्वप्रथम किया गया और उन मशीनों द्वारा दैनन्दिन उपभोग के पदार्थों के उत्पादन को इस प्रथम प्रकार के उत्पादन की एक स्वयंसम्भूत नियति मानकर अपने भाग्य पर छोड़ दिया गया। परिणाम किन्तु कुछ और ही निकला। कम्यूनिस्ट राष्ट्रों में यह सत्य सर्वत्र देखा जा सकता है कि मशीनों का उत्पादन कई गुना बढ़ जाने के उपरान्त भी दैनन्दिन उपभोग के पदार्थों का उत्पादन प्रायः नहीं पड़ा है। कम से कम जन-संख्या की वृद्धि के परिमाण में उस उत्पादन की वृद्धि कहीं नहीं हो पाई। फल-स्वरूप जनता के जीवन में साधारण उपभोग-पदार्थों की मात्रा का अनुपात कम्यूनिस्ट देशों में दिन-प्रतिदिन कम होता चला आ रहा है। इस दुष्परिणाम पर कई-एक कम्यूनिस्ट पण्डितों तथा नेताओं ने चिन्ता प्रकट की है, और इसको रोकने का प्रयत्न भी आजकल उन देशों में देखा गया है।

इस दुष्परिणाम का कारण सीधा है। कम्यूनिस्ट देशों के कर्णधारों ने कभी यह नहीं सोचा कि क्रय-विक्रय की स्वतन्त्र क्रिया का प्रवर्तन हुए बिना किसी प्रकार भी यह निश्चित नहीं हो सकता कि किसी में देश, यन्त्र-विकास के किसी काल में, किसी नियत परिमाण में उपभोग पदार्थों का उत्पादन करने के लिए, कितने मशीन बनाने के कारखानों की आवश्यकता है। बस वे एक योजना बना कर मशीनें बनाने के कारखाने खोल कर बैठ गए। मशीनें बनाने की मशीनें जब तैयार हुईं तो ज्ञात हुआ कि उन मशीनों द्वारा बनाई मशीनों के लिए कच्चा माल उपलब्ध नहीं है अथवा उनको चलाने में कोई अन्य बाधा है। किन्तु फिर भी वे मशीनें बनाने की मशीनें बनाते रहे। और एक समय वह आया कि मशीनें और मशीनें बनाने लगीं, जो मशीनें और मशीने बनाने लगीं, जो मशीनें और मशीनें बनाने लगीं। इस सारी अर्थ-व्यवस्था में अनवस्था का दोष सर्वत्र व्याप्त है। उस दोष को दूर करने के लिए क्रय-विक्रय की स्वतन्त्र क्रिया के प्रवर्तन के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं।

भारतवर्ष में हमें पाश्चात्य की इन दोनों धाराओं में से किसी भी धारा का अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं। यह तो हम इसके पूर्व ही कह चुके हैं कि पाश्चात्य की सारी दिशा ही भ्रान्त है। फिर उस दिशा में जाने वाली इस या उस धारा को अपनाने का प्रश्न ही नहीं उठता। आज इस देश में कांग्रेस, कम्यूनिस्ट तथा विभिन्न समाजवादी दल पूर्णतया अथवा अंशतया कम्यूनिस्ट धारा का अनुमोदन करते हैं और उस अनुमोदन के फलस्वरूप ही वे भारत सरकार की सोवियत विशेषज्ञों की सहायता से बनाई हुई पंचवर्षीय योजनाओं का समर्थन करते हैं। दूसरी ओर स्वतन्त्र पार्टी के अनुयायी पूंजीवादी धारा के अनुयायी हैं। इन दो पक्षों के बीच इस प्रसंग पर कोई मतभेद नहीं कि भारत की अर्थ-व्यवस्था में यन्त्रविद्या का विकास तथा प्रयोग पाश्चात्य की दिशा में होना चाहिए। इन पक्षों के बीच होने वाला सारा वाद-विवाद केवल इसी बात पर चलता है कि पाश्चात्य की कौन-सी धारा का प्रवर्तन यहाँ किया जाए।

अतएव पाश्चात्य की दिशा का पूर्ण प्रत्याख्यान करने वाले तृतीय पक्ष का काम इन अन्य दो पक्षों का मध्यस्थ बनने से नहीं चलेगा। मध्यस्थ बनने का अर्थ है दोनों के गुणों अथवा दोषों के आधे-आधे अंश को लेकर एक सर्वथा निस्वाद खिचड़ी तैयार करना। अपने आपको भारतीय परम्परा के अनुयायी कहने वाले लोग आज इसी प्रकार की खिचड़ी पका रहे हैं। खिचड़ी कभी पकेगी नहीं। और प्रथम दो पक्षों में से कोई-सा एक पक्ष जीत जाएगा। यह जीत किसी भी पक्ष की हो, अन्ततः यह भारतवर्ष की सनातन परम्परा के ऊपर पाश्चात्य की जीत होगी। अस्तु।

भारत को उस विनाशकारी दिशा में जाने से रोकने के लिए प्रथम सिद्धान्त यह ग्रहण होना चाहिए कि किसी भी पदार्थ अथवा मशीन का उत्पादन, जिसको छोटे पैमाने पर घर-घर में बनाया जा सकता है, किसी बड़े कल-कारखाने में नहीं बनाने दिया जाएगा। उदाहरणार्थ, सब प्रकार के वस्त्र, चीनी, तेल, साबुन, इत्यादि अनेक ऐसे पदार्थ हैं जो बड़ी आसानी से छोटे पैमाने पर बनाए जा सकते हैं। जिन भी ग्रामों और अंचलों में ये वस्तुएं बनाने के अनुकूल उपकरण प्राप्त हों, वहीं इनका उत्पादन इस ढंग से किया जाना चाहिए। इस प्रकार कच्चे माल को रेलों और ट्रकों में लादकर बड़े कारखानों तक ले जाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की व्यर्थ की बेगार दूर हो जाएगी। गाँव के लोगों को अपना निवास, परिवार, अपनी संस्कृति तथा अपना सहवास त्याग कर परदेश की यात्रा नहीं करनी पड़ेगी। न ही गाँव उजड़कर नगर बसने और बढ़ने की सर्वनाशी प्रक्रिया प्रसार पा सकेगी।

इस प्रकार के उत्पादन की पद्धति में उत्पादन के परिमाण को बड़े कारखानों में उत्पादित परिमाण के समतुल्य रखने के लिए उचित प्रकार की छोटी-छोटी मशीनों का बनाना बिल्कुल कठिन नहीं है। ये मशीनें मनुष्यबल, पशु-बल तथा विविध प्रकार के शक्ति-बल द्वारा चलाई जा सकती हैं। किन्तु जहाँ भी सम्भव हो सके इन मशीनों को चलाने के लिए बिजली गाँव-गाँव में पहुँचाई जानी चाहिए। बिजली बनाने के भी छोटे-छोटे कारखानों का आविष्कार होना चाहिए। कई एक गाँव मिलकर अपने लिए पर्याप्त मात्रा में बिजली बना सकते हैं।

इस प्रकार के उत्पादन का परिमाण ज्यों-ज्यों बढ़ता जाए, त्यों-त्यों तत्सम्बन्धी बड़े कारखानों को बन्द करते जाना चाहिए। इस प्रकार बहुत सी नारकीय नगर-बस्तियों का लोप अपने आप हो जाएगा। वहाँ रहने वाले लोगों को विभिन्न गाँवों में ले जाकर बसाया जा सकेगा। अथवा आवश्यकतानुसार उन लोगों की छोटी-छोटी बस्तियाँ बसाई जा सकेंगी। साथ ही साथ यह ध्यान भी रक्खा जाना चाहिए कि किसी पुराने अथवा नए गाँव की जनसंख्या एक निश्चित संख्या से आगे न बढ़ने पाए।

इसी प्रकार मशीनों के विषय में भी। जिस अंचल में उपभोग पदार्थों के उत्पादन के लिए जिन मशीनों की आवश्यकता पड़े, उनका उत्पादन भी यथासाध्य उसी अंचल में होना चाहिए। पूरी मशीन को एक स्थान पर बनाने का हठ छोड़ कर, उसके पुरजे अलग-अलग और छोटे पैमाने पर बनाए जा सकते हैं। फिर उन पुरजों को फिट करके मशीन खड़ी करने का काम अंचल के एक केन्द्रीय स्थल पर हो सकता है। इसी प्रकार मशीनें बनाने वाली मशीनों के विषय में भी। ये सब प्रकार की प्रक्रियाएँ अनेक सोपानों में विभक्त हो कर बड़ी आसानी से छोटे पैमाने पर सम्पन्न हो सकती हैं।

तदनन्तर कुछ ही प्रकार के उत्पादन ऐसे रह जाएँगे जिनको छोटे पैमाने पर नहीं किया जा सकता। खनिज उत्पादन के विषय में यह न्याय विशेषतया लागू होगा। वहाँ भी मजदूरों की बड़ी-बड़ी और अस्त-व्यस्त बस्तियों को बनने से रोका जा सकता है। खान अथवा बड़े कारखाने पर काम केवल उसी अंचल के लोगों को दिया जाए जिस अंचल में वह खान अथवा कारखाना स्थित हो। उन लोगों को भी उनके गाँव से न उखाड़ा जाए। जहाँ तक सम्भव हो, उनको उनके गाँव में ही रहने देकर उन को खान तथा कारखाने तक लाने तथा वापिस ले जाने का प्रबन्ध होना चाहिए। जहाँ भी वह कारखाना अथवा खान निर्जन अंचल में हो अथवा उस अंचल की जनसंख्या से काम न चल सके वहाँ बाहर से लाए जाने वाले मजदूरों के विषय में विशेष ध्यान रखना चाहिए कि वे लोग अस्त-व्यस्त बस्तियाँ बसा कर न बैठ जाएँ। एक अंचल से आने वाले लोगों को एक ही बस्ती में रक्खा जाए जिससे कि उस बस्ती में उस अंचल की लोकसंस्कृति यथावत् रह सके और मजदूर लोग सर्वांग-सम्पूर्ण मनुष्य बने रह पाएँ।

मजदूरों की उन बस्तियों में पानी, बिजली, सफाई तथा अन्य प्रकार का प्रबन्ध पहिले से ही और योजनानुबद्ध हो जाना चाहिए। मदिरालय तथा वेश्यागृह किसी दशा में भी किसी बस्ती में नहीं खुलने दिए जाने चाहिएँ। इन नारकीय आमोद-प्रमोदों के स्थान में मजदूरों की लोकसंस्कृति के आधार पर मन्दिर, मस्जिद, गिरजे, नाट्य-गृह, पाठागार, पुस्तकालय इत्यादि का प्रबन्ध प्रत्येक बस्ती में होना चाहिए। सारांश यह कि बस्ती के सब लोग मिल कर एक सभ्य और सुसंस्कृत परिवार के समान स्वच्छ और शुचि-सम्पन्न जीवन-यापन कर सकें, इस दृष्टि से ही योजना की रूपरेखा बननी चाहिए।

कृषि के क्षेत्र में भी यही न्याय लागू होता है। खेत के न्यूनतम तथा अधिकतम क्षेत्रफल का अंचलानुसार निर्धारण हो जाने के उपरान्त, उन खेतों को न तो विभाजित होने दिया जाए और न उनका क्षेत्रफल बढ़ने दिया जाए। परिवार की सम्पत्ति का विभाजन होते समय खेत के विभाजन की अनुमति कभी किसी को नहीं मिलनी चाहिए। सम्पत्ति के विभाजन की एक निश्चित पद्धति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार उस परिवार के एक अंग को वह खेत दे दिया जाए। अन्य समस्त अंग अपनी आजीविका का नया मार्ग खोजें। यदि शिल्पोद्योग के उत्पादन का उपरोक्त प्रबन्ध साथ-ही-साथ किया जाए तो किसी भी परिवार के लिए आजीविका के साधनों की कभी कमी नहीं होगी।

भूमि पर अधिकार उसी परिवार का होना चाहिए, जो स्वयं कृषि-कर्म करने के लिए तैयार हो। जो परिवार कृषि-कर्म का त्याग करना चाहे, वह अपनी भूमि का विक्रय कर सकता है। किन्तु दूसरे लोगों को कृषि-कर्म पर लगा कर कृषिफल का उपभोग करने का अधिकार किसी परिवार को नहीं मिलना चाहिए। स्त्रियों, अपाहिजों तथा बच्चों के अधिकार में पड़ने वाली भूमि के विषय में इस नियम का व्याघात हो सकता है, अन्यत्र कहीं नहीं।

कृषिकर्म के साथ पशु-पालन का कर्म भी संयुक्त है। इन दोनों कर्मों का विच्छेद नहीं होने दिया जाए तो पशु भी पुष्ट होंगे और कृषि उनके द्वारा समृद्ध। पशुओं की नसल जहाँ-जहाँ बिगड़ गई है, वहाँ-वहाँ उसका सुधार किया जाना चाहिए, किन्तु पशुओं को मार कर अथवा मरने दिया जाकर मशीनों द्वारा कृषि-कर्म करने की पाप-पूर्ण पद्धति को कहीं भी स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। गोवंश की पुष्टि तथा पूजा हमारे देश की कृषि का केन्द्र रहा है, और रहना चाहिए।

कृषि के लिए खाद, उत्तम बीज तथा छोटे-मोटे औजारों के विषय में विशेष चिन्तन की आवश्यकता नहीं। वे सब आसानी से उपलब्ध हो सकते हैं। रासायनिक खादों के प्रयोग का यथासम्भव प्रत्याख्यान होना चाहिए। मनुष्य तथा पशुओं तथा वनस्पति से प्राप्त होने वाले खाद की मात्रा किसी भी कृषि के लिए सदा पर्याप्त रहेगी। समस्या है सिंचाई की व्यवस्था करने की। इस विषय में संशय नहीं रहना चाहिए कि अतिवृष्टि के अंचलों के अतिरिक्त किसी भी अंचल के खेतों को वर्षा पर नितान्त निर्भर रहीं रहने दिया जाएगा। वर्षा हो तो ठीक है, अन्यथा सिंचाई के लिए जल का समुचित प्रबन्ध सुकर होना आवश्यक है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कुछ नदियों पर बड़े-बड़े बांध बना कर ही यह प्रबन्ध किया जाए। सिंचाई की छोटी-छोटी योजनाएँ ही प्रयोजनीय हैं। बड़े बांध तो केवल बाढ़ रोकने के लिए ही कुछ विशेष क्षेत्रों में बनाए जा सकते हैं।

ये हैं कुछ सिद्धान्त जिन को आधार मानकर एक पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का ढाँचा तैयार किया जा सकता है। भारतवर्ष में वह ढाँचा अनेकांशों में पहिले ही विद्यमान है। उसी का परिष्कार तथा प्रसार होना वाञ्छनीय है। हमने तो यहाँ कुछ संकेत ही दिए हैं। किन्तु इन संकेतों का अवलम्बन लेकर अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक पक्ष की रूप-रेखा बनाई जा सकती है। इसलिए ये संकेत सूत्ररूप हैं। इनको समझने के लिए केवल एक प्रसंग पर मत-परिवर्तन की आवश्यकता पड़ेगी। वह है आय-व्यय का प्रसंग।

आय-व्यय का हिसाब लगाने की प्रचलित पद्धति पाश्चात्य की दोनों धाराओं में एक-समान है। इस हिसाब में केवल रुपए आने पाई का ही जमा-खर्च होता रहता है। समाज, संस्कृति, मनुष्य के स्वास्थ्य तथा मानस-विकास को होने वाले हानि-लाभ का हिसाब इस हिसाब से कभी संयुक्त नहीं हो पाता। किन्तु वह संयोग कोई दुष्कर क्रिया नहीं। आय-व्यय के हिसाब की प्रचलित परिपाटी के पीछे जो विचारधारा है, उस को बदलते ही उस परिपाटी में सुधार हो जाएगा। फिर आय-व्यय का हिसाब इतना अमानुषीय तथा ऐसा संकीर्ण नहीं रहेगा।

और अब हम फिर एक बार तत्त्व की बात पर आ पहुँचे। विचार-धारा का परिवर्तन ही इस समस्या का मूल समाधान है। जब तक हमारे विद्यापीठों में पाश्चात्य की विचारधाराओं का पठन-पाठन तथा प्रचार होता रहेगा, तब तक आय-व्यय के हिसाब की प्रचलित परिपाटी का परित्याग नहीं किया जा सकता। और उस परिपाटी का परित्याग हुए बिना शाश्वत अर्थशास्त्र का उद्धार तथा प्रचार असम्भव रहेगा। अतएव सर्वप्रथम आवश्यकता है विचार के क्षेत्र में संघर्ष करने की। भारतीय परम्परा को प्रवर्तित करने की अभीप्सा करने वाला पक्ष विचार के क्षेत्र में संघर्ष किए बिना कभी सफलता नहीं पा सकेगा। बाहर जो कुछ भी व्यक्त होता है, वह अन्तर की श्रद्धा की ही अभिव्यक्ति होती है। अर्थ-व्यवस्था उन अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियों में से केवल एक है। उसकी विवेचना हमने पृथक् से की है, इसका अर्थ यह नहीं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसको अन्य प्रसंगों से पृथक् किया जा सकता है। भारतीय अर्थात् सनातन परम्परा द्वारा पोषित एवं प्रवर्तित विश्वव्याख्या, इतिहास की समीक्षा, राजनीति-निवेश तथा समाजशास्त्र के अन्तर्गत अनेकानेक अन्य प्रसंग एक ही दृष्टि के विविध प्रसार-क्षेत्र एवं पर्याय हैं।

उस दृष्टि का पुनरोदय हुए बिना भारतवर्ष के सनातन धर्म का पुनरोदय नहीं हो सकता। किन्तु वह दृष्टिकोण बुद्धि की व्यूह-रचना नहीं है। उसका आधार है अध्यात्म-साधना। साधना द्वारा उस दृष्टि में समाविष्ट सत्य का साक्षात्कार किसी न किसी अंश में किए बिना जो कुछ भी कहा या लिखा जाएगा, वह सदा ही संशयाविष्ट रहेगा। और संशय का उच्छेद हुए बिना न तो विचार का संघर्ष करने की शक्ति जन्म लेती है, न कोई अन्य कर्म करने की शक्ति। तब अध्यात्म की चर्चा भी अहंकार की वृद्धि तथा आत्मपोषण का ही पर्याय बन जाती है। ●

(पृष्ट १२७ का शेषांश)

नहीं कर सकता। राज्य अर्थात् राजा तो इस वर्ण के स्वार्थ पर लगाम लगाने के लिए बना है। यदि यह स्वयं व्यापारी बनेगा तो निःसन्देह पूर्ण समाज, जिसको उद्योग, व्यापार तथा व्यावसायिक वर्ग से लाभ होने वाला है, हानि में रहेगा। व्यवसायियों पर कोई लगाम लगाने वाली शक्ति नहीं रह जायेगी। शासक स्वयं ही स्वार्थ-रत हो जायेगा तो उसको विप्लव के अतिरिक्त रोकने वाला कोई नहीं होगा। इसका भी इस ढाँचे में प्रबन्ध है।

भारतीयता की एक बात यह भी है कि कर्त्तव्य को अधिकार से श्रेष्ठ माना है। अधिकार का स्रोत कर्त्तव्य पालन है। अर्थात् कर्त्तव्यहीन व्यक्ति के लिए कोई अधिकार नहीं। साथ ही अधिकारों की मात्रा कर्त्तव्य की विशिष्टता पर निर्भर है। मनुष्य के घर में उत्पन्न होने से कोई अधिकार उत्पन्न नहीं होते।

इस कारण समाज के भारतीय ढाँचे में एक संक्षिप्त उल्लेख कर्त्तव्यों का भी है। वर्ण व्यवस्था भी इसी कर्त्तव्य मीमांसा का एक रूप है। इसके अतिरिक्त इस ढाँचे में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का आधार एक विशेष कर्त्तव्य है। वह कर्त्तव्य ढाँचे में और ढाँचे की मीमांसा में लिखा जा चुका है कि ऐसी स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं करना चाहिए जो किसी दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक हो। ●

हमारे नये प्रकाशन

१. सांठ-गांठ	मूल्य ५.००
—ले० श्री आरिगपूडि	
२. प्रगति शील	मूल्य २.७५
३. दो भद्र पुरुष	मूल्य ३.००
—ले० श्री गुरुदत्त	

एक वर्ष के नवीन प्रकाशन

विक्रमादित्य साहसांक	मूल्य	६.००
जात न पूछे कोय	,,	२.५०
प्रवृत्ति	,,	५.७५
द्रष्टा	,,	२.५०
विकार	,,	२.५०
विश्वास	,,	२.५०
न्यायाधिकरण	,,	७.००
पशु की परम्परा	,,	४.००
यह भी होता है	,,	३.७५
निस्तरण	,,	४.२५
प्रमाद	,,	२.५०
नकटी नानी	,,	३.२५
पंथ का जल	,,	३.००

सम्पूर्ण गुरुदत्त साहित्य के लिए लिखें :—

भारती साहित्य सदन

३०-९०, कनॉट सरकस, नई दिल्ली-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्राष्ट्रीय नीति के सनातन आधार

एकाकी

आज हमारा संसार एक भयानक विभीषिका द्वारा ग्रस्त है। वह है कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद की विभीषिका। वह साम्राज्यवाद इसके पूर्व ही एशिया तथा योरप के अनेकों राष्ट्रों पर अपना आधिपत्य जमाकर उनके ऐतिह्य का आमूल उच्छेद कर चुका है। अब वह अवशिष्ट संसार पर भी बलात्कार द्वारा अपना आततयी-तन्त्र लादने के लिए कटिबद्ध है। उस साम्राज्यवाद के पास अब सामरिक शक्ति का ही आतिशय्य नहीं है, अपितु देश-देश के अभ्यन्तर में गठित कम्यूनिस्ट पार्टियों का एक कूटास्त्र भी है। और वह इन दोनों अस्त्रों का प्रयोग जिस समन्वयात्मक पद्धति से करता है, उसके विषय में सर्वथा अनभिज्ञ रह जाने के कारण शेष संसार सहज ही उस साम्राज्यवाद का शिकार बनता जा रहा है। देश-देश में कम्यूनिस्ट पार्टी अपना जाल विस्तृत करके राजसत्ता हथियाने का वैधानिक प्रयास करती है। उस प्रयास का विरोध होने पर वह पार्टी सशस्त्र विद्रोह करती है। कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद के केन्द्र से इस विद्रोह का सक्रिय समर्थन होता है। और एक देश के भीतर प्रकट होने वाला गृहयुद्ध सहज ही विश्वयुद्ध में परिणत होने के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

विश्वयुद्ध आज अचिन्तनीय है। आधुनिक शस्त्रास्त्रों का जो सर्वनाशी रूप है और आज के युग में युद्ध की जो पद्धति प्रचलित है, उसके कारण विश्वयुद्ध में किसी की जय-पराजय का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है। विश्वयुद्ध हुआ तो पराजय प्रत्येक पक्ष की होगी, और विध्वंस का जो ताण्डव धरा पर मूर्त होगा उसकी मार से वर्तमान सभ्यता-संस्कृति का सर्वनाश तो अवश्यम्भावी है ही, मानव जाति का जीवन भी विभीषिका-ग्रस्त हो सकता है। अतएव आज की परिस्थिति में विश्वयुद्ध की बात वही व्यक्ति अथवा राष्ट्र कर सकता है जो या तो सर्वथा अज्ञ हो अथवा सर्वथा विक्षिप्त। विश्वयुद्ध आज किसी भी समस्या का कोई समाधान नहीं। उससे कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद की समस्या सुलझेगी नहीं। हाँ, मानवजाति की समस्या सदा के लिए सुलझ (!) सकती है।

किन्तु कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद के स्वरूप तथा शक्ति का साक्षात्कार जो लोग सम्यक्रूपेण कर चुके हैं, वे जानते हैं कि यदि शेष संसार की मनोवृत्ति तथा प्रवृत्ति इसी प्रकार की रही तो कम्यूनिज्म की विजय अवश्यम्भावी है। शेष संसार के राष्ट्र अपने छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए परस्पर झगड़ते रहते हैं, और अपने-अपने पक्ष में कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद का समर्थन लेते हुए आगा-पीछा नहीं देखते। जो कोई राष्ट्र अपने अभ्यन्तर में बढ़ती हुई कम्यूनिस्ट पार्टी का दमन करने की चेष्टा करता है, वह केवल कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद का ही नहीं, गैर-कम्यूनिस्ट राष्ट्रों का भी कोपभाजन बन जाता है। अतएव उस राष्ट्र के भीतर जब भी कम्यूनिस्टों का विद्रोह होता है, तभी उसका सामना उस राष्ट्र को अपने केवल सम्बल के आश्रय से करना पड़ता है। और वह सम्बल साधारणतया कम्यूनिस्ट साम्राज्य की ओर से उस राष्ट्र की कम्यूनिस्ट पार्टी को प्राप्त होने वाले सम्बल की तुलना में न-कुछ-सा होता है। इस प्रकार एक के अनन्तर एक राष्ट्र का कम्यूनिस्ट साम्राज्य के पेट में उतर जाना असम्भव नहीं।

दूसरे पक्ष में एकमात्र अमेरिका ही ऐसी शक्ति है जो सामर्थ्य तथा सम्बल के न्याय से कम्यूनिस्ट साम्राज्य का सक्रिय विरोध कर सकती है। और अमेरिका ने कम्यूनिज्म का विरोध करने के उद्देश्य से केवल शस्त्र-संचय ही नहीं किया, अपितु अपने-आप को कम्यूनिज्म का विरोधी भी घोषित किया है। किन्तु अमेरिका की नीति-रीति का सम्यक् अनुशीलन करके एक ही निष्कर्ष निष्पन्न होता है—स्थूल शक्ति के सम्पात में अमेरिका भले ही इस समय कम्यूनिस्ट आततायी-चक्र के मार्ग का रोड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बना हुआ हो, सूक्ष्म प्रचार के न्याय से आज का अमेरिका कम्यूनिज़्म का ही प्रबल पोषक है। कारण, अमेरिका की मनीषा जड़वादी है जो यह समझने में सर्वथा असफल रही है कि कम्यूनिज़्म किसी परिस्थिति-समुच्चय का स्थूल परिणाम नहीं, प्रत्युत एक आततायी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति मात्र है। अमेरिका में आज जो वर्ग सत्तासम्पन्न है, वह निराधार ही यह धारणा बना बैठा है कि उसकी अपेक्षा दरिद्र देशों की जनता आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक प्रताड़नाओं के परिणामस्वरूप कम्यूनिज़्म का पक्षपात करती जा रही है। और उस वर्ग का एकमात्र अध्यवसाय यह है कि अमेरिका के धन का व्यय करके किसी प्रकार इस जनता को अपने पक्ष में कर लिया जाए।

अमेरिका के धन के इस व्यय की पद्धति तथा परिणाम भी सर्वत्र सुस्पष्ट हैं। प्रथमतः अमेरिका को यह अहंकार है कि उसकी अपनी सभ्यता-संस्कृति, उसकी आर्थिक तथा राजनीतिक प्रणाली और उसके अपने रीति-रिवाज ही सब प्रकार से प्रगति की पराकाष्ठा के परिचायक हैं। द्वितीयतः अमेरिका का यह विश्वास है कि यदि अन्यान्य देश भी, अल्प अथवा अधिक मात्रा में, उसकी अपनी जीवन-प्रणाली की ओर अग्रसर हो जाएँ तो वे कम्यूनिज्म का पक्षपात करना त्याग देंगे। अतएव अमेरिका प्रत्येक देश की पुरातन परम्पराओं का उच्छेद करना अपना परम पुनीत कर्त्तव्य मान बैठा है। प्रत्येक देश की कम्यूनिस्ट पार्टी भी इसी अध्यवसाय में लगी हुई है। फलस्वरूप अमेरिका तथा कम्यूनिस्ट आततायी-चक्र के बीच सहज ही एक सहयोग स्थापित हो जाता है। और अमेरिका का सारा धन इन कम्यूनिस्ट पार्टियों के हाथों में जा पड़ता है। वे पार्टियाँ उस धन को अपना काम आगे बढ़ाने में प्रयुक्त करती हैं। अतएव यह आश्चर्य की बात नहीं कि जिस भी देश को अमेरिका की आर्थिक सहायता अधिक मात्रा में प्राप्त होती है, उसी देश में कम्यूनिज़्म की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। भारतवर्ष अमेरिका की इस कुनीति का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

इस प्रकार अमेरिका की सहायता से सबल बनी हुई कम्यूनिस्ट पार्टी जब किसी देश में सशस्त्र विद्रोह करती है, तब भी अमेरिका की दृष्टि अथवा कार्य-पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं दिखलाई देता। अनेक बार अमेरिकन शस्त्रास्त्र तो उस देश की सरकार को किसी न किसी परिमाण में प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु साथ ही वह सरकार अमेरिका की कठपुतली बनने के लिए बाध्य हो जाती है। और अमेरिका का जनमत तथा वहाँ की सरकार इस दुरवस्था का सारा दोष उस संकट-ग्रस्त सरकार के सिर मढ़ देते हैं। अमेरिका की समझ में ही नहीं आता कि दोष सारा का सारा कम्यूनिस्ट पार्टी का होता है। जो भी अमेरिकन पत्रकार अथवा पण्डित अथवा सरकारी कर्मचारी उस देश में आता है, वही यह राग अलापने लगता है कि उस देश की सरकार ने ही अपनी दुर्नीतियों से कम्युनिज़्म का पक्ष सशक्त कर दिया। इन पत्रकारों, पण्डितों तथा सरकारी कर्मचारियों में से कुछ लोग तो यह मानने से ही इन्कार कर देते हैं कि विद्रोही पक्ष वस्तुतः कम्यूनिस्ट पक्ष है। वे कहने लगते हैं कि वह पक्ष वस्तुतः वहाँ की उत्पीड़ित जनता का पक्ष है जिसको वहाँ की सरकार ने अपना दुश्चरित्र छुपाने के लिए तथा अमेरिका का धन हथियाने के लिए झूठ-मूठ कम्यूनिस्ट कहकर बदनाम कर डाला है।

तब अमेरिका एकस्वर से हो-हल्ला करने लगता है कि उस देश की सरकार को यदि अमेरिका की सहायता चाहिए तो उसे अपने तन्त्र में अमुक-अमुक सुधार करने पड़ेंगे। सुधारों की उस तालिका को देखने से ज्ञात होता है कि उनमें से कुछ को तो कोई भी युद्धग्रस्त सरकार कार्यान्वित नहीं कर सकती और कुछ अन्य के अनुसार निष्पक्ष नामधारी कम्यूनिस्टों को उस देश की सरकार में लेना पड़ेगा। यदि कम्यूनिज़्म द्वारा त्रसित देश अमेरिका की उस माँग को अस्वीकार कर देता है तो अमेरिका से आने वाली सहायता तुरन्त बन्द कर दी जाती है। और यदि वह देश अमेरिका की माँग को स्वीकार करता है तो अनायास ही कम्यूनिज़्म द्वारा कवलित हो जाता है।

चीन, पूर्व योरप तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में जो घटनाक्रम चला और जिसके फलस्वरूप वे देश-कम्यू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निज्म द्वारा ग्रसित एवं त्रसित हुए, उसका विश्लेषण करने से अमेरिका की इस आत्मघाती नीति का चित्र सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। अतएव निकट भविष्य में ही कम्यूनिज़्म का कराल पञ्जा समस्त एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के शक्तिहीन राष्ट्रों को दबोच लेगा। तब अमेरिका तथा पश्चिम योरप के शक्तिशाली राष्ट्रों के लिए महायुद्ध के अतिरिक्त आत्मत्राण का कोई मार्ग नहीं रह जाएगा। योरप के राष्ट्रों ने आत्मसमर्पण कर दिया तो भी अमेरिका तो अपनी शक्ति का अन्तिम सम्पात करेगा ही। अमेरिका द्वारा कम्यूनिज़्म के प्रति आत्म-समर्पण अचिन्तनीय है। उसके हाथ-पाँव फूल जाने पर वह संसार को महायुद्ध की आग में झोंकते हुए आगा-पीछा नहीं देखेगा।

इसी अवश्यम्भावी महायुद्ध की विभीषिका से घबरा कर योरप के कुछ देशों में, विशेषकर इंग्लैंड में, एक आन्दोलन उठा है जिसका नारा है—लाल हो जाने से लाल हो जाना श्रेयस्कर है, अर्थात्, संसार को सर्वनाश की आग में झोंकने की अपेक्षा कम्यूनिज़्म के प्रति आत्म-समर्पण कर देना अच्छा है। इस नारे को उठाने वाले सब-के सब लोग यह नहीं मानते कि कम्यूनिज़्म का प्रसार युद्ध के बिना रोका ही नहीं जा सकता। उनमें से कुछ लोग तो ऐसे हैं जो मानते हैं कि कम्यूनिज़्म के प्रसार की बात कहना मिथ्या-प्रचार करना है, जिसकी आड़ ले कर अमेरिका के कुछ जंगबाज लोग झूठमूठ ही युद्ध की होली जलाने पर तुले हुए हैं। उनकी व्याख्या के अनुसार कम्यूनिज़्म ने जो देश दबाए हैं, वे अमेरिका की युद्धतृष्णा से आत्मत्राण पाने के लिए ही दबाए हैं।

कुछ अन्य लोग कम्यूनिज़्म का कसूर एक सीमा तक स्वीकार करके कहते हैं कि अब कम्यूनिज़्म का पेट भर चुका और वह समझौता करने के लिए प्रस्तुत है। यह समझौता यदि हो नहीं पा रहा था तो इसी कारण कि अमेरिका अपने हठ पर अड़ा हुआ है और कम्यूनिज़्म को अपनी लाज बचाने का मार्ग देना नहीं चाहता। कुछ अन्य लोग कहते हैं कि कम्यूनिज़्म के साथ जिस भी शर्त पर हो, समझौता होना चाहिए। कम्यूनिज़्म उस समझौते के उपरान्त धोखा दे तो भी एक और समझौता उस के साथ किया जाना चाहिए। कारण, समझौते के सिवाय तो कोई और किनारा नहीं। समझौता नहीं हुआ तो युद्ध अवश्यम्भावी है और उसके फलस्वरूप सर्वस्व स्वाहा हो जाएगा। अतएव यदि युद्ध के बिना कम्यूनिज़्म को रोका ही नहीं जा सकता तो कम्यूनिज़्म को स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि यह सभ्यता-संस्कृति बची रही तो कम्यूनिज़्म की बर्बरता सौ-दो-सौ वर्ष में कभी अपने आप मिट जाएगी और मानवजाति फिर प्रगति के पथ पर यात्रा कर सकेगी। किन्तु यदि युद्ध की ज्वाला में मानवजाति ही मर मिटी तो कौन-सी सभ्यता-संस्कृति का त्राण हो सकेगा? इस प्रकार की सभ्यता-संस्कृति तो फिर सहस्रों वर्ष तक सिर नहीं उठा पाएगी।

इन सब मत-मतान्तरों का परिणाम एक ही निकला है। ये सब के सब शान्तिवादी लोग आज हाथ धोकर अमेरिका के पीछे पड़े हैं। ये चाहते हैं कि अमेरिका को युद्ध के लिए कोई तैयारी नहीं करनी चाहिए, न ही संसार के किसी कोने में कम्यूनिज़्म से तनिक भी अड़ना चाहिये। ये लोग अमेरिका के अणु-बमों को लेकर विष-वमन करते रहते है और बार-बार सभाएँ जोड़ कर, जलूस निकाल कर, गला फाड़-फाड़कर प्रस्ताव पास करते हैं कि अमेरिका को तुरन्त ही निरस्त्रीकरण कर डालना चाहिए। सोवियत रूस निरन्तर अपने-आप को शस्त्रास्त्र से सज्जित करता रहता है और साथ ही साथ शान्ति का प्रचार करता रहता है। शेष संसार के इन शान्तिवादियों का प्रचार इस कम्यूनिस्ट प्रचार की ही सहायता करता है। अतएव यदि यह मान लिया जाए कि अन्ततोगत्वा ये शान्तिवादी लोग कम्यूनिज़्म के ही अग्रदूत हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

इस प्रकार संसार की स्थिति अत्यन्त संकट-ग्रस्त है। कम्यूनिस्ट पक्ष अपने विश्वविजय के उद्देश्य से एक क्षण के लिए भी विरत होने के लिए तैयार नहीं। शेष संसार में इतनी शक्ति नहीं कि वह किसी शान्तिमय उपाय से कम्यूनिज़्म के प्रसार को अवरुद्ध कर सके। अतएव अन्ततः कम्यूनिज़्म की विश्वविजय को रोकने का एकमात्र उपाय रह जाता है, एक विश्वव्यापी महायुद्ध। उसके फलस्वरूप कम्यूनिज़्म का ही नहीं शेष संसार का भी ध्वंस हो जाएगा। महायुद्ध की विभीषिका का चिन्तन करते ही पाषाणहृदय मनुष्य भी सिहर उठेगा। आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार में शायद ही कोई ऐसा सहृदय मनुष्य हो जो विश्व-युद्ध की मनोकामना करता हो।

(२)

इस स्थिति में भारतवर्ष एक समाधान लेकर संसार के सामने आया है। वह समाधान भारतवर्ष की अन्तर्राष्ट्रीय नीति में व्यक्त है। उस नीति के कर्णधार कहते हैं कि वह नीति भारतवर्ष के स्वाधीनता-संग्राम की परम्परा में प्रस्फुटित हुई है और उसका आधारभूत सिद्धान्त है गाँधीजी का अहिंसावाद। इस सिद्धान्त की दृष्टि से संसार को कम्यूनिस्ट और कम्यूनिस्ट-विरोधी, दो पक्षों में बाँटना पाप है। संसार में जो दो पक्ष हैं, उन में एक पक्ष है शान्ति का और दूसरा युद्ध का। शान्ति की कामना करने वाले भी सब देशों में विद्यमान हैं, और अपने दुराग्रह के कारण युद्ध को प्रोत्साहन देने वाले भी। शान्ति की कामना करने वाले सब लोगों का कर्त्तव्य है कि वे संसार को युद्ध की ओर ले जाने वाले इन मूर्खों का मुकाबला करें और इनको असफल बना दें। इस उद्देश्य की पूर्ति का एकमात्र मार्ग यही है कि सब झगड़ों का सुलझाव शान्तिपूर्वक बातचीत द्वारा होना चाहिए।

किन्तु भारत-सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का अवलोकन करने से कुछ और ही बात व्यक्त होती है। भारत जब से स्वतन्त्र हुआ है तब से लेकर आजतक कम्यूनिज़्म ने जो भी दुराचार संसार के विभिन्न अंचलों में किया है, उस सब का भारत-सरकार ने या तो समर्थन किया है या भारत-सरकार उसके प्रति उदासीन और मौन रही है। तिब्बत में कम्यूनिज़्म के आततायी-चक्र को भारत-सरकार की ओर से जो समर्थन प्राप्त हुआ है, उसका उदाहरण संसार की पापिष्ठ से पापिष्ठ अथवा कायर से कायर सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय नीति के इतिहास में भी उपलब्ध नहीं। दूसरी ओर यह सरकार हर समय हाथ धोकर अमेरिका इत्यादि पाश्चात्य देशों के पीछे पड़ी रहती है। पाश्चात्य देशों के लुप्त-प्राय साम्राज्यवाद को लेकर जो हो-हल्ला सब समय इस सरकार की ओर से होता रहता है, उसको सुनकर कोई भी विचारवान् व्यक्ति यह कहे बिना नहीं रह सकता कि यह सरकार सर्वथा विक्षिप्त है।

किन्तु इस सरकार के कर्णधार द्वारा लिखी पुस्तकों का तथा उनके द्वारा दी गई ढेर-सारी वक्तृताओं का विश्लेषण करने से इस विक्षिप्तता का मूलस्रोत स्पष्ट हो जाता है। वह मूलस्रोत है जवाहरलाल नेहरू की सोवियत-भक्ति। वे किसी दिन भी इस विश्वास से नहीं डिग पाए कि सोवियत् रूस एक सर्वापेक्षा सुसंस्कृत तथा प्रगतिशील समाजवादी देश है। अतएव उनकी गढ़ी हुई अन्तर्राष्ट्रीय नीति सदा ही सोवियत अन्तर्राष्ट्रीय नीति का अन्धानुकरण करती रही है। नेहरू द्वारा तैयार किए हुए कांग्रेस के अन्तर्राष्ट्रीय-नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव तथा सोवियत रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी के तत्कालीन प्रस्ताव साथ रख कर देखते ही संशय नहीं रह जाता कि भाषा के अतिरिक्त अन्य सब दिशाओं में नेहरू के प्रस्ताव सोवियत प्रस्तावों की ही प्रतिलिपि होते हैं। अतएव भारतवर्ष की अन्तर्राष्ट्रीय नीति को किसी भी अंश में अथवा किसी भी दृष्टिकोण से गाँधीवाद द्वारा प्रेरित समझना या बतलाना व्यर्थ की बकवाद है, आत्मप्रवञ्चना है, मिथ्या-प्रचार है। वह अन्तर्राष्ट्रीय नीति शत-प्रति-शत एक कम्यूनिस्ट दृष्टि द्वारा प्रेरित तथा अनुशासित है। भारतवर्ष के अधिकांश राजनीतिक दल इस साक्षात् सत्य को इसीलिए नहीं समझ पा रहे कि वे कम्यूनिज़्म के सिद्धान्त तथा कूट-कौशल से परिचित नहीं और सब समय कम्यूनिज़्म के विषय में कपोलकल्पित बातें कहते-सुनते रहते हैं। देश के गाँधीवादी नेता तो इस दृष्टि से सर्वापेक्षा मूढ़ एवं मिथ्याचारी हैं।

अतएव भारत-सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय नीति को शान्तिवाद की नीति कहना अथवा निष्पक्ष नीति मानना मूढ़ता अथवा मिथ्याचार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। उस नीति का परिणाम अभी तक एक ही हुआ है—कम्यूनिज़्म का निरन्तर प्रसार। कम्यूनिज़्म आज भारतवर्ष के अपने सीमान्त से आ सटा है और अधुना भारत के प्रति आक्रान्त है। यदि इस देश की सरकार ने अपनी पापपूर्ण नीति को नहीं छोड़ा तो इस सारे देश को इस सरकार के पाप का दण्ड भोगना पड़ेगा। और डूबता हुआ भारत सारे एशिया और अफ्रीका को अपने साथ ले डूबेगा। अतएव भारत-सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय नीति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को संसार की किसी भी समस्या का समाधान मानना सरासर भूल है। यह कोरा संयोग नहीं है कि उस नीति का प्रमुख प्रवक्ता कृष्ण मेनन जैसा कट्टर कम्यूनिस्ट है और भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी प्राण-पण से उस नीति का समर्थन तथा प्रचार कर रही है।

प्रश्न उठता है कि यदि भारत-सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय नीति सत्यशः गाँधीवादी होती तो क्या उसके द्वारा इस समस्या का समाधान हो जाता। भारत-सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय नीति को भ्रान्त मानने वाले कुछ गाँधीवादी विश्वास करते हैं और कहते हैं कि विशुद्ध गाँधीवाद संसार का मार्गप्रदर्शन करने में सक्षम है। इस विश्वास का प्रमाण वे लोग यह देते हैं कि जिस गाँधीवाद ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद जैसी सशक्त तथा हिंसापरायण सत्ता को परास्त कर दिया, वह कम्यूनिज़्म का सामना करने में भी अवश्य सफल हो सकती है। अभी तक इस विश्वास के परे किसी गाँधीवादी ने इस प्रसंग पर कुछ नहीं कहा। उनमें से किसी ने भी यह नहीं बतलाया कि वे लोग कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद की सशस्त्र सेना का मार्ग किस प्रकार रोकना चाहते हैं। हाँ, अपने आप को सर्वोदयवादी कहने वाले कुछ गाँधीवादियों ने भारतवर्ष को पूर्ण निरस्त्रीकरण का परामर्श अवश्य दिया है। उनका विश्वास है कि खाकी वर्दी और राईफल को छोड़कर खद्दर का कुर्ता और बाँस की झाड़ू धारण करते ही भारतवर्ष की हिंसापरायण सेना एक शान्तिसेना में परिणत हो जाएगी, और दूसरे क्षण कम्यूनिस्टों के पाषाण-हृदय को भी पानी-पानी बना डालेगी। किन्तु उन लोगों का परामर्श स्वीकार करने योग्य पागलपन अभी-भी इस देश से बहुत दूर है।

अब समय आ गया है कि गाँधीवाद की सारी पोल ही खोल दी जाए। इसका अर्थ यह नहीं कि महात्मा गाँधी के प्रति किसी प्रकार की अवज्ञा प्रकट की जाए। महात्मा जी निस्संदेह ही महापुरुष थे जिनके जीवन में सत्त्वशुद्धि की मात्रा अत्यधिक थी, जो त्यागमूर्ति थे, और जिनका प्रत्येक क्षण अखण्ड तपस्या से आपूर्ण था। किन्तु गाँधीवाद तो गाँधीजी का पर्याय नहीं बन सकता। वह आद्योपान्त एक मिथ्यादृष्टि है जिसका समन्वय भारतवर्ष की निवृत्ति-परायण अध्यात्मपरम्परा तथा ईसाइयत के अहिंसावाद के समन्वय पर एक अत्यन्त छिछले भावविलास का मुलम्मा चढ़ाकर हुआ है। उस दृष्टि से भारतवर्ष का कोई कल्याण किसी दिन नहीं हुआ। इसके विपरीत देश के विभाजन जैसा महापाप इसी दृष्टि के प्रश्रय में हुआ है। भारतवर्ष की स्वाधीनता के अर्जन का श्रेय गाँधीवाद को देने के समान मिथ्याप्रचार और नहीं हो सकता। स्वाधीनता इस देश में गाँधीवाद के कारण नहीं आई। उसका कारण था वीर सावरकर जैसे भारतवर्ष के अनेक सपूतों का आत्म-बलिदान तथा आजाद हिन्द सेना का अभियान। गाँधीवाद ने उस आत्मबलिदान तथा अभिमान पर परदा डाल कर पाप ही कमाया है।

गाँधीवाद की मूलभूत भ्रान्ति है आततायी मनोवृत्ति के अस्तित्व को अस्वीकार करना और हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त को सार्वभौम तथा सार्वजनीन मानना। हृदयपरिवर्तन होता है, किन्तु उसके पूर्व बुद्धि की मान्यताओं का एक होना आवश्यक है। जहाँ बुद्धिगत मान्यताएँ विभिन्न होती हैं, वहाँ शक्ति का सन्तुलन ही निर्णय करने में सफल होता है। और आततायी के अन्तर में न तो बुद्धि ही होती है, न हृदय जैसा स्पृश्य स्पन्दन ही। उसका अन्तर तो एक अन्ध आत्मपोषण की भावना द्वारा अपूर्ण होता है। उसकी बुद्धि इस आत्मपोषण के अतिरिक्त अन्य कोई तर्क अथवा तथ्य त्रिकाल में भी नहीं समझ सकती। अतएव आततायी केवल बलात्कार की क्रिया ही जानता है, और शक्तिसम्पात के सिवाय और कोई उपाय उसको उसके मार्ग से विरत नहीं कर सकता।

ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध संघर्ष में गाँधीवाद को जिस सफलता का आभास होता है, उसका एक कारण यह भी है कि वह सरकार वस्तुतः आततायी नहीं थी। वह सरकार स्वयं मानती थी कि भारतवर्ष को एक-न-एक दिन स्वाधीन होना है। उस सरकार ने ही इस देश की जनता को वे नागरिक अधिकार दिए थे जिनकी छत्रछाया में गाँधीवाद का भावविलास ही नहीं और भी बहुत-सी शक्तियाँ पनप पाईं। उस सरकार को आततायी अथवा हिंसापरायण बतला कर गाँधीवाद की डींग हाँकने वाले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल अपनी बुद्धि के दिवालिएपन तथा अपने हृदय की विकृति का ही परिचय देते हैं। यदि वह सरकार नाज़ी अथवा फासिस्ट अथवा कम्यूनिस्ट सरकारों के समान आततायी होती तो आज इस संसार में गाँधीवाद का नामलेवा भी नहीं मिलता। इसके विपरीत गाँधीवाद के प्रति इन सरकारों द्वारा रचित गन्दी गालियों का एक बड़ा-सा लेखा ही मिलता।

एक आततायी मनोवृत्ति से गाँधीवाद की टक्कर केवल एकबार हुई थी। सो भी गाँधीजी के जीवन-काल में और उनके अपने नेतृत्व के नीचे। वह थी मुस्लिम लीग की आततायी मनोवृत्ति। उस टक्कर के समय गाँधी-वादी ढूँढे भी नहीं मिले थे। अपने-अपने घरों में घुस कर "हिन्दू गुण्डों" को गाली देने के अतिरिक्त उनके करने-धरने के लिए उस दिन कुछ नहीं रह गया था। और गाँधीजी स्वयं उस ज्वाला में जल मरे थे। उनके उस प्रयोग का प्रतीक आज पाकिस्तान के रूप में साक्षात् हमारे सामने विद्यमान है। अतएव आज गाँधीजी यदि जीवित भी होते तो कम्यूनिज़्म के प्रसंग में भी अपनी उसी पुरानी भूल की पुनरावृत्ति के अतिरिक्त वे कोई और मार्गप्रदर्शन करने में सर्वथा असमर्थ रहते। उनकी समस्त दृष्टि ही इस दोष द्वारा दूषित थी। अतएव यह मानना कि गाँधीवाद के पास इस विडम्बना का कोई प्रतिकार है, एक मिथ्या कपोल-कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं।

किन्तु गाँधीजी के विषय में कम से कम यह तो कहा जा सकता है कि वे स्वयं एक सत्त्वशील और साहस-सम्पन्न व्यक्ति थे। वे अपनी दृष्टि के आधार पर संघर्ष करने से कभी पश्चात्पद नहीं हुए। और उसी दृष्टि के लिए उन्होंने प्राणोत्सर्ग भी कर दिया। अन्य गाँधीवादियों के विषय में तो इतना भी नहीं कहा जा सकता। आज के गाँधीवादी तो अहंकार-विमूढ़ प्राणियों के ही पर्याय हैं। वे तो आततायी के विरुद्ध संघर्ष करने वालों की अजस्र निन्दा करने और अपनी पुण्य-प्रवृत्तियों का प्रचार करने के समान श्रेष्ठ काम अन्य किसी भी काम को नहीं मानते। गाँधीजी ने कभी नहीं कहा कि पापी का विरोध मत करो। पापी का विरोध करना उनके लिए प्रथम कर्त्तव्य था। वे केवल इतना आग्रह करते थे कि वह विरोध यदि अहिंसात्मक उपायों से हो तो श्रेयस्कर है। परन्तु साथ ही वे यह भी कहते थे कि जिन लोगों में ऐसा अहिंसात्मक विरोध करने की क्षमता अथवा धैर्य नहीं, वे शस्त्र द्वारा पापी का विरोध कर सकते हैं। उनके मत में धर्म और अधर्म के इस अनवरत युद्धक्षेत्र से पलायन करने जैसा कोई महापाप नहीं था। किन्तु आज का गाँधीवाद तो पलायन की इस कापुरुषवृत्ति का ही दूसरा नाम है। स्वयं सुबह-शाम चरखा चलाने के अतिरिक्त कुछ करना नहीं, और अन्य कोई कुछ करे तो उसको बुरा-भला कहना—संक्षेप में गाँधीवाद का यही तो मर्म रह गया है। अतएव एक मुष्टिमेय मिथ्याचारी लोगों की आत्मश्लाघा का साधन होने के अतिरिक्त गाँधीवाद आज किसी समस्या का समाधान नहीं रहा। उसको अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का समाधान कह कर प्रचारित करना हास्यास्पद है। गाँधीवाद के इस प्रकार दिवालिए हो जाने के कारण ही यह सम्भव हो सका है कि नेहरू के समान नास्तिक की कम्यूनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय नीति आज गाँधीवादी नीति कहला गई, और किसी गाँधीवादी से इस पाखण्ड का प्रत्याख्यान करते नहीं बन पड़ा।

(३)

इस देश में ऐसे लोगों का भी एक दल है जो भारत-वर्ष की पुरातन परम्परा के प्रति श्रद्धा-सम्पन्न है, और जो मुख से न कहकर भी मन से यह मानते हैं कि गाँधी-वाद दीवालिया है और नेहरूवाद सोवियतवाद का ही नामान्तर है। ये लोग अन्तर्राष्ट्रीय नीति के विषय में एक अन्य मत का प्रतिपादन करते हैं, और कहते हैं कि भारत-वर्ष की अन्तर्राष्ट्रीय नीति भारतीय संस्कृति तथा मर्यादा के अनुकूल ही होनी चाहिए। भारत की संस्कृति तथा मर्यादा में सनातन सत्य का समावेश है। अतएव यह देखना होगा कि वह सनातन सत्य इन लोगों द्वारा निर्दिष्ट नीति में प्रतिबिम्बित हुआ है अथवा नहीं। यदि हुआ है तो वही नीति सिद्धान्त रूप में सारे संसार के लिए सम्यक् होगी। यदि नहीं हुआ है तो सनातन आधारों का अन्वेषण करना पड़ेगा और उन आधारों के अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय नीति की रूप-रेखा नए सिरे से बनानी पड़ेगी।

प्रथमतः इस दल के लोग यह स्वीकार करते हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेहरू की नीति के आधारभूत सिद्धान्त सम्यक् हैं और भारतवर्ष को प्रस्तुत प्रतिद्वन्द्व में निष्पक्ष ही रहना चाहिए। वे लोग यह भी मानते हैं कि नेहरू की नीति ने संसार की शान्ति को बनाए रखने में संसार की अभूतपूर्व सेवा की है। किन्तु उन लोगों को यह शिकायत है कि नेहरू की नीति से भारतवर्ष के अपने स्वार्थों की रक्षा नहीं हो पाई। इतना ही नहीं, भारतवर्ष के सम्यक् स्वार्थ भी सर्वत्र संकट-ग्रस्त हो गए। अतएव उन स्वार्थों की रक्षा के लिए उस नीति में उचित हेर-फेर होने चाहिएँ। विशेषकर पाकिस्तान के प्रसंग में। और अन्त में वे लोग कहते हैं कि किसी भी राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का सम्यक् आधार उसके अपने स्वार्थों की रक्षा ही हो सकती है।

संसार में कम्यूनिस्ट तथा गैर-कम्यूनिस्ट राष्ट्रों के बीच जो संघर्ष चल रहा है, उसके प्रसंग में इस दल के लोग सत्यशः तटस्थ हैं। वे यह तो मानते हैं कि कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद संसार के लिए एक बहुत बड़ा संकट है। किन्तु उस संकट से पार पाने के लिए वे किसी संसार-व्यापी संगठन की आवश्यकता नहीं समझते। यही नहीं, ऐसे किसी संगठन की बात उठते ही उन लोगों को भी पाश्चात्य साम्राज्यवाद की गन्ध आने लगती है। और अन्ततः देखा जाता है कि वस्तुतः उन लोगों की दृष्टि भारतवर्ष के वर्तमान सीमान्तों का अतिक्रमण करके किसी अन्य अंचल में जाना ही नहीं चाहती। यदि संसार के घटनाक्रम का सम्पात उनकी दृष्टि को अन्यत्र खींच भी ले जाता है तो वह दृष्टि एकबारगी लड़खड़ा जाती है। फिर वे लोग वे ही बातें कहते हैं जो नेहरू के मुख से, अर्थात्, कम्यूनिस्ट पक्ष से सुनी जाती हैं।

अतएव यह नहीं माना जा सकता कि इस संकीर्ण राष्ट्रवाद में, कौटल्य और कामन्दक के परे, किसी भी भारतीय राजनीति की परम्परा का समावेश है। भारतवर्ष की सनातन आस्था तो उस सूत्र में व्यक्त है जो सारी वसुधा को ही एक कुटुम्ब बतलाता है। उस आस्था के न्याय से अपना राष्ट्र, धर्म की सार्वभौम रक्षा के लिए आदिस्थल है और उस राष्ट्र के धर्मानुकूल स्वार्थों की रक्षा प्राण-पण से होनी चाहिए। किन्तु उस आस्था के आधार पर किसी भी प्रकार के संकीर्ण राष्ट्रवाद का प्रासाद किसी दिन नहीं खड़ा किया जा सकता। सब प्रकार का संकीर्ण राष्ट्रवाद तो आधुनिक पाश्चात्य की परम्परा है। आधुनिक पाश्चात्य के समाजशास्त्री ही राष्ट्र के भीतर व्यक्ति के स्वार्थ को आदिप्रेरणा मानते हैं, और राष्ट्र के बाहर राष्ट्र के स्वार्थ को। फिर चाहे वह स्वार्थ कैसा ही क्यों न हो। पाश्चात्य की वह परम्परा इस सूत्र में व्यक्त है—My country, right or wrong (अर्थात्, गलत हो या सही, मेरे देश की बात बननी चाहिए।) इस सूत्र में तो किसी सनातन परम्परा का समावेश नहीं। अतएव इस सूत्र के द्वारा अनुप्राणित अन्तर्राष्ट्रीय नीति को किसी भी प्रकार भारतवर्ष की सनातन परम्परा पर आधारित नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार का राष्ट्रवाद सर्वथा सत्त्वहीन ही रहा है, और रहेगा। इस प्रकार के राष्ट्रवाद का जब भी किसी अन्तर्राष्ट्रीयवाद से पाला पड़ता है, तभी यह परास्त होता हुआ दिखलाई देता है। कारण, मनुष्य का मानस संकीर्ण से बृहत्तर की ओर जाता है। वह मानस संकीर्णता में उसी समय तक लिप्त रहता है जब तक कि वह किसी बृहत्तर की बात नहीं सुन पाता। बृहतर की बात सुनते ही वह संकीर्णता से परांगमुख होने लगता है। यही कारण है कि कम्यूनिस्टों के अन्तर्राष्ट्रीयवाद के सामने सब प्रकार का संकीर्ण राष्ट्रवाद पानी-पानी हो जाता है। यही कारण है कि नेहरू के अन्तर्राष्ट्रवाद से टक्कर खाते ही भारतवर्ष के भीतर सब प्रकार का संकीर्ण राष्ट्रवाद सिर छुपाने को स्थान नहीं खोज पाता।

और अन्ततोगत्वा तो यह संकीर्ण राष्ट्रवाद किसी राष्ट्र के स्वार्थों की रक्षा करने में भी सक्षम नहीं। संसार में यदि वे शक्तियाँ प्रसार पा जाती हैं जो उन स्वार्थों की घातक हैं तो उन स्वार्थों का संकटग्रस्त हो उठना अनिवार्य है। एक न एक दिन तो उन शक्तियों के साथ संघर्ष करना ही पड़ता है। अन्तर इतना ही है कि उनके साथ वह संघर्ष कब और किस स्थान पर किया जाए। वे शक्तियाँ बहुत आगे न बढ़ पाई हों, उस समय अथवा उस समय जब कि वे शक्तियाँ बहुत आगे बढ़ गई हों। वे शक्तियाँ अपने राष्ट्र से दूर रहें उस स्थान पर, अथवा वे शक्तियाँ जिस स्थान पर अपने राष्ट्र के सीमान्त से आ लगें उस स्थान पर। समय और स्थान का यह अन्तर तो किसी मूलभूत अन्तर का संकेत नहीं करता। अन्तर यही है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आग घर के पास आ जाने पर उसको बुझाने का प्रयास किया जाए अथवा उसको बुझाने का प्रयास उस समय किया जाए जब कि वह पड़ौसी के घर में लगी हुई हो। पड़ौसी के घर में लगी आग की ओर से आँखें फेर कर बैठ जाना संकीर्णता ही नहीं, दूरदर्शिता का भी अभाव है। इस दोहरे दोष के कारण इस प्रकार की नीति कभी कल्याणप्रद नहीं हो सकती। उसके फलस्वरूप अकल्याण की सम्भावना ही अधिक है।

फिर स्वार्थ तथा परार्थ के बीच भेद कर पाना भी कठिन है। कुल के स्वार्थ को परार्थ की संज्ञा देकर अपने स्वार्थ का अनुसरण करने वाला व्यक्ति स्वयं भी क्षय को प्राप्त होता है, और कुल की क्षति करता है। ग्राम के स्वार्थ को परार्थ की संज्ञा देकर अपने स्वार्थ का अनुसरण करने वाला कुल स्वयं भी क्षय को प्राप्त होता है और ग्राम की भी क्षति करता है। इसी प्रकार राष्ट्र के स्वार्थ को परार्थ बतला कर किसी ग्राम, प्रदेश अथवा अंचल के स्वार्थ की रक्षा करने का प्रयत्न अपने आप में विनाश का उत्पादक है। तर्क की इस परम्परा को तनिक आगे बढ़ा कर कहा जा सकता है कि मानव-जाति के स्वार्थ को परार्थ कह कर अपनी रक्षा के लिए प्रयत्नवान राष्ट्र पाप का भागी ही नहीं, आत्महत्या के लिए भी उतारू है।

भारतीय परम्परा में, जो कि सनातन परम्परा भी है, व्यक्ति के ऊर्ध्वतम स्वार्थ को अर्थात् उस के आत्मा के स्वार्थ को ही उसका सच्चा स्वार्थ माना गया है। और वही परार्थ भी है। कारण, आत्मा के स्तर पर व्यक्ति अपने से बाहर अन्य सब व्यक्तियों के साथ ऐकात्म्य का अनुभव करता है। फिर वह अपने और पराए के बीच अन्तर देख ही नहीं पाता। जो उसका अपना है, वह पराया भी हो जाता है। ऐकात्म्य की उस भावना का पोषण करने के लिए व्यक्ति अपने अन्तर की निम्नस्थ प्रवृतियों के विरुद्ध संघर्ष करता है। तब उसको यह प्रतीत नहीं होता कि वह परार्थ के लिए किसी स्वार्थ का हनन कर रहा है। और वे ही निम्नस्थ प्रवृतियाँ जब उसके बाहर के वातावरण में प्रसार पाती हैं तो वह व्यक्ति उनके विरुद्ध भी संघर्ष करने निकल जाता है। उस समय अन्तर और बाहर का वह संघर्ष उसको एक ही संघर्ष का अखण्ड प्रसार प्रतीत होता है।

आज भारतवर्ष के भीतर कम्यूनिज़्म के विष का प्रसार बहुत दूर तक हो चुका है। यह तो सभी राष्ट्रवादी स्वीकार करते हैं कि यदि वह विष और आगे बढ़ा तो उसकी ज्वाला से भारतवर्ष का ऐतिह्य ही जल जाएगा। न बच पाएगी भारतवर्ष की पुरातन परम्परा, न बच पाएगी भारतवर्ष की अद्यतन उदारवादी राजनीतिक प्रणाली, और न अक्षुण्ण रहेगी भारतवर्ष की सद्यप्राप्त स्वाधीनता। अतएव राष्ट्र के स्वार्थ का प्रत्येक पोषक राष्ट्र के अन्तर में कम्यूनिज़्म के प्रसार का विरोधी है। तो फिर वही राष्ट्रवादी अपने पड़ौस में और अपने प्रत्यन्त पर उसी विष का प्रसार होते देखकर किस प्रकार निश्चेष्ट रह सकता है? पड़ौस के देशों को वह विषदग्ध करदे और वह फिर फैल कर इस देश को भी न लील जाए, यह तो हो नहीं सकता। अतएव पड़ौस के प्रति निष्पक्ष अथवा निश्चेष्ट रहना अन्धे होने के समान है। उस अन्धता के कारण न तो स्वार्थ की संज्ञा रहती है, न परार्थ की पहिचान।

और पड़ौस के विषय में जो सत्य है, वही सारे संसार के विषय में भी सत्य है। विष का व्यापार यदि विश्वव्यापी हो तो उसका विरोध उसके प्रथम प्रस्फुटन पर ही सब ओर से होना चाहिए। सारा संसार एक प्रांगण ही तो है। विभिन्न राष्ट्र वस्तुतः उस एक ही प्रांगण के विभिन्न कक्ष हैं। एक कक्ष में जो हो रहा है, उसका विरोध यदि नहीं हो पाता तो वह दूसरे कक्ष में भी होकर रहेगा। कोई भी कक्ष अपनी दीवार को दीर्ण होने से नहीं बचा सकता। केवल पीठ फेरकर बैठ जाने से भी उस कक्ष की प्रक्रिया प्रसार पाने से नहीं रुक सकेगी। हाँ, पीठ फेरकर बैठने वाला कुछ काल के लिए अपना मन बहला सकता है कि वह उस विडम्बना से बच गया।

कम्यूनिज़्म एक विश्वव्यापी विष है। उसका प्रसार एकमात्र भारतवर्ष में ही नहीं, संसार के प्रत्येक राष्ट्र में है। अतएव भारतवर्ष उसके इस सार्वभौम प्रसार के प्रति अन्धा नहीं रह सकता। भारतवर्ष का राष्ट्रवादी यह नहीं कह सकता कि वह भारतवर्ष के भीतर उस विष से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विग्रह करेगा। किन्तु भारतवर्ष के बाहर उसके प्रति तटस्थ रहेगा अथवा भारतवर्ष के किसी स्वार्थ की साधना के लिए उस विष का प्रश्रय प्राप्त करेगा। यदि वह ऐसी बात कहता है तो वह राष्ट्रवादी नहीं। उसने राष्ट्रवाद के सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार ही नहीं किया। उसके लिए राष्ट्रवाद एक मिथ्या मोह मात्र है।

किन्तु भारत के राष्ट्रवादी ने किया है ऐसा ही। योरप के दस बारह देशों को सशस्त्र कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद ने जीत लिया। भारतवर्ष का राष्ट्रवादी तटस्थ रहा। योरप तो बहुत दूर है। वहाँ जो हुआ वह हुआ करे। भारतवर्ष को उससे क्या लेना देना। अथवा भारत के राष्ट्रवादी ने पाश्चात्य के साम्राज्यवाद के साथ कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद की समता का सिद्धान्त घढ़कर एक नखचिढ़े आभिजात्य का स्वाँग रचा। सो भी उस समय जबकि उसकी आँखों के सामने पाश्चात्य का साम्राज्यवाद उसके अपने देश से प्रत्यावर्तन कर रहा था। अथवा भारत के राष्ट्रवादी ने कम्यूनिज्म के साम्राज्यवाद को पाश्चात्य साम्राज्यवाद का दुर्निवार्य दुष्परिणाम मानकर अपने मन का समाधान कर लिया। किसी भी प्रकार वह यह नहीं देख पाया कि कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद के विषय में अलग से विचार करना प्रयोजनीय है।

अगले दिन वही कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद चीन को खा गया और कोरिया तथा हिन्दचीन पर चढ़ दौड़ा। किन्तु भारतवर्ष का राष्ट्रवादी च्यांग काई-शेक, सिंगमैन री तथा बाओ दाई को गाली देकर अपने कर्त्तव्य की पूर्ति मान बैठा। सो भी उस समय जब कि उसके अपने देश में वही कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद अग्निकाण्ड और हत्याकाण्ड मचा रहा था। भारतवर्ष का राष्ट्रवादी यह मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ कि उसके देश के भीतर कम्यूनिस्टों के कुकृत्य का मूलभूत कारण भारतवर्ष का ही कोई कुकृत्य है। किन्तु चीन, कोरिया तथा हिन्दचीन के विषय में उसने तुरन्त फतवा दे दिया कि उन देशों के कुकृत्यों के कारण ही वहाँ पर कम्यूनिज्म के कुकृत्य सम्भव हो पाए हैं। उसने एक बार भी यह सोच कर नहीं देखा कि इस तर्क के पीछे कितने तथ्य का समावेश है। तर्क की झोंक में उसने तथ्यों की भी कल्पना करली।

तदुपरान्त कम्यूनिज्म ने तिब्बत को उदरसात कर लिया। भारतवर्ष के राष्ट्रवादी को यह बात बुरी लगी। किन्तु इसलिए नहीं कि तिब्बत पर अनाचार हुआ था। प्रत्युत केवल इसीलिए कि वह मन ही मन तिब्बत को भारतवर्ष का ही एक अंग मानता था। फिर भी उस अंग की रक्षा के लिए, उस अंग पर होने वाले अनाचार के विरोध में भारतवर्ष के राष्ट्रवादी के मुख से एक शब्द नहीं निकला। किसी ने उसको टोका तो उसने कह दिया कि भारतवर्ष की सरकार ही जब निष्क्रिय है तो वह क्या करे। भारतवर्ष की सरकार की इस निष्क्रियता को नष्ट करने की कोई चेष्टा तो भारतवर्ष के राष्ट्रवादी से उस दिन नहीं बन पड़ी। वह उस निष्क्रियता की व्याख्या करके ही रह गया।

तदनन्तर नेहरू ने तिब्बत की लाश पर बैठकर पंचशील की नीति प्रज्ञापित की। इस नीति के समान नपुंसकता-पूर्ण और निन्दनीय नीति का उदाहरण सारे संसार के इतिहास में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। किन्तु नेहरू ने इसी नीति को बौद्ध-धर्म तथा गाँधीवाद में निष्यन्दित बतला कर निनाद किया। तब किसी राष्ट्रवादी से यह नहीं बन पड़ा कि वह तनिक उस नीति की शब्दावलि भी देख ले। यदि वह उस शब्दावलि पर खोज करता तो उसको तुरन्त ही ज्ञात हो जाता कि वह शब्दावलि न तो त्रिपिटक अथवा अन्य किसी बौद्ध ग्रन्थ में प्राप्य है, न ही गाँधी जी के किसी लेख अथवा प्रवचन में। वह शब्दावलि चाऊ-अन-लाई ने लेनिन द्वारा ब्रैस्ट-लिट्वोस्क की सन्धि के समय घोषित कूट-नीति के सिद्धान्त में से उठा कर नेहरू के सामने रक्खी थी। और कम्यूनिस्टों के प्रत्येक अन्य नारे की नाई नेहरू ने उसको भी बिना देखे-भाले सीधा निगल लिया था। किन्तु भारतवर्ष का राष्ट्रवादी पंचशील को लेकर छाती फुलाने लगा। वह कहने लगा कि एकमात्र भारतवर्ष ही अध्यात्मवादी नीति का अधिष्ठान है। हाँ, एकान्त में बैठकर वह अवश्य शिकायत करता था कि इस नीति से भारत का नाम कितना ही ऊँचा क्यों न उठा हो, भारत के किसी स्वार्थ की रक्षा तो इस नीति से हुई नहीं।

और अब कम्यूनिज्म ने हमारे अपने घर के भीतर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाँव बढ़ा दिया है। कम्यूनिज़्म आँखें तरेर कर कह रहा है कि भारतवर्ष के भीतर यदि शान्तिपूर्वक कम्यूनिस्ट सरकार का गठन नहीं हुआ तो वह भारतवर्ष की ईंट-से-ईंट भिड़ा देगा। भारतवर्ष का राष्ट्रवादी चीन की ओर से आने वाले इस कम्यूनिस्ट संकट के विरुद्ध चीत्कार कर उठा है। किन्तु वह यह नहीं देख पाता कि इस संकट का केन्द्र रूस है। इसके विपरीत वह रूस को इस प्रसंग में तटस्थ मानकर पाकिस्तान के विरुद्ध रूस की सहायता प्राप्त करने के लिए लालायित है। भारतवर्ष का राष्ट्रवादी गोआ में दिखलाए गए "भारतीय पराक्रम" के गाने गा रहा है। किन्तु चीन के सीमान्त पर दिखलाई गई भारतीय कापुरुषता उसके मानस में केवल खेद ही उपजा पाती है। और अब जब कि कम्यूनिस्ट दल भारतवर्ष को पाकिस्तान के साथ पिल पड़ने के लिए उकसा रहा है तो भारतवर्ष का राष्ट्रवादी एक प्रकार से यह भूलता जा रहा है कि इस देश को संकट-ग्रस्त करने वाली विभीषिका पाकिस्तान नहीं, कम्यूनिस्ट चीन है।

(४)

अतएव सनातन अन्तर्राष्ट्रीय नीति के आधार सनातन धर्म की जन्मभूमि की अन्तर्राष्ट्रीय नीति में नहीं मिलते भारत सरकार तो सरासर एक कम्यूनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय नीति का आश्रय लिए हुए है और उस नीति का विरोध करने वाले दल संकीर्ण राष्ट्रवाद के अतिरिक्त अन्य किसी प्रेरणा से परिचित नहीं। ऐसी अवस्था में सनातन अन्तर्राष्ट्रीय नीति के आधार हमें अपने पावन शास्त्रों तथा पुरातन साम्राज्यों की परम्परा में से ही उद्धृत करने होंगे। किन्तु उसके पूर्व एक अन्य धाँधली के विषय में स्पष्टीकरण कर देना प्रयोजनीय है।

आज के संसार में कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद तथा अन्य राष्ट्रों के बीच जो विश्वव्यापी संघर्ष चल रहा है, उसको बहुत बार रूस तथा अमेरिका का संघर्ष बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। रूस अपने-आप को समाजवादी देश कहता है, और अमेरिका अपने-आप को पूँजीवादी देश। अतएव अधिकतर लोग इस संघर्ष को समाजवाद तथा पूँजीवाद का संघर्ष भी मान बैठे हैं। कम्यूनिस्ट-विरोधी समाजवादियों में तो इस भ्रान्ति का प्रचार सबसे अधिक बढ़ा-चढ़ा है। यदि कम्यूनिज्म का विरोध करने वाला व्यक्ति अथवा दल समाजवादी न हो तो समाजवाद को मानने वाले अधिकांश लोग सहज ही यह धारणा बना लेते हैं कि वह व्यक्ति अथवा दल पूँजीवाद का पृष्ठ-पोषक तथा अमेरिका का वेतनभोगी भृत्य है। वैसे अमेरिका का वेतन भोगी भृत्य बनने में किसी समाजवादी को स्वयं संकोच नहीं होता। आज भारतवर्ष में यदि अमेरिका के वेतनभोगी भृत्य कहीं हैं तो वे किसी-न-किसी समाजवादी दल से ही लिए गए हैं। फिर भी उस प्रसंग में हम यहाँ नहीं पड़ेंगे। यहाँ हम इतना ही कह देना चाहते हैं कि कम्यूनिज्म का विरोध करने वाली सब प्रकार की शक्तियों का यह कोष्ठीकरण नितान्त भ्रमोत्पादक है।

पूँजीवाद के प्रति जिन लोगों की श्रद्धा सकारात्मक है, वे भी इसी प्रकार की बात कहते हैं। वे मानते हैं कि कम्यूनिज्म का विरोध पूँजीवाद से है। पूँजीवाद का गढ़ है अमेरिका। अतएव अमेरिका ही कम्यूनिस्ट-विरोधी शक्तियों का नेता है। जिस किसी को कम्यूनिज्म का विरोध करना हो, उसी को अमेरिका के पक्ष में हो जाना चाहिए, और अमेरिका के साथ अपने राष्ट्र की सैनिक सन्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार का मनोरथ रखने वाले लोगों की इस देश में भी कमी नहीं। हाँ, बदनाम हो जाने के डर से वे लोग खुलकर यह बात नहीं कहते। उस देश का वातावरण ही कुछ ऐसा बन गया है कि अमेरिका का धन तो यहाँ अनन्त परिमाण में लिया जा सकता है किन्तु अमेरिका के विषय में श्लाघा के दो शब्द कोई नहीं कह सकता। यह वातावरण कम्यूनिस्ट पार्टी ने बनाया है और वही उसका लाभ भी उठा रही है। और अमेरिका से आने वाला सारा सम्बल इस देश के कम्यूनिस्टों को ही सशक्त बनाने में काम आ रहा है।

हम यह नहीं मानते कि सिद्धान्त की दृष्टि से प्रस्तुत संघर्ष पूँजीवाद और कम्यूनिज्म के बीच है। कम्यूनिस्ट राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था तथा राज्यप्रणाली समाजवादी है अथवा अन्य किसी प्रकार की। इस विवाद में पड़ना व्यर्थ है। कारण, समाजवाद की तो कोई निश्चित परिभाषा नहीं। समाजवाद के सैंकड़ों सम्प्रदाय हैं और प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी पृथक् परिभाषा देता है। उन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प्रदायों के बीच यदि कोई ऐक्य है तो केवल यही कि वे सब पूँजीवाद के विरोधी हैं। अतएव कम्यूनिस्ट राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था और राज्यप्रणाली समाजवादी हो भी सकती हैं, और नहीं भी। किन्तु कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद का संघर्ष जिन देशों के विरुद्ध चल रहा है, उनमें बहुत कम ऐसे देश हैं जो अपने आप को पूँजीवादी कहना पसंद करें। उन में से पाश्चात्य के अधिकतर देश तो अपने-आपको समाजवादी कहकर अपना परिचय देते हैं। एशिया तथा अफ्रीका के देशों में भी अधिकतर देश समाजवाद की पताका फहरा चुके है। कुछ अन्य देश अपने-आपको मुसलमानी, बौद्ध अथवा गणतान्त्रिक इत्यादि कहते हैं। सारांश यह है कि कम्यूनिस्ट साम्राज्य के अन्तर्गत राष्ट्रों के समान उस साम्राज्य के बाहर वाले देशों में किसी भी एक सिद्धान्त अथवा प्रणाली का एकच्छत्र प्रचार अथवा प्रसार नहीं।

न ही यह संघर्ष अमेरिका तथा रूस के बीच है। अमेरिका भले ही अपने नेतृत्व की डोंडी पीटता रहे, किन्तु सत्य यह है कि धन लेने के प्रसंग को छोड़कर आज संसार का कोई भी देश अमेरिका की हाँ में हाँ मिलाने के लिए तैयार नहीं। इतना ही नहीं, धन लेने के लिए भी अमेरिका की हाँ में हाँ मिलाना आवश्यक नहीं। कारण, यह बार-बार देखा गया है कि अमेरिका का धन साधारणतया उन्हीं लोगों को अधिक मिलता है जो अमेरिका को गाली देते रहते हैं। अतएव अमेरिका के पक्ष जैसे नाम का कोई पक्ष संसार में विद्यमान नहीं। कई एक राष्ट्र हैं जो अमेरिका के साथ सैनिक सन्धि किये बैठे हैं। किन्तु उस सन्धि के माध्यम से वे राष्ट्र अपने संकीर्ण स्वार्थों की ही साधना करने के लिए प्रयत्नवान् हैं। अमेरिका की कोई बात वे किसी दिन नहीं मानते, और न ही अमेरिका उनकी कोई बात किसी दिन मानता है।

अतएव इस संघर्ष का रूप कुछ और ही है। यह संघर्ष अन्ततः उन दो परम्पराओं के बीच है जिनमें से एक (अर्थात् कम्यूनिस्ट) सब प्रकार के व्यक्तियों, वर्गों तथा राष्ट्रों पर बलात्कार करके उनके ऊपर अपनी अमानुषीय प्रणाली लाद देना चाहती है, और दूसरी (अर्थात् ग़ैर-कम्यूनिस्ट) किसी-न-किसी अंश में व्यक्ति, वर्ग तथा राष्ट्र की स्वायत्तता को स्वीकार करती है। उस स्वायत्तता का स्वरूप क्या हो, उसकी सीमाएँ कहाँ रक्खी जाएँ, उसके द्वारा कौन-से ध्येय की पूर्ति होगी—इन सब प्रसंगों पर इस दूसरी परम्परा के अन्तर्गत अनेक वाद-विवाद हैं। फिर भी वे सब सम्प्रदाय यह मानकर चलते हैं कि स्वायत्तता का सिद्धान्त स्वीकार होना चाहिए। उन सबकी एकता का अन्ततः यही सूत्र है।

यह भी स्पष्ट है कि उस दूसरी परम्परा को अपनी बातें कहने का जो अवसर अभी तक प्राप्त है, उसका अधिकतर श्रेय अमेरिका की शस्त्र-शक्ति को ही मिलना चाहिए। यदि अमेरिका के साथ उलझने का भय नहीं होता तो कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद कुछ दिन में ही सारे संसार को पददलित कर डालता। अन्य किसी भी राष्ट्र में अकेले अथवा दूसरों के साथ मिलकर भी कम्यूनिज्म के अभियान को अवरुद्ध करने की क्षमता द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त नहीं रही। न ही निकट भविष्य में अमेरिका के बाहर किसी राष्ट्र अथवा अंचल में वैसी क्षमता का उद्भव सम्भव दिखलाई देता है। अतएव प्रत्येक ग़ैर-कम्यूनिस्ट राष्ट्र एक प्रकार से अमेरिका द्वारा अनुग्रहीत अवश्य है। आज सारा संसार यदि कम्यूनिज्म के कराल पाश में जा गिरे तो भी अमेरिका यदि चाहे तो वह अपनी रक्षा अकेला कर सकता है। महायुद्ध के बिना अमेरिका पर अधिकार प्राप्त करना कम्यूनिज्म के लिए सम्भव नहीं। और महायुद्ध में वह स्वयं भी स्वाहा हो जायेगा।

किन्तु अमेरिका की छत्रच्छाया के प्रति कृतज्ञ अथवा आकृष्ट होकर किसी भी देश का अमेरिका के साथ किसी प्रकार की सैनिक सन्धि में बँध जाना और अमेरिका के नागरिकों के लिए अपने देश के द्वार खोल देना भी खतरे से खाली नहीं। यह बार-बार देखा गया है कि अमेरिका के साथ सन्धि-सम्बन्ध स्थापित करने वाले एशिया के देश भीतर से बहुत शीघ्र खोखले हो गए और जब कम्यूनिज्म ने उन पर आक्रमण किया तो न वे स्वयं और न अमेरिका ही उनकी रक्षा कर पाया। अतएव कम्यूनिज्म से भयभीत होकर अमेरिका के साथ सैनिक सन्धि करना भी कल्याण-प्रद प्रतीत नहीं होता। इसका कारण भी स्पष्ट है। ऐसी सन्धि के फलस्वरूप अमेरिका की सभ्यता-संस्कृति में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकण्ठ भरा हुआ दुराचार भी उस देश में द्रुततर गति से फैल जाता है। और जब उस देश पर कम्यूनिज़्म की विभीषिका आती है तो अमेरिका उसी दुराचार की दुहाई देकर किनारा कर जाता है अथवा उस देश को अपनी कठपुतली बनाने का प्रयत्न करता है।

आज संसार के सामने जो समस्या है उसका मर्म यही है कि जहाँ कम्यूनिज़्म के पास अतुल शक्ति है और उस शक्ति का सम्पात सुझाने वाली एक दृष्टि भी है, वहाँ अमेरिका के पास केवल शक्ति है किन्तु उस शक्ति का सम्पात सुझाने वाली दृष्टि नहीं। अथवा अमेरिका के पास जो भी दृष्टि है, उसके आधार पर किसी दूरदर्शी और दीर्घकाल तक क्रियान्वित की जाने वाली नीति अथवा योजना को खड़ा किया नहीं जा सकता। कारण, अमेरिका की बुद्धि में किसी भी प्रकार की व्यवसायात्मिकता का किंचित्मात्र भी समावेश नहीं। वह बुद्धि अत्यन्त चंचल है। वह आज जो निश्चय करती है, उसी के प्रति कल पश्चात्ताप-परायण हो जाती है। वह बुद्धि सदा मित्र की खोज में घूमती रहती है। किन्तु जो भी उसकी मित्रता को स्वीकार करता है, उसी की भीषण भर्त्सना उसी क्षण से करना आरम्भ कर देना उस बुद्धि का स्वभाव है। अतएव उस बुद्धि के बल पर अमेरिका के लिए कुछ भी कर पाना असम्भव है। वह बुद्धि घबराकर शस्त्रसम्पात करना ही सीखी है। शस्त्रसम्पात की आवश्यकता ही न पड़े, इस प्रकार से संघर्ष करने का रहस्य उस बुद्धि को ज्ञात नहीं। और यदि कोई वह रहस्य उस बुद्धि को वतलाये तो वह उसको ग्रहण करने के लिए भी तैयार नहीं।

आज आवश्यकता है इस बात की कि संसार में किसी ऐसी दृष्टि का उदय हो जो अमेरिका को अपनी शक्ति का सम्पात करना सिखलाए। सैनिक शक्ति का सम्पात नहीं। दूसरे प्रकार की शक्ति का सम्पात। और ऐसा सम्पात कि जिसके फलस्वरूप शस्त्रसम्पात चिर-दिन के लिए अप्रयोजनीय हो जाए तथा कम्यूनिज़्म की विभीषिका शान्तिमय संघर्ष द्वारा ही परास्त हो जाए। और यह बात भी विगत-संशय है कि इस प्रकार की दृष्टि का उदय भारत-भूमि के बाहर अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता। कारण, भारत-भूमि में ही उस सनातन-धर्म का उदय हुआ था जिसने सब प्रकार के समन्वय समझे और सृष्ट किये थे और जिसने एक ऐसी समाजव्यवस्था का सूत्रपात किया था जो कि आज भी अनेक प्रकार के समन्वयों के संकेत वहन करती है। साथ ही साथ सनातन-धर्म ने सब प्रकार की आततायी प्रवृत्तियों को समझकर उनके साथ संघर्ष करना तथा उनपर विजय पाना भी इस देश को सिखलाया था। अनेक प्रकार के आततायियों से अनेक युग तक संघर्ष करके भारतवर्ष जो अपने ऐतिह्य को अभी तक अक्षुण्ण रख पाया है, वह उसी सनातन-धर्म द्वारा प्रदत्त दृष्टि का परिणाम है।

यह माना कि आज भारत-भूमि में ही सनातन-धर्म तथा उस धर्म द्वारा प्रवर्तित अनेक प्रकार की परम्पराओं का उत्तरोत्तर विलोप होता जा रहा है और यहाँ भी आधुनिक पाश्चात्य की उस मिथ्यादृष्टि का प्रचार एवं प्रसार बढ़ता जा रहा है जिसके कारण आज संसार इस प्रकार विडम्बना-ग्रस्त हो गया है। यह भी सत्य है कि उस सनातन-धर्म की दृष्टि में भारतवर्ष को पुनरेण निविष्ट करने के लिए एक बहुत बड़े संघर्ष की आवश्यकता पड़ेगी। कारण, मिथ्यादृष्टि के पक्ष में आज इस देश का सारा सम्बल है। किन्तु फिर भी इस बात में संशय नहीं कि सनातन-धर्म का सिंहनाद इस देश की सोई हुई जनता को फिर से जगा सकता है। वह जनता अभी तक अपने शासक-वर्ग के समान सनातन-धर्म को विस्मृत करके आत्मविस्मृति के गहन गर्त में नहीं गिर पाई है। उस दिन महात्मा गाँधी ने उस जनता को सनातन-धर्म के नाम पर ही संयत और सचेष्ट किया था। और सनातन-धर्म के नाम पर वह जनता फिर से संयत और सचेष्ट हो सकती है। केवल सनातन-धर्म के सिद्धान्तों को समझकर, साधना द्वारा उनको हृदयंगम करके, उनको जनता के सामने रखने की आवश्यकता है। जनता तुरन्त पहिचान लेगी कि वे सिद्धान्त उसकी अपनी परम्परागत पैतृक सम्पत्ति हैं। और जागी हुई जनता भारत के वर्तमान शासक-वर्ग का साथ छोड़कर सनातन-धर्म के आह्वान पर प्राणोत्सर्ग के लिए प्रस्तुत हो जायेगी। अतएव जिस प्रकार अन्यान्य क्षेत्रों में उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नीति के क्षेत्र में भी सनातन-धर्म के पुनरुत्थान के लिए एक प्रबल प्रयत्न प्रयोजनीय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५)

अन्तर्राष्ट्रीय नीति के सनातन आधार क्या हैं ? वे ही जो कि सनातन समाजव्यवस्था के । किसी एक राष्ट्र के आभ्यन्तर जो समाजव्यवस्था सनातन सिद्धान्तों का आधार लेकर बनेगी, वही व्यवस्था विभिन्न राष्ट्रों के बीच होनी चाहिए । सनातन सिद्धान्त, इस प्रसंग में भी, वे ही तीन हैं—स्वभाव, स्वधर्म, स्वराज्य । सनातन-धर्म मानता है कि मानव-जाति अपने मूल में एक ही सनातन सत्ता की नित्यनूतन अभिव्यक्ति है और मानव-जाति के विभिन्न परिवार, जिनको हम राष्ट्र कहते हैं, एक ही परिवार के विभिन्न अवयव हैं । अतएव विभिन्न राष्ट्रों के बीच होने वाले प्रत्येक व्यवहार तथा आदान-प्रदान में उन राष्ट्रों की दृष्टि सदा ही मानव-जाति की इस मूलभूत एकता पर निविष्ट रहनी चाहिए । इस मूलभूत एकता के विस्मृत होते ही राष्ट्रों के बीच होने वाले व्यवहार तथा आदान-प्रदान में दोष आ जायेगा । और वह दोष, अपनी प्रक्रिया में, अनेक प्रकार की विकृतियाँ, वाद-विवाद तथा विग्रह उत्पन्न कर देगा । इस दोष के दो दुःखद परिणाम होते हैं—राष्ट्र की स्वार्थ-परता तथा साम्राज्यवाद की दस्यु-वृत्ति । ये दोनों परिणाम अन्योन्याश्रित हैं ।

राष्ट्र की स्वार्थपरता देख नहीं पाती कि किसी भी समय संसार के अन्य देशों में जो घटनाक्रम चल रहा है, जो शक्तियाँ सिर उठा रही हैं, जिन वृत्तियों का विरोध हो रहा है, उन सबके फलस्वरूप संसार की गतिविधि किस आदर्श और लक्ष्य की ओर है । स्वार्थ-परायण राष्ट्र प्रत्येक परिस्थिति में अपने आत्मपोषण, अपने आत्मत्राण और अपने सुख की बात सोचता है और येन-केन प्रकारेण अपना उल्लू सीधा करने की ओर प्रवृत्त होता है । इस स्वार्थ-परायण मार्ग पर आरूढ़ होकर वह राष्ट्र बहुधा उन शक्तियों के प्रति उदासीन रहता है जो संसार के अन्य राष्ट्रों को संतापित कर रही हैं और जो और भी सशक्त होकर एक दिन उसके अपने सिर पर आ चढ़ेंगी । अथवा, और भी अन्धा बनकर, वह राष्ट्र अपने किसी तात्कालिक स्वार्थ की सिद्धि के लिए उन शक्तियों की सहायता लेता है और उन शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करने वालों के प्रति उदासीनता का अथवा वैमनस्य का भाव धारण करता है । यह पाप का मार्ग है । वह पाप एक दिन उस राष्ट्र को भी खा जाएगा ।

भारतवर्ष का उदाहरण ले लीजिए । द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त भारत स्वाधीन हुआ और संसार का राजनैतिक वातावरण कम्यूनिस्ट दस्युओं के हुंकार से गूंज उठा । उन दस्युओं ने सशस्त्र आक्रमण करके कई-एक देशों पर बलात् अधिकार कर लिया । उसी समय भारत के भीतर भी उन दस्युओं ने अपनी दुष्ट वृत्ति प्रकट की । किन्तु भारत के नेताओं में से किसी ने भी इस संसारव्यापी दस्यु-वृत्ति के विरोध में स्वर ऊँचा नहीं किया । यहाँ के प्रधान-मन्त्री तो उन देशों की सरकारों को गाली देने लगे जो उस समय कम्यूनिस्टों द्वारा आक्रान्त थे । सरदार पटेल ने भारत के भीतर कम्यूनिस्ट कुचक्र को उस समय के लिए कुचल कर अपने कर्त्तव्य की पूर्ति समझ ली । गाँधीवादी नेतागण नाक-भौं सिकोड़ कर संसार के दो पापी पक्षों के बीच पंचायत करने बैठ गए । भारतीय परम्परा को मानने वाले नेताओं ने तो यह समझने का भी कष्ट नहीं किया कि संसार में हो क्या रहा है । उनके लिए तो भारतवर्ष के बाहर पाकिस्तान के अतिरिक्त कोई अन्य राष्ट्र उस दिन था ही नहीं ।

तदनन्तर कम्यूनिस्टों की पार्टी-लाइन बदली । तब तक सरदार पटेल इस संसार से जा चुके थे । अतएव भारत के भीतर प्रधानमन्त्री का एकच्छत्र राज्य हो गया था । अब उन्होंने देश के भीतर तथा बाहर खुले तौर पर कम्यूनिज्म का पक्ष लेना और पाश्चात्य के परास्त-प्राय साम्राज्यवाद के विरुद्ध विष उगलना प्रारम्भ किया । कम्यूनिस्टों ने आगे बढ़कर तिब्बत ले लिया और बर्मा तथा हिन्दचीन को आतंकित करना आरम्भ किया । किन्तु प्रधान-मन्त्री के निकट कम्यूनिज्म का यह अनाचार मानो हुआ ही नहीं । वे तो गला फाड़-फाड़कर उस सन्धि के विरुद्ध चीत्कार करने लगे जो अमेरिका तथा पाकिस्तान के बीच उस समय हुई थी और जिसे करने का उन दोनों राष्ट्रों का पूरा अधिकार था । देश के सारे दल अपने परस्पर के वाद-विवाद को भूल गए और पाकिस्तान तथा अमेरिकन साम्राज्यवाद को पानी पी-पीकर गालियाँ कोसने लगे । प्रधानमन्त्री ने इस वातावरण से लाभ उठा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर चीन से पंचशील सन्धि कर ली और रूस के प्रचार के लिए देश के सारे द्वार खोल दिए। इस देशद्रोह की मार्जना यह कहकर की गई कि काश्मीर की समस्या पर भारतवर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन चाहिए और वह समर्थन रूस तथा रूस के साथी देशों से ही मिल सकता है।

इस प्रकार भारतवर्ष पूरे दस वर्ष तक पाप-परायण रहा। प्रधानमंत्री ने इस पाप को इसलिए प्राश्रय दिया कि वे हृदय से सदा कम्यूनिज़म के अनुयायी रहे हैं। अन्य दलों तथा नेताओं ने इसलिए कि वे काश्मीर में भारतवर्ष के स्वार्थ के सिवाय संसार के किसी संघर्ष को देख अथवा समझ ही नहीं पाए। कम्यूनिज़म का प्रसार कम्यूनिस्ट साम्राज्य के समस्त सीमान्तों पर होता रहा। किन्तु गोआ और काश्मीर के प्रश्न को लेकर भारतवर्ष का प्रत्येक दल तथा नेता पाश्चात्य साम्राज्यवाद को कोसता रहा। इस स्वार्थ-परता का परिणाम अब पुष्ट हो गया है। कम्यूनिस्ट चीन ने आगे बढ़कर भारत की अपनी धरती पर पदार्पण किया है और देश के भीतर चारों ओर कम्यूनिस्ट पार्टी का जाल फैल गया है।

भारतवर्ष की आँखें अब भी नहीं खुलीं। गोआ में से एक जरा-जीर्ण साम्राज्यवाद के दस सैनिकों को भगा कर यह देश एक बहुत बड़ी शूरता का अनुभव कर रहा है। चीन द्वारा दबाई हुई धरती के विषय में कोरी वक्तृताओं के अतिरिक्त अभी तक कुछ नहीं किया गया। अब सहसा पाकिस्तान के विरुद्ध एक आक्रोश की सृष्टि होने लगी है। और यह असम्भव नहीं कि यदि इस देश की बागडोर मेनन तथा नेहरू के हाथ में रही तो निकट भविष्य में भारतवर्ष पाकिस्तान से उलझ जाए, चीन से उसकी इच्छानुसार समझौता करले तथा रूस से सहायता माँगे। अन्तर्राष्ट्रीय नीति के प्रांगण में तो यह देश अब भी कम्यूनिज़म के ही पक्ष में है।

इस सारे पाप का प्रायश्चित्त भारतवर्ष को करना पड़ेगा। यदि भारतवर्ष अब भी इस पाप से पराङ्मुख नहीं होता तो एक दिन चुपचाप नेहरू कम्यूनिस्टों को बुलाकर राज्य की बागडोर उनके हाथ में दे देगा। यदि पराङ्मुख हो गया तो कम्यूनिज़म के साथ एक करारी मुठ-भेड़ अनिवार्य है। उस मुठ-भेड़ में जय-पराजय किसी की हो, भारतवर्ष को अनेक प्रकार की क्षति अवश्य भोगनी पड़ेगी। भारतवर्ष जो यह स्वप्न देख रहा है कि कम्यूनिस्ट साम्राज्य के भीतर फूट पड़ जाने से उसका संकट अपने आप कट जायेगा, वह पूरा नहीं होगा।

पाकिस्तान के प्रसंग में भी भारतवर्ष के नेताओं ने वही पाप किया है। मुस्लिम लीग की वृत्ति दस्युवृत्ति थी। वह पाकिस्तान को पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली। अतएव पाकिस्तान ने अपने समस्त हिन्दू नागरिकों को उनकी सम्पत्ति का हरण करके बाहर निकाल दिया। अनाचार की इस प्रक्रिया के बीच वहाँ दंगे-फसाद और सब प्रकार के बलात्कार भी हुए। भारतवर्ष को चाहिए था कि विभाजन के समय हुई सन्धि के अनुकूल वह पाकिस्तान को इस पथ से विरत रहने के लिए बाध्य करता। तदुपरान्त भी यदि पाकिस्तान अपने इस पथ से नहीं हटा होता तो भारतवर्ष को उसे दण्ड देना चाहिए था। दण्ड देने के लिए पाकिस्तान को चारों ओर से विच्छिन्न करना विहित था। किन्तु भारतवर्ष ने अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं किया। काश्मीर पर पाकिस्तान का जो आक्रमण हुआ, उसके प्रत्युत्तर में भारतवर्ष को पाकिस्तान का सिर कुचल देना चाहिए था। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति उस समय इस काम के लिए सर्वथा अनुकूल थी। किन्तु प्रधान-मन्त्री चुपचाप सब सहते गये, और उसका परिणाम अब हमारे सामने है। पाकिस्तान भारत के लिए विभीषिका बना हुआ है।

राष्ट्रों की स्वार्थपरता के ऐसे उदाहरण अनेकों और भी दिए जा सकते हैं। उस स्वार्थपरता का जो परिणाम उन राष्ट्रों ने भोगा, वह भी इतिहास में लिखा जा चुका है। सारांश यह है कि राष्ट्र की स्वार्थ-परता एक ऐसा पाप है जो अन्ततोगत्वा उसी राष्ट्र को हड़प जाता है। मानव-जाति के ऐक्य का सनातन दृष्टि का उदय होने से ही इस पाप से मुक्ति होती है। उस समय प्रत्येक राष्ट्र प्रत्येक अन्य राष्ट्र के दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख समझता है।

साम्राज्यवाद की दस्युवृत्ति वस्तुतः स्वार्थपरता का ही परिपाक है। स्वार्थपरायण राष्ट्र जब दुर्बल होता है तब वह औचित्यानौचित्य को भूलकर अपने संकीर्ण स्वार्थ का पोषण करता है। वही राष्ट्र जब सबल होता है तब वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य राष्ट्रों को आत्मसात करने के लिए अभियान करता है। इस साम्राज्यवादी अभियान का कारण पुराने जमाने में सीधा-सादा परराष्ट्र-विजय कहा जाता था। किन्तु आज के युग में इसी अभियान को ढकने के लिए अनेक प्रकार के मिथ्यावाद का आश्रय लिया जाता है—असभ्य राष्ट्र को सभ्य बनाना, किसी दुर्बल राष्ट्र को सबल पड़ौसी के आक्रमण से बचाना, किसी राष्ट्र में गृहयुद्ध की आग बुझाना, किसी राष्ट्र को पदाक्रान्त करके आने वाले शत्रु से आत्मत्राण करना, किसी राष्ट्र की प्रतिक्रियात्मक समाजव्यवस्था से उस राष्ट्र की जनता को मुक्ति दिलाना, इत्यादि। किन्तु साम्राज्यवादी अभियान साम्राज्यवादी अभियान है। नाम बदल देने से उस का रूप नहीं बदल जाता।

साम्राज्यवादी दस्युवृत्ति का भी एक दीर्घ इतिहास है। किन्तु उस इतिहास में इस्लाम के इतिहास की उपमा कम्यूनिज्म के पूर्व नहीं मिलती। इस्लाम के पूर्व जो साम्राज्यवादी अभियान हुए, उन्होंने दूसरे राष्ट्रों को जीत तो लिया, किन्तु युद्ध के उपरान्त उन राष्ट्रों के धार्मिक विश्वासों तथा सांस्कृतिक परम्पराओं पर विशेष आघात नहीं किया। विजेता लोग केवल उस देश की सम्पत्ति का अपहरण करके ही विरत हो गए। किन्तु इस्लाम ने पराभूत देश की सम्पत्ति को तो लूटा ही लूटा, वहाँ की स्त्रियों पर अभूतपूर्व बलात्कार किया, वहाँ के बालक-बालिकाओं तक को दास बना कर दूर विदेशों में बेचा, वहाँ के धर्म-स्थानों को भ्रष्ट किया, वहाँ के धर्माचार्यों की हत्या की, वहाँ के धर्म-ग्रन्थों का अपमान किया, वहाँ की जनता को बलात् धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य किया, और बारम्बार अकारण निरीह प्रजा के रक्त की नदियाँ बहाईं। ईसाइयत के इतिहास में भी कुछ ऐसे ही उदाहरण मिलते हैं। विशेष कर स्पेन तथा पुर्तगाल के साम्राज्यवादी अभियान में।

किन्तु इन सब साम्राज्यवादों की दस्युवृत्ति कम्यूनिज्म की दस्युवृत्ति की तुलना में धर्मवृत्ति के समतुल्य प्रतीत होती है। कम्यूनिज्म ने जो अनाचार और बलात्कार अनेक देशों में किए हैं, उसका विशद वर्णन यहाँ प्रसंगानुकूल नहीं। और आज के प्रायः सभी शिक्षाप्राप्त पाठक जो स्वयं कम्यूनिस्ट नहीं है, उस विषय में न्यूनाधिक रूप से जानकारी भी रखते हैं। कम्यूनिज्म की दस्युवृत्ति उसी मनीषा का पूर्णोदय है, जो इस्लाम और ईसाइयत इत्यादि में पाई जाती है।

वह मनीषा यह मानकर चलती है कि समस्त संसार के समस्त मानव-प्राणी अपने स्वभाव के न्याय से एक-समान हैं, उनको एक ही प्रकार का जीवन बिताना चाहिए, और जिस पद्धति से वह जीवन बिताना चाहिए, उस पद्धति का पूरा ज्ञान किसी पैगम्बर अथवा विचारक के प्रवचन में पूर्ण हो गया। अतएव उस प्रवचन को समझने और उसपर विश्वास रखने वालों का यह कर्तव्य है कि वे लोग उसको अन्य सब लोगों तक पहुँचाएँ और स्वीकार करवाएँ। दूसरे लोग यदि उस प्रवचन को स्वीकार नहीं करें तो बलप्रयोग द्वारा उनको उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाए। फिर भी यदि वे लोग उसे नहीं स्वीकार करें अथवा उसके विरुद्ध संघर्ष करें तो उनका हनन विहित है। इस प्रकार उनकी हत्या द्वारा उनको मिथ्या के मोह से मुक्त करके सत्य के समीप लाना, उन के ही कल्याण के लिए अपरिहार्य है।

जो भी धर्म-सम्प्रदाय, राजनैतिक दल, मत-मतान्तर, मनीषी अथवा राष्ट्र यह मानता है कि एक सार्वभौम कल्याण की कुँजी उसे ज्ञात है और उस कल्याण का वितरण करने के लिए वह बल-प्रयोग को बुरा नहीं मानता, वही दस्यु है और उसका तुरन्त दमन होना चाहिए। दस्युवृत्ति के पनपने के पूर्व उसका दमन करने वालों का अथवा दस्युवृत्ति के अभियान के सामने आत्मत्राण के लिए शस्त्र उठाने वालों का जो लोग विरोध करते हैं और उनको अहिंसा तथा प्रेम इत्यादि का पाठ पढ़ाते हैं, वे सब दस्यु के दोस्त तथा दस्युवृत्ति के पोषक हैं। उनका आमूल उच्छेद होना चाहिए। आज का गाँधीवाद, सर्वोदयवाद तथा एक प्रकार का शान्तिवाद इसी कोटि की कुदृष्टियाँ है। उनका उच्छेद भारत-भूमि के कल्याण के लिए ही नहीं, सारे संसार के कल्याण के लिए वाञ्छनीय है।

यह दस्युवृत्ति बहुत बार एक सार्वभौम ऐक्य अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावाद का नकाब ओढ़ कर सामने आती है। इसकी ओर से प्रत्येक प्रकार के राष्ट्रवाद का प्रत्याख्यान किया जाता है, मानव-प्रेम का प्रवचन सुनाया जाता है और संकीर्णता को दूर करके विश्व-नागरिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनने का सन्देश दिया जाता है। बहुत से भावप्रवण लोग इस मिथ्याचार के मोह में फँस जाते हैं। और धीरे-धीरे वे दस्यु के प्रत्येक कुकृत्य की मार्जना यह कहकर करने लगते हैं कि उसके तात्कालिक आचरण को न देखकर उसके अन्तिम और उच्चतम आदर्श को ही देखना चाहिए। कम्यूनिजम के विषय में भी इस प्रकार का प्रचार बहुत से भावप्रवण लोगों की ओर से देखा जाता है। किन्तु यह कुदृष्टि का कुपरिणाम मात्र है। इसमें सत्य अथवा सार का लेशमात्र नहीं।

सार्वभौम ऐक्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावाद का सिद्धान्त यदि सम्यक् प्रकार का है तो वह यह मानेगा कि मानवजाति मूलतः एक होने के साथ ही साथ अपनी अभिव्यक्तियों के रूप में अनेक भी है। वह सिद्धान्त प्रत्येक राष्ट्र द्वारा अधिगत भूमिभाग को उस राष्ट्र की पावन सम्पत्ति के रूप में स्वीकार करेगा—यदि वह भूमिभाग किसी दस्युवृत्ति के परिणामस्वरूप हस्तगत नहीं किया गया है तो। वह सिद्धान्त प्रत्येक राष्ट्र के धर्म को, संस्कृति को, परम्परा को उस राष्ट्र के लिए विहित तथा पावन मानेगा। वह सिद्धान्त यह स्वीकार करेगा कि उस राष्ट्र को अपना जीवन अपने तौर-तरीके से बिताने का पूर्ण अधिकार है और किसी भी बाह्य शक्ति को उसके आभ्यन्तर मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। बाह्य हस्तक्षेप उसी समय विहित हो सकता है, जब कि उस राष्ट्र के भीतर किसी प्रकार की दस्युवृत्ति का उदय हो रहा हो।

मानवजाति के अन्तर्गत जो भी विभिन्न वर्ग हैं—चाहे वे धर्म-सम्प्रदाय हो, चाहे जातियाँ, चाहे राष्ट्र, चाहे सांस्कृतिक, राजनैतिक अथवा अन्य प्रकार के आदर्शवादी दल—वे सब यन्त्रवत् समवेत नहीं होते। उनके उस प्रकार समवेत होने में प्राण की, मन की, बुद्धि की, चेतना की, एक प्रक्रिया का प्रसार है। उनके चारों ओर उनका जो स्थूल रूप बनता-बिगड़ता है, वह भी इसी प्रक्रिया का परिणाम है। अतएव उनको भी मानव व्यक्ति के समान एक प्राणवान इकाई मानना चाहिए। उनके प्राण का प्रवाह किस प्रकार का है, यह देखकर उनके गुण-कर्म का निश्चय होना चाहिए। उनके गुण-कर्म के अनुसार उनके स्वभाव को स्वीकार किया जाना चाहिए। और उनका स्वधर्म उन के स्वभाव के अनुसार ही निश्चित होना चाहिए। अपने स्वधर्म में प्रतिष्ठित होकर ही वे स्वराज्य की प्राप्ति कर सकते हैं। इस स्वराज्य का अखण्ड उपभोग प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वर्ग का जन्मसिद्ध अधिकार है। उस अधिकार का रक्षण तथा पोषण ही सनातन अन्तर्राष्ट्रीय नीति का आधार है।

(६)

इस प्रसंग में भारतवर्ष की पुरातन चाक्रवर्त्य परम्परा का अनुशीलन सहायक होगा। भारतवर्ष की अध्यात्मपरायण संस्कृति आदिकाल से ही इस देश के ओर-छोर तक एक ही रही है। उस संस्कृति की भाषागत, साहित्यगत, धर्म-सम्प्रदायगत, शिल्पगत तथा आचारगत अभिव्यक्तियाँ अंचल-अंचल में विविध रही हैं। किन्तु उन समस्त अभिव्यक्तियों को एक सूत्र में पिरोने वाला सांस्कृतिक आधार सदा एक रहा है। इसीलिए इन विभिन्न अभिव्यक्तियों के बीच अनेक वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ इत्यादि के रहते हुए भी इसके बीच किसी प्रकार की पारस्परिक कलह कभी नहीं पनप पाई। सब प्रकार की विविधता के बीच एकता का सन्धान करना और संकेत देना ही इस देश के मनीषियों का साधारण स्वभाव रहा है।

अतएव भारतवर्ष की राजनीति में भी इसी दृष्टि का प्रयोग हुआ। बाह्य आक्रमण से इस देश का परित्राण करने के लिए यहाँ एक एकच्छत्र राज्यसत्ता सदा ही प्रयोजनीय रही है। और इस देश के विभिन्न प्रान्तों तथा जन-परिवारों में संगठित होने वाली राज्यसत्ताओं ने निरन्तर ही वह एकछत्र राज्यसत्ता बनाने का प्रयास किया। किन्तु इस प्रयास के प्रकार की तुलना संसार के इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। अपने-आप को समर्थ मानने वाली राज्यसत्ता अश्वमेध अथवा राजसूय के माध्यम से अपना प्रभुत्व प्रज्ञापित करती थी। उस प्रभुत्व को मान लेने वालों को केवल दो काम करने पड़ते थे—कुछ विशेष-विशेष अवसरों पर अपने राजपरिवार का एक प्रतिनिधि चक्रवर्ती की सभा में भेजना तथा कुछ कर, शुल्क और भेंट देना। हाँ, युद्ध उपस्थित होने पर उनको अपनी सेना भी चक्रवर्ती की सहायता के लिए भेजनी पड़ती थी। अन्य समस्त बातों में अधीनस्थ राज्य सर्वथा स्वाधीन रहता था।

किसी अधीनस्थ राज्य के राजपरिवार का उच्छेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके वहाँ अपना क्षत्रप स्थापित करना अथवा उस राज्य की किसी परम्परा में हस्तक्षेप करना अथवा उस राज्य के आभ्यन्तर मामलों में कोई दखल देना, पाप और आसुरी परम्परा माना जाता था। जरासन्ध इत्यादि का नाम भारतीय इतिहास में इसीलिए कलंकित है कि उन्होंने चाक्रवर्त्य की इस परम्परा का प्रत्याख्यान करके अनेक राजवंशों का उच्छेद कर डाला। जरासंध इत्यादि का वध करने और करवाने वाले भगवान् कृष्ण की एक यह भी ख्याति है कि उन्होंने इस पतन का विरोध करके फिर से चाक्रवर्त्य की परम्परा का उद्धार किया। भारतीय इतिहास में चाक्रवर्त्य धर्म का पालन करने वाले राजाओं के नाम आज भी प्रातःस्मरणीय हैं।

चाक्रवर्त्य की वह परम्परा भगवान् बुद्ध के काल तक अनेकांश में अक्षुण्ण थी। उसका हनन अजातशत्रु के हाथों हुआ। नन्दों का साम्राज्य दस्युवृत्ति का आश्रय लेकर ही पनपा था। उस राज्य का उच्छेद करके पुरातन परम्परा का पुनरुद्धार करने वाले चाणक्य और चन्द्रगुप्त इसीलिए प्रसिद्ध हैं कि वे भारत की मूल-भूत मनीषा के अनुकूल काम कर रहे थे। चाक्रवर्त्य की वह परम्परा मुसलमानों के भारतवर्ष में आने तक अव्याहत रही। और आज भी उसके अवशेष विभिन्न प्रदेशों की स्वराज्य-स्पृहा में दीख पड़ते हैं। उस स्वराज्य-स्पृहा का विरोध भारतीय मनीषा से परिचित किसी व्यक्ति अथवा दल से नहीं बन पड़ेगा।

भारतवर्ष के भीतर तो इस परम्परा का पुनरुत्थान होना ही चाहिए। उस परम्परा का पुनरुत्थान हुए बिना भारतवर्ष की अपनी ऐक्य-साधना ही विकृत अथवा विनष्ट हो जाएगी। आज भारतवर्ष का शासकदल प्रयत्नवान् है कि भारतवर्ष का जनगण अपनी पुरातन परम्परा से पराङ्मुख होकर पाश्चात्य का अनुकरण करे और पाश्चात्य में जिस परविद्वेषपूर्ण राष्ट्रवाद का उदय हुआ है, वैसा ही राष्ट्रवाद वह जनगण भी अपना ले। इस प्रकार का नकारात्मक राष्ट्रवाद भारतवर्ष के अपने परम्परानुकूल राष्ट्रवाद की पराजय होगी। इसके फलस्वरूप यहाँ ऐक्य का एक बाह्य आडम्बर तो खड़ा हो जाएगा, किन्तु उस ऐक्य में प्राण का प्रसार अत्यल्प होगा।

वह ऐक्य एक अत्यन्त केन्द्रीकृत तथा सर्वसत्तासम्पन्न सरकार के आश्रय से ही पोषित हो पाएगा, जनगण के प्राण-संचार में प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा। और यदि केन्द्रीकृत सरकार का वह सूत्र सुदृढ़ नहीं हो पाया अथवा किसी समय शिथिल पड़ गया तो भारतवर्ष के विभिन्न अवयवों में व्याप्त आत्मविस्मृति राष्ट्र के ऐक्य को भी विच्छिन्न कर देगी। अतएव भारतवर्ष की ऐक्य-साधना का आधार उसकी संस्कृति का मूलभूत ऐक्य ही होना चाहिए। भारतवर्ष की सनातन संस्कृति का उच्छेद करने वाले लोग भारतवर्ष की प्रकृत ऐक्य-साधना के शत्रु हैं।

और भारतवर्ष को वही संदेश समस्त संसार को देना चाहिए। अपने आभ्यन्तर में अनैक्य को अक्षुण्ण रखते हुए भी ऐक्य की सृष्टि करके भारतवर्ष शेष संसार को ऐक्य का सनातन सिद्धान्त सिखला सकता है। साथ ही भारतवर्ष को अपने आभ्यन्तर में प्रसार पाती हुई दस्युवृत्ति तथा उस दस्युवृत्ति का पोषण करने वाली मिथ्या-दृष्टियों का उच्छेद करके शेष संसार का पथ-प्रदर्शन करना चाहिए कि सब ओर फैली हुई दस्युवृत्ति का तथा उस दस्युवृत्ति का पोषण करने वाली मिथ्यादृष्टियों का उच्छेद किस प्रकार किया जा सकता है। सनातन धर्म की जन्मभूमि का यही एकमात्र कर्त्तव्य है कि वह शेष संसार को सनातन धर्म के सिद्धान्तों का सतत सन्देश दे। वह सन्देश देने के पूर्व भारतवर्ष यदि अपने जीवन में सनातन धर्म का समावेश नहीं करता तो वह उसके लिए कोरा मिथ्याचार मात्र रह जाएगा।

दस्युवृत्ति का दमन कोरे बलप्रयोग द्वारा किया जा सकता है। मुसोलिनी, हिटलर तथा कई एक अन्य राष्ट्रवादियों ने इसी पथ का अवलम्बन लिया था। किन्तु उनके अध्यवसाय का जो परिणाम हुआ, वह भी प्रत्यक्ष है। दस्युवृत्ति ने एक बार दब कर फिर दुगने प्राण के साथ पुनरुत्थान किया। दस्युवृत्ति का दमन तो होना ही चाहिए। सीधे शान्ति के मार्ग से वह कभी पराजय स्वीकार नहीं करेगी। किन्तु इसके पूर्व जनगण के मानस में यह विगतसंशय विश्वास व्युत्पन्न होना चाहिए कि जिस वृत्ति का दमन किया जा रहा है, वह दस्युवृत्ति ही है, स्वाधीनता, समता और अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृभाव का कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवीन आन्दोलन नहीं। इस प्रकार के विश्वास को उपजाने के लिए एक सबल सैद्धान्तिक पराक्रम प्रयोजनीय है। सैद्धान्तिक संघर्ष के अनुपात से ही संगठन का काम आगे बढ़ना चाहिए। सिद्धान्त-संग्रह के अभाव में लोकसंग्रह व्यर्थ रहेगा। देश-देश में यदि सिद्धान्त-संग्रह का यह अभियान चल पड़े तो दस्युवृत्ति का दम अपने-आप घुटने लगेगा।

कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा अस्त्र है उस साम्राज्य के बाहर संगठित कम्युनिस्ट पार्टी। जिस देश में भी कम्यूनिस्ट पार्टी क्रियाशील है, उसी देश को अपने साम्राज्य में मिला लेने का लोभ कम्यूनिज़म द्वारा संवरण नहीं हो सकता। अतएव कम्यूनिज़्म के मानस से उस लोभ का निवारण करने लिए कम्यूनिस्ट साम्राज्य के बाहर सब प्रकार के कम्यूनिस्ट संगठनों का उन्मूलन विधय है। कम्यूनिस्ट साम्राज्य जिस समय समझ जाएगा कि कम्यूनिस्ट पार्टी के माध्यम से उसका प्रसार असम्भव है तो वह विजिगिषु-वृत्ति से विरत हो जाएगा। कारण, युद्ध की विभीषिका वहन करने का सामर्थ्य उस साम्राज्य में न कभी रहा है, न कभी रहेगा।

अब हम यह समझाएँगे कि भारतवर्ष की अन्तर्राष्ट्रीय नीति किस प्रकार इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अग्रसर हो सकती है। भारतवर्ष को सर्वप्रथम अपने भीतर तथा अपने पास-पड़ौस के अंचलों में अपनी सनातन परम्परा के आधार पर ऐक्य-संग्रह करना चाहिए। नेपाल, भूटान, सिक्किम, ब्रह्मदेश, कम्बोडिया, वियतनाम, लेओस, फिलीपीन, कोरिया, फारमोसा, जापान, इंडोनेशिया, मलाया, सीलोन इत्यादि दक्षिणपूर्व तथा पूर्व एशिया के देशों से भारतवर्ष का बहुत पुराना सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। वह सम्बन्ध बौद्धधर्म के प्रसार से ही सृष्ट नहीं हुआ, जैसा कि आजकल के इतिहासज्ञ लोग मानते हैं, प्रत्युत उससे भी पुराना है। भारतवर्ष के लिए विहित है कि उस पुरातन सांस्कृतिक सम्बन्ध का सहारा लेकर इस समस्त देशों के साथ ऐक्य की साधना करे। उस साधना का स्वरूप वैसा नहीं होगा जैसा कि भारतवर्ष के सनातन-धर्म-विद्वेषी वर्तमान शासक-दल ने किया है। वह साधना भारतवर्ष की समस्त आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के अविच्छिन्न ऐक्य को हृदयंगम करके ही हो सकेगी।

पश्चिम की ओर पाकिस्तान, अफगानिस्तान तथा ईरान इत्यादि के साथ भारतवर्ष का सांस्कृतिक सम्बन्ध ही नहीं, रक्त का सम्बन्ध भी समुत्थापित किया जाना चाहिए। इन समस्त देशों में इस्लाम के प्रचार तथा प्रसार के होते हुए भी, आर्य-जाति की एक मूलभूत मनीषा के बीज आज भी सर्वत्र विद्यमान हैं। वे बीज इन देशों की भाषाओं में व्यक्त हैं, इनकी आचार-परम्परा में अक्षुण्ण हैं, इनकी रहस्यवादी अध्यात्म-परम्परा में पाए जाते हैं। इस्लाम की मतान्धता के कारण इन देशों में भारतवर्ष के प्रति जो विद्वेष फैल गया है, उसको अतिक्रमण करने का एकमात्र मार्ग यही है कि इन देशों को आत्मविस्मृति के गर्भ से निकाल कर इनकी आर्य-पराम्परा में प्रतिष्ठित करने का सबल प्रयत्न किया जाए। और यह कार्य किसी भी प्रकार से अशक्य नहीं। आवश्यकता यही है कि भारतवर्ष स्वयं अपनी आर्य-परम्परा के प्रति जागरूक हो जाए।

इन दोनों अंचलों के अन्तर्गत तथा इन अंचलों के परे जहाँ तक इस्लाम का प्रसार तथा प्रभाव है, वहाँ तक भारतवर्ष की ऐक्य-साधना इस्लाम को भी अपना आधार बना सकती है। भारतवर्ष के भीतर असंख्य मुसलमान हैं जो आज भारतवर्ष के पाश्चात्यानुयायी राष्ट्रवाद के लिए एक विडम्बना बने हुए हैं। किन्तु यदि भारतवर्ष के भीतर ही सनातन धर्म का पुनरुत्थान हो जाए तो ये ही मुसलमान भारतीय राष्ट्रवाद के अभिन्न अंग बनकर अन्यान्य इस्लामी राष्ट्रों के साथ भारतवर्ष के सम्बन्ध अत्यन्त सुदृढ़ करने में अभूतपूर्व सहायता दे सकते हैं। इस्लाम आज पराक्रमोन्मुख प्राणवान् नहीं रहा। अतएव उसके अन्तर्गत दस्युवृत्ति के जो विष-बीज पूर्व समय में रहे हैं, उनका उसके द्वारा सहज ही त्याग करवाया जा सकता है। तब वह शुद्ध इस्लाम भारतवर्ष के सनातन परिवार का ही एक सम्प्रदाय बन कर अन्यान्य इस्लामी देशों को भारतवर्ष का सन्देश दे सकता है।

इस आन्तरिक ऐक्य-साधना के साथ-साथ बाह्य-संगठन की क्रिया भी चलनी चाहिए। एशिया तथा अफ्रीका के अनेक देश आज योरोप तथा अमेरिका के साथ संधियाँ किए बैठे हैं। उन सन्धियों के कारण उन देशों का त्राण तो नहीं हो पा रहा। केवल उनकी अपनी पुरातन परम्पराओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उच्छेद ही हो रहा है। इस प्रकार वे देश भीतर से खोखले और कम्यूनिज्म के क्रियाक्षेत्र बनते जा रहे हैं। भारतवर्ष को चाहिए कि इन सब देशों को पाश्चात्य के पाश से मुक्त करके अपने पैरों पर खड़ा होने तथा अपने पड़ौसियों के साथ संघबद्ध होने की शिक्षा दे। एशिया तथा अफ्रीका के जो देश सांस्कृतिक सम्बन्ध अथवा रक्त के नाते भारतवर्ष के निकट हैं, उन सबको मिलाकर जिस धन, जन तथा शस्त्र-बल का संचय किया जा सकता है, वह अपार है। इन सब देशों के बीच सहज ही एक सैनिक-सन्धि भी हो सकती है, जिसके फलस्वरूप इन अंचलों में पाश्चात्य के अवशिष्ट उपनिवेशों के उन्मूलन के साथ-साथ कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद के प्रचार एवं प्रसार को भी तुरन्त ही अवरुद्ध किया जा सकता है।

एशिया तथा अफ्रीका के अनेक राष्ट्रों का यह संघ कम्यूनिस्ट साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाले अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में तटस्थ अथवा चंचल-चित्त नहीं हो सकता। उस संघर्ष में वह संसार की अन्यान्य कम्यूनिस्ट-विरोधी शक्तियों का ही साथ देगा। सहयोग की उस क्रिया के लिए यह आवश्यक नहीं कि इस संघ तथा उन अन्यान्य शक्तियों के बीच कोई सैनिक संगठन हो। फिर भी अनेक प्रकार का पारस्परिक आदान-प्रदान तो अनिवार्य होगा ही। उस आदान-प्रदान में सबसे महत्त्व की बात होगी इस संघ की ओर से पाश्चात्य की ओर जाने वाला वह सन्देश जो पाश्चात्य को यह सिखलायेगा कि वह जिस जनतन्त्र की दुहाई देकर कम्यूनिस्ट समग्रवाद का विरोध कर रहा है, उसका आधार अद्यतन पाश्चात्य का जड़वाद नहीं, प्रत्युत पुरातन पाश्चात्य की अनेकानेक अध्यात्म-परम्पराएँ ही हैं। और यदि पाश्चात्य का ध्यान एक बार उसकी ग्रीक, रोमन तथा ईसाई अध्यात्मपरम्पराओं की ओर आकृष्ट हो गया तो पाश्चात्य भी सहज ही सनातन-धर्म के परिवार में परिभुक्त हो जायेगा। तब कम्युनिज़्म की दस्युवृत्ति का दम घुट कर मर जाना अचिन्तनीय अथवा असम्भव नहीं रहेगा। ●

हमारे आगामी प्रकाशन

● हिन्दी गद्य की परम्परा
प्रो० बलदेव कृष्ण एम० ए०

● साहित्य समीक्षण
प्रो० धर्मचन्द सन्त एम० ए०

● हिन्दी गद्य : विकास और साहित्य
प्रो० ओम्प्रकाश शास्त्री एम० ए०

● उपनिषदों की कथाएँ (दूसरा भाग)
डा० सुधीर कुमार

● तुलसीदास का प्रगीत काव्य
प्रो० विनय कुमार एम० ए०

ओरिएण्टल बुक डिपो

१७०४, नई सड़क, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टेलीफोन : २२२२०६-७ तार : हार्डस्टील

अपनी
लोहे की आवश्यकताओं के लिए
आप
हमारी सेवाएँ प्राप्त कीजिए

देहली आयरन एण्ड स्टील स्टॉकिस्ट (सिविल सप्लाईज़)
ऐसोसिएशन प्राइवेट लिमिटेड
अजमेरी दरवाज़ा
दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आयुर्वेद और भारतीय तत्त्व दर्शन

(कविराज श्री आशुतोष मजुमदार, आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि, दिल्ली)

संसार के तत्त्व दर्शनों का उद्देश्य मनुष्य को सुख और शान्ति के उपायों का दर्शन कराना है। इस पर भी भारतीय दर्शन शास्त्रों में और अन्य दर्शन शास्त्रों में भिन्नता है। ऐसा माना जाता है कि प्राचीन ग्रीक तत्त्व दर्शन भारतीय दर्शन शास्त्र के अत्यन्त समीप था। परन्तु वर्तमान युरोपीय दर्शन शास्त्र तो उक्त दोनों दर्शनों से भिन्न है।

उदाहरण के रूप में सुक्रात मानता था कि 'सदाचार के अनुवर्तन से सम्यग्-ज्ञान उत्पन्न होता है और वह ज्ञान मनुष्य के सामान्य ज्ञान से भिन्न होता है।'

ठीक यही बात योग-दर्शन में इस प्रकार कही गई है :–

१. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते :।

२. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

३. अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

४. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

५. शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(यो० द० साधन पाद २, २८–३२)

योग के अंगों का अनुष्ठान करने से ज्ञान का प्रकाश, जिसको विवेक कहते हैं, होता है।

योग के आठ अंग हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।

योग के आठ अंगों में यम और नियम सर्वप्रथम हैं। यम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

ये सदाचार के नियम जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा से रहित सार्वभौमिक महाव्रत, अर्थात् धारण करने योग्य कर्म हैं।

नियम हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-शरणागति। इनसे यह सिद्ध होता है कि सदाचार के बिना योग के शेष छः अङ्ग सम्पन्न नहीं हो सकते। शेष छः अङ्ग आसन, प्राणायाम इत्यादि तो चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिए हैं।

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः

(यो० द० समाधिपाद १, २)

अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि बिना सदाचार के चित्त की वृत्तियों का निरोध नहीं हो सकता और यही योग है।

इस योग सिद्धि का अंतिम अंग समाधि कही है। और समाधि के अनन्तर—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥

(यो० द० समाधि पाद १—४७)

'निर्विचार समाधि के अत्यन्त निर्मल होने पर अध्यात्म फल प्राप्त होता है।'

और इससे—

१. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

२. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।

(यो० द० समाधि पाद १—४८, ४९)

'निर्विचार समाधि से ऋतम्भरा नाम की बुद्धि उत्पन्न होती है। और यह बुद्धि श्रवणादि इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान तथा अनुमान से होने वाले ज्ञान से भिन्न ज्ञान प्रदान करती है।'

यही बात सुक्रात ने कही है कि सदाचार के अनुवर्तन से सम्यग्-ज्ञान उत्पन्न होता है और वह ज्ञान मनुष्य के सामान्य ज्ञान से भिन्न होता है।

परन्तु परवर्तीकाल के योरोपीय तत्त्ववेत्ता सुक्रात के विचारों से भिन्न विचार वाले थे।

उदाहरण के रूप में बेकन मानता था—'आप्त वाक्य पर विचार कर, प्रयोग से प्रमाणित कर विवेक से ज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं प्रदर्शन का भेद जानना चाहिये । प्राकृतिक ज्ञान से ही विज्ञान (अध्यात्म ज्ञान) सम्भव है । इन्द्रियाँ पहिले प्रमाण हैं । मन बाद में ।'

सुक्रात की तथा योगदर्शन की मान्यता से वेकन का मत भिन्न हो गया है । यह नास्तिकवाद का मूल मानना चाहिये । प्रत्यक्षादि (श्रवणादि इन्द्रिय ज्ञान) को प्राथमिकता दी है । इसमें सदाचार और सदाचार से विशेष बुद्धि की उपलब्धि और उससे विवेक प्राप्ति नहीं प्रत्युत प्रकृति के ज्ञान से जो श्रवणादि इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वही अध्यात्म ज्ञान की उपलब्धि में साधन माना है ।

जो बात वेकन ने आरम्भ की, उसको और स्पष्ट 'स्पिनोज़ा' ने कर दिया । इनका कहना है 'प्राकृतिक घटनाओं के आन्तरिक सम्बन्ध के बतलाने से अप्राकृतिक शक्ति का हस्तक्षेप अनुचित है । आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक ऐश्वर्य आदि सभी भाव प्रकृति में ही अन्तर्भूत हैं और इस प्रकार प्रकृति अथवा ईश्वर एक ही हैं ।'

इसी विषय में आगे डार्विन का मत है—'इन्द्रियों से पृथक् विचार शक्ति है ही नहीं, इसलिए इन्द्रियानुभूति के अतिरिक्त विचार कुछ नहीं ।'

इस लम्बी विवेचना का अर्थ यह है कि सदाचार और योग के अन्य अंगों का अर्थात् आसन, प्राणायाम इत्यादि को छोड़ कर, बिना विशेष बुद्धि (ऋतम्भरा) की उपलब्धि के, प्रत्यक्ष ज्ञान को ही पूर्ण ज्ञान में साधन मान लेने से अनात्मवाद की सृष्टि हुई । महान विषयों का अनुशीलन, बिना परिश्रम करने का यह फल है कि भारतीय दर्शन शास्त्र से, जो सार्वभौमिक दर्शन शास्त्र का स्रोत था, वर्तमान युरोपीय दर्शन शास्त्र बहुत दूर और निकृष्ट स्तर का रह गया है ।

विज्ञान भी (Science) तत्त्व दर्शन के आश्रित होने से, उसी प्रकार का बन जाता है जैसे तत्त्व दर्शन होता है । आयुर्वेद भी एक विज्ञान (Science) है और इसका आधार भारतीय तत्त्व शास्त्र (Philosophy) है । इसी प्रकार युरोपीय औषध विज्ञान (Science of Medicine) का आधार वर्तमान युरोपीय तत्त्व शास्त्र है । दोनों तत्त्व शास्त्रों में भिन्नता होने से विज्ञान भी परस्पर भिन्न हैं ।

कुछ चिकित्सक और शिक्षित जन यह कहते सुने जाते हैं कि शरीर तो एक है, अतः जो भी औषधि उस पर लाभ करे, वह चाहे आयुर्वेद के अनुसार हो अथवा युरोपीय विज्ञान के अनुसार दोनों एक ही सत्य का प्रतिपादन करने वाली है । यह युक्ति ठीक नहीं । अनेकों बार यह देखा जाता है कि कुछ लोग बिना औषधि के रोग मुक्त हो जाते हैं । किन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं हो जाता कि औषधि का होना और न होना समान ही है । इस से न तो रोग की अनुभूति हुई, न ही उसके कारणों का ज्ञान हुआ । ऐसी धारणा से आयु के विषय में ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

वास्तव में सिद्धान्त रूप में वर्तमान औषधविज्ञान और आयुर्वेद शास्त्र भिन्न-भिन्न हैं । कई बार दो भिन्न-भिन्न मार्ग एक ही लक्ष्य स्थान पर पहुँच जाते हैं । इस का अर्थ यह नहीं कि दोनों मार्ग एक ही हो गये । एक मार्ग सुगम, सुलभ, सुखप्रद और हितकर हो सकता है। दूसरा ढलवां, भयावह, कण्टकाकीर्ण और थका देने वाला हो सकता है ।

दोनों पद्धतियों में भिन्नता उन तत्त्व दर्शनों की भिन्नता के कारण है जिनके आधार पर इन विज्ञानों (Sciences) की कल्पना की गई है ।

आयुर्वेद भारतीय तत्त्व दर्शन के आधार पर खड़ा है । यह युरोपीय औषधविज्ञान से सिद्धान्त रूप में भिन्न है ।

आयुर्वेद का उद्देश्य

धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम् ।

च० सं० सू० अ० १ श्लोक १५

'धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष आरोग्य रहने से ही प्राप्त हो सकते हैं ।' अतः अरोग्य सिद्धि के लिए आयुर्वेद लिखा गया है । सब दर्शन शास्त्रों का उद्देश्य भी—

दुःखभयानिधातात् । (सांख्य०)

'दुःख और भय से मुक्ति प्राप्त करना ही इस का उद्देश्य है'

इसी दर्शन में बताया गया है—

त्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः । (सांख्य)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तीन प्रकार के दुःखों से सर्वथा मुक्त होना ही पुरुषार्थ है।'

दुःख तीन प्रकार के हैं। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। आधिभौतिक दुःखों से अभिप्राय है वे दुःख जो शरीर में विकार उत्पन्न होने से होते हैं, आधिदैविक वे दुःख हैं जो दैवी प्रकोपों से उत्पन्न होते हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि दैवी प्रकोपों से अभिप्राय प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। जैसे—अग्नि, मारुत, सूर्य इत्यादि। अतिवृष्टि, अतिताप, भूकम्प इत्यादि दैवी प्रकोप हैं। आध्यात्मिक दुःख वे हैं जो मन और आत्मा को होते हैं। यह राग-द्वेषादि हैं।

इन तीन प्रकार के दुःखों से निवृत्ति ही पुरुषार्थ है। इसका स्वयंसिद्ध अर्थ है कि तीन प्रकार के दुःखों के अतिरिक्त अन्य कोई दुःख नहीं। यदि कोई है तो शास्त्र की कल्पना से बाहर है।

इन तीन में से दो प्रकार के दुःखों की निवृत्ति के हेतु आयुर्वेद का उपदेश है—

हिताऽहितं सुखं दुःखं आयुस्तस्य हिताहितम्।
मानंच तच्च मयोक्तम् आयुर्वेदः सः उच्यते॥

(चरक० सू० अ० १ श्लोक ४१।)

'आयु में सुख-दुःख, हित-अहित रहते हैं। आयुर्वेद इनका वर्णन तथा आयु के परिमाण का वर्णन करता है।'

वातः पित्तं कफश्चोक्तः शरीरो दोष संग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥

(च० सू० अ० १ श्लोक ५८)

शारीरिक दुःख, वात, पित्त, कफ के असंतुलित संग्रह से होते हैं और मन के दुःख रज और तम के असंतुलित योग से। इन को संतुलन में लाने के उपाय आयुर्वेद में बताये गए हैं।

अर्थात् आयुर्वेद शास्त्र का उद्देश्य दर्शन के उद्देश्य का पूरक मात्र है। यह सम्भव है कि इन दो दुःखों (आधिभौतिक और आध्यात्मिक) की निवृत्ति के उपायों में आयुर्वेद और दर्शन शास्त्र में यत्र-तत्र भेद हो जाये परन्तु सैद्धान्तिक मतभेद इनमें भी नहीं। यह भेद व्याख्या में ही है।

एक विशेषता आयुर्वेद की यह है कि मानस रोगों में कारण रजो गुण अथवा तमो गुण की प्रधानता का शरीर के दोषों, वायु और कफ से समन्वय कर दिया है। इसका अर्थ यह निकलता है कि आयुर्वेद केवल शरीर और मन के दुःखों के कारणों के वर्णन करने पर ही संतोष नहीं करता। वह इससे आगे गया है और दोनों प्रकार के दुःखों का परस्पर सम्बन्ध और एक प्रकार के दुःखों की निवृत्ति से दूसरे प्रकार के दुःख को दूर करने का ढंग भी सम्मिलित किये हुए हैं।

इस पर भी आयुर्वेद के सब सिद्धान्त दर्शनशास्त्रों पर आधारित हैं।

मानव—

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति तो प्राणी को ही करनी है। अतः आयुर्वेद में प्राणी के लक्षण कर दिये हैं।

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगोधारिजीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥
सत्त्वामात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(च० सू० अ० १ श्लोक ४२, ४६)

'शरीर, मन और आत्मा के संयोग से जीव शरीरधारी बनता है। यह संयोग जब तक चलता है, जीव की आयु कहाती है।

'मन, आत्मा और शरीर त्रिकंटी के तीन डंडों के समान एक दूसरे के आश्रय खड़े हैं। जीवन इस प्रकार खड़ा है। इस संयोग में ही प्राणी का सब कार्य चलता है।'

सत् चित, आनन्द रूप परमात्मा जो पूर्ण चराचर जगत् में व्यापक है, के अतिरिक्त प्राणी में तीन वस्तुओं का संयोग माना है। मन, आत्मा और शरीर। यह संयोग ऐसा है जैसे त्रिकंटी के तीन डंडे एक दूसरे के आश्रय खड़े होते हैं। इनमें से एक डंडे के निकल जाने से त्रिकंटी खड़ी नहीं रह सकती। इसी प्रकार प्राणी में एक भी वस्तु के पृथक् हो जाने से प्राणी नहीं रहता। उसकी आयु समाप्त हो जाती है।

यहाँ इस बात का उल्लेख तर्क-संगत ही है कि कुछ विद्वानों के मत में आत्मा नाम की वस्तु नहीं है। शास्त्र में जहाँ-जहाँ भी आत्म शब्द आता है, वे इस शब्द का अर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कई स्थानों पर परमात्मा करते हैं और कई स्थानों पर मन करते हैं।

यथा बृहदारण्यक उपनिषद् में यह वाक्य है—

अशनाययाशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी-स्यामिति ।

(बृ० उ० अ० १ ब्रा० २, १)

'अशनाया ही मृत्यु है। उसने इच्छा की कि मैं आत्मा से युक्त होऊँ।'

इसका अर्थ श्री स्वामी शंकराचार्य जी ने इस प्रकार किया है—

केनाभिप्रायेण मनोऽकरोत् ? इत्युच्यते—आत्मन्वी आत्मवान् स्यां भवेयम् । अहमनेनात्मना मनसा, मनस्वी स्यामित्यभिप्रायः ।

'किस अभिप्राय से मन ने किया ? सो बतलाया जाता है। मैं आत्मन्वी अर्थात् आत्मवान् होऊँ। तात्पर्य यह कि आत्मा अर्थात् मन से मनस्वी होऊँ।'

यहाँ अव्यक्त प्रकृति से प्राणी के बनने की प्रक्रिया बताई है। प्रकृति ने इच्छा की कि मैं आत्मवान् अर्थात् आत्मा से युक्त होऊँ। यहाँ श्री स्वामी जी महाराज आत्मवान् का अर्थ मनस्वी करते हैं।

इसी प्रकार भगवद्गीता के शंकर भाष्य में भी अनेकों स्थानों पर आत्मा को मन का पर्याय माना है। परन्तु यह सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं। कठोपनिषद् में स्पष्ट आत्मा की उपस्थिति मानी है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ।

(के० उ० अ० १ व० ३ श्लोक १)

'ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि शरीर में बुद्धि रूप गुहा के भीतर प्रकृष्ट ब्रह्म स्थान में प्रविष्ट हुए अपने कर्मफल को भोगने वाले छाया और धाम के समान परस्पर विलक्षण दो (तत्त्व) हैं।'

यहाँ मन और आत्मा को पृथक्-पृथक् माना है। दोनों अपने-अपने कर्म-फल को भोगने वाले हैं। यहाँ एक मन और एक परमात्मा नहीं। परमात्मा न कर्म-कर्ता है, न फल भोगता है।

आयुर्वेद में तो मन और आत्मा को पृथक्-पृथक् माना है। मन तथा आत्मा शरीर के साथ एक दूसरे के आश्रय रहने से प्राणी का अस्तित्व बनता है।

आयुर्वेद में इस प्राणी के आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखों की निवृत्ति के लिए लिखा है।

यह निर्विवाद सत्य है कि शरीर में मन और आत्मा के संयोग से प्राणी बनता है। आत्मा के विकास में कोई समय ऐसा आना सम्भव है कि आत्मा-परमात्मा में ऐसे मिल जाये जैसे शर्बत में मिस्री घुली हुई हो, अथवा आत्मा ही परमात्मा हो जाता हो, आयुर्वेद इस विवाद में पड़ना नहीं चाहता। कारण यह कि उस समय तो प्राणी जिसके आयु के ज्ञान का नाम आयुर्वेद है, रहेगा ही नहीं। उस समय की अवस्था से आयुर्वेद का सम्बन्ध नहीं। हाँ, प्राणी की अवस्था में शरीर, मन और आत्मा का मानना तर्क और प्रमाण संगत है।

मन की उत्पत्ति और शरीर की उत्पत्ति के विषय में भी आयुर्वेद का मत भारतीय तत्त्व दर्शन के सर्वथा अनुसार ही है। इसके विषय में सुश्रुत में इस प्रकार लिखा है—

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्ट-रूपमखिलस्य जगतः संभवहेरव्यक्तं नाम तदेकं बहूनां क्षेत्र-ज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवोदकानां भावानाम् ।

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिग एव तल्लिगाच्च महतस्तल्लिग एवाहंकार उत्पद्यते स च त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति ।

तत्र वैकारिकादहंकारत्तैजससहायातल्लक्षणान्येवैका-दशेंद्रियाण्युत्पद्यंते । तद्यथा श्रोत्र त्वक् चक्षुर्जिह्वाघ्राण-वाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति । तत्र पूर्वाणि पंच बुद्धीन्द्रियाणि इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि उभयात्मकं मनः ।

भूतादिरपि तेजससहायातात्लक्षणान्येव पञ्च तन्मात्राण्युत्पद्यंते । तद्यथा-शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गंधतन्मात्रमिति तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरस-गन्धास्तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानल जलोर्व्यः । एवमेषां चतुर्विंशति व्याख्याता । सु० श० अ० १ श्लोक १-४

अर्थात् सर्व भूतों (पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कारण सत्व, रज, तम लक्षण वाली तथा आठ रूप वाली, जिसको अव्यक्त भी नाम दिया है, प्रकृति है। यह अव्यक्त नाम की प्रकृति पूर्ण जगत् का कारण है। वह असंख्य क्षेत्रज्ञों (जीवों) का आश्रय है, जैसे असंख्य नदी-नाले समुद्र में जाकर विलीन हो जाते हैं (पानी में पानी मिल जाता है) इसी प्रकार प्रलय के समय व्यक्त प्रकृति के सब रूप अव्यक्त में लीन हो जाते हैं और सृष्टि क्रम के आरम्भ में उत्पन्न हो जाते हैं।

उस अव्यक्त से उसी के से लक्षणों (सत्त्वरजस्तमोमय) वाला यह तत्त्व उत्पन्न हुआ। इस उक्त गुणों वाले महत्तत्त्व से उन्हीं गुणों वाला अहंकार उत्पन्न हुआ। अहंकार तीन प्रकार का है। ये तीन प्रकार प्रकृति में विकार हीन होने के कारण हैं। ये सात्विक तेजस भूतादि हैं।

तब सात्विक अहंकार और तेजस अहंकार के संयोग से दस ज्ञानेन्द्रियाँ और ग्याहरवाँ मन उत्पन्न हुआ। यह दस इन्द्रियाँ हैं। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाणी, लिंग, गुदा, हाथ, पाँव। मन इन से पृथक है।

तेजस, अहंकार और भूतादि अहंकार की परस्पर सहायता से उन लक्षणों वाली ही पाँच तन्मात्रा अर्थात् शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, गन्ध तन्मात्रा और उन के गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और उन से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी उत्पन्न हुए। ये प्रकृति के चौबीस तत्त्व कहे जाते हैं।

प्रकृति के अतिरिक्त चौबीस तत्त्व हैं—एक महातत्त्व, तीन अहंकार, दस इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रा, पाँच महाभूत। यह सांख्य दर्शन का मत है।

प्रकृतेर्महान महतोऽहंकारोऽहंकारात्पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूल भूतानि पुरुष इति पंच विंशति गणाः। सां० अ० १ सूत्र ६१।

एक प्रकृति जिसका दूसरा नाम महान है, एक महत्तत्व, तीन अहंकार, दस इन्द्रियाँ, पांच तन्मात्रा, पाँच स्थूलभूत। यह पचीस गण हैं।

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि अधिकांश टीकाकारों ने महत्तत्त्व को बुद्धि माना है। परन्तु इस बुद्धि में और प्राणी की बुद्धि (Mental faculty) में अन्तर है।

आयुर्वेद इस बात को भी स्पष्ट करता है कि प्रकृति के सब तत्त्वों में सत्त्व, रज, तम तीनों लक्षण विद्यमान होते हैं। इस पर भी, इन तीनों लक्षणों में जो संतुलन महान अर्थात् प्रकृति में है, वह इन चौबीस तत्त्वों में नहीं रहता। महत्तत्त्व में तो तीन लक्षण उसी मात्रा में रहते हैं जिसमें वे प्रकृति में रहते हैं, परन्तु वे ऐसी अवस्था में आ जाते हैं जिस को असंतुलित अवस्था ही कहा जा सकता है। इस असंतुलित अवस्था के कारण ही प्रकृति से महत्तत्त्व की सृष्टि हुई है।

तदनन्तर शेष तेईस तत्त्वों में सत्त्व, रज तथा तम असंतुलित अवस्था में होते हैं। तीनों अहंकारों की उत्पत्ति में भिन्न प्रकार के लक्षण (गुण) का प्राधान्य होता है। सात्त्विक अहंकार में सत्त्व गुण की प्रधानता, तेजस अहंकार में रजगुण की और भूतादि अहंकार में तम की प्रधानता है। इसी प्रकार इन्द्रियों, तन्मात्राओं और महाभूतों में समझना चाहिए। पंच महाभूतों से खाद्य और अखाद्य वस्तुएँ बनती हैं। जिस वस्तु में जो लक्षण प्रधान होता है, उस वस्तु का वही प्रभाव और गुण है। जैसे यदि उड़द की दाल तामसी प्रभाव वाली है तो इस कारण कि उसके निर्माण में तम का प्राधान्य है। इसी प्रकार वस्तुओं के सात्त्विक, राजसी और तामसी गुणों का प्रकटीकरण होता है।

सांख्य का यह सिद्धान्त कि प्रकृति में परिवर्तन तब तक नहीं होता, जब तक इसको आत्मा का सहयोग प्राप्त नहीं होता, आयुर्वेद को भी मान्य है।

सुश्रुत में आगे चल कर लिखा है—

तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः पुरुषः पंचविंशति तमः स च कार्य्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवती सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यर्थं प्रवृत्तिमुपदिशंति क्षीरादींश्च हेतूनुदाहरंति। सु० शा० अ० १ श्लोक ८।

अर्थात् उक्त सब वर्ग (२४ व्यक्त तत्त्व) चेतना से रहित हैं। पचीसवां पुरुष इन में मिलता है। तब वह कार्य-कारण से सब कुछ प्रकट होता है। प्रकृति अचेतन है। आत्मा जो कैवल्य प्राप्त करने की प्रवृत्ति वाला है, इसमें स्थित रहता है। जैसे हेतु से दुग्ध में चेतनता आती है।

इसमें मुख्य बात यह है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् अशनाययाशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति ।
बृ० उ० अ० १, ब्रा० २ मं० १ ।

पहिले यहाँ कुछ नहीं था । सब मृत्यु से आवृत्त था यह अशनाया मय था (यहाँ अशनाया का अर्थ क्षुधा अभाव की अवस्था है) इस अभाव की अवस्था को ही मृत्यु कहते हैं । इस अवस्था ने कामना की कि मैं आत्मवान होऊँ ।

आयुर्वेद और इस उपनिषद् में सामंजस्य है । आयुर्वेद का आधार केवल इस प्राणी और सृष्टि की उत्पत्ति में ही दर्शन शास्त्र नहीं, प्रत्युत संसार के सब पदार्थों की उत्पत्ति, उनके गुणों और उनके प्राणी पर प्रभाव का आधार भी शास्त्रोक्त ही है ।

संकेत मात्र यह बता दिया गया है कि प्रकृति के सत्त्व, रज, तम, तीन लक्षण सब पदार्थों में, यद्यपि असंतुलित और असम अवस्था में विद्यमान रहते हैं और जिस गुण का प्राधान्य जिस वस्तु में होता है, उस वस्तु का वही गुण उसमें अनुभव होता है । इन गुणों के आधार पर ही औषधियों के प्राणी पर गुणों का अनुमान लगाया गया है । उड़द की दाल वाला एक उदाहरण ऊपर दिया गया है । लाल मिर्च रज गुण प्रधान है और मनुष्य पर इसी गुण की उत्पत्ति इसका प्रभाव होता है ।

मन और शरीर का परस्पर सम्बन्ध—

आयुर्वेद इस बात को भी मानता है कि मन, शरीर और आत्मा प्राणी में केवल एक-दूसरे के आश्रय ही नहीं प्रत्युत एक-दूसरे पर प्रभाव भी डालते हैं । मनुष्य में प्रवृत्ति मन का गुण है । प्रवृत्तियाँ तीन प्रकार की हैं । सात्त्विक, राजसी और तामसी ।

ये विचार व्यवहार और भोजन से उत्पन्न होते हैं । व्यवहार और भोजन का प्रभाव पहिले शरीर पर होता है । फिर यह मन तक पहुँच जाता है । साथ ही विचार द्वारा मन पर उत्पन्न प्रभाव शरीर में प्रकट होने लगता है । साथ ही आत्मा किस प्रकार प्रभावित होता है और मन और शरीर पर आत्मा कैसे प्रभाव उत्पन्न करता है, इस विषय पर भी आयुर्वेद अपना मत प्रतिपादित करता है—

सुश्रुत में लिखा है—

नचायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्येषु पुरुषख्यापकान्हेतूनुदाहरंति ॥

आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरंति धर्माधर्मनिमित्तम् ॥

ते एतेऽनुमानग्राह्याः परम सूक्ष्माश्चेतनांवतः शाश्वता लोहित रेतसोः संनिपातेष्वभिव्यंज्यते ॥

यतोऽभिहितं पंचमहाभूतशरीर समवायः पुरुष इति स एव कर्म पुरुषाश्चिकित्साधिकृतः ।

तस्य सुख-दुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः संकल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ॥

(सुश्रुत, शारीर० अ० १, १८-२१ ॥)

अर्थात् आयुर्वेद शास्त्र में क्षेत्रज्ञों को सर्वगत (सर्वव्यापक) नहीं कहते परन्तु नित्य कहते हैं । भिन्न-भिन्न शरीरों में उपस्थित जीवात्मा जो नित्य है, इसका होना हेतुओं से सिद्ध होता है ।

आयुर्वेद शास्त्र के मत में एक देशीय जीव नित्य है । वह धर्म और अधर्म का निमित्त पाकर तिर्यग् योनि (पशु-कीटादि) तथा मनुष्य देह तथा देव शरीर में विचरते हैं ।

ये परम सूक्ष्म चेतनावान् (जीवात्मा) अनुमान से ग्रहण किये जाते हैं । ये शाश्वत अर्थात् नित्य हैं और माता-पिता के रजोवीर्य के संयोग से प्रकट होते हैं । पञ्चमहाभूत शरीर और आत्मा के समवाय को प्राणी कहा गया है और यही कर्म-पुरुष चिकित्सा में स्वीकार किया गया है ।

इस कर्म-पुरुष (जीवित-प्राणी) के ये १६ गुण कहे हैं । सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अपान, उन्मेष, निमेष बुद्धि, मन, संकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय, विषयोपलब्धि (स्पर्श शब्दादि का ग्रहण) ।

मन के राग द्वेषादि रोग और शरीर के रोगों का समन्वय भी किया है । शरीर का कार्य तीन दोष—वात-पित्त-कफ—के अधीन है । मन की क्रियाएँ इस की सात्त्विक, राजसी और तामसी प्रवृत्तियों के अधीन होती हैं और इन का परस्पर सम्बन्ध भी है ।

सात्त्विक प्रवृत्ति के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—

सात्त्विकास्तु आनृशंस्यं संविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषंगश्च ॥

(सु० शा० अ० १ सूत्र २२ ॥)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सात्त्विक पुरुष के गुण हैं निर्दयता से रहित, बाँट कर लेने वाला, सहनशील, सत्यवादी, धर्म पर आचरण करने वाला, आस्तिक, ज्ञानवान, बुद्धिशील, स्मृतिमान, धृतिमान और निष्पक्षता पूर्ण।

अब कफ प्रकृति पुरुष के लक्षण देखिये।

दूर्वेंदवीरनिस्त्रिशार्द्रारिष्टशरकांडनामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो [illegible]वांश्चिरग्राही दृढ़वैरश्च भवती। शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलातिनीलकेशो लक्ष्मीवान् जलदमृदंगसिंहघोषः। सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान् संपश्येदपि च जलाशयान्मनोज्ञान्। रक्तांत नेत्रः सुविभक्तगात्रः स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः। क्लेशक्षमो मानयिता गुरुणां ज्ञेयो बलासं प्रकृतिर्मनुष्यः॥ दृढ़ शास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः परिगण्य चिरात्प्रददाति बहु। परिनिश्चितवाक्यपदः संततं गुरुमानकरश्च भवेत्स सदा॥ ब्रह्मारुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः। तार्क्ष्यहंसैः सामानूकाः श्लेष्म प्रकृतयो नराः॥ (सुश्रुत शा० अ०४ सूत्र ८६-९० ॥)

कफ प्रकृति वाले पुरुष का वर्ण दूब, नीलकमल, खड्ग, स्निग्ध नीम के पत्र अथवा ताजे रीठे, शरकंड, इनमें से किसी के भी समान होता है। वह सुन्दर, मनोहर, मधुरप्रिय, कृतज्ञ, धैर्यवान, शीतोष्ण सुख-दुःख सहन करने वाला, परिश्रम सह सकने वाला, जितेन्द्रिय, बलवान, सोच विचार कर बात ग्रहण करने वाला और दृढ़ वैरी होता है।

ऐसा पुरुष आँखें सफ़ेद, घने घुंघराले काले बाल, लक्ष्मीवान्, मेघ, मृदंग अथवा सिंह के समान गम्भीर शब्द, स्वप्न में कमल हंस चक्रवाकों सहित मनोहर जलाशयों के देखने वाला होगा।

उसकी आँखों के कोने लाल, शरीर सुडौल और उसपर स्निग्ध कांति और सत्त्व गुण से संयुक्त, क्लेश सहने की शक्ति, बड़ों का सत्कार करने वाला होता है।

उसकी बुद्धि शास्त्र में स्थिर, मित्रों और धन को स्थिर रखने वाला, सोच-विचार कर बात करने वाला, अथवा दान देने वाला, पाँव को जमा कर चलने वाला, गुरु का मान करने वाला होता है।

ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, वरुण, सिंह, अश्व, गज, बैल, गौ, गरुड़, ये कफ प्रकृति वाले होते हैं। इनके स्वभाव के समान कफ प्रकृति वाले पुरुष का स्वभाव होता है।

दोनों में समानता देखने से इनका परस्पर आश्रित होना माना जाता है।

राजसी प्रकृति के लक्षण इस प्रकार हैं—

राजसास्तु दुःखबहुलताऽटनशीलताऽधृतरहंकार अनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च।

सु० शा० अ० १ सू० २३ ॥

राजसी प्रवृत्ति वालों के लक्षण यह हैं। विशेष दुःखी रहना, एक जगह स्थिरप्राय न होना (घूमते रहना), धैर्य न होना, अभिमान करना, झूठ बोलना, दया न रखना, पाखंड करना, मान, हर्ष, काम, क्रोध करना।

पित्त प्रकृति पुरुष के लक्षण—

स्वेदनो दुर्गन्धः पीतशिथिलांगस्ताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो दर्भगो बलिपलितखालित्यजुष्टो बहुभगुष्णद्वेषीक्षिप्रकोपप्रसादो मध्यमबलो मध्यमायुश्च भवति॥ मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः। सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान् सो पश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः॥ न भयानप्रणमेदनतेष्वमृदुः प्रणितेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः। भवतीह सदा व्यथितास्य गतिः सभवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः॥ भुजंगोलूकगंधर्व दक्षमार्जार वानरैः। व्याघ्रक्षनकुलाश्कैः पैत्तिकास्तु नरा मताः॥ सु० शा० अ० ४ सू० ८२-८५ ॥

जिस के पसीना बहुत आवे, (देह में) दुर्गंध हो, शरीर पीला और शिथिल हो, नाखून, नेत्र, तालु व जिह्वा, हथेली और तलवे विशेष लाल हों, लावण्य से रहित, शरीर में शीघ्र ही झुर्री पड़ जायें, बाल सफेद हो जायें, शिर के बाल उड़ जायें, बहुत भोजन करे और शीघ्र ही प्रसन्न हो जाय, बल और आयु मध्यम हो।

बुद्धिमान हो, चतुराई युक्त हो, बात को सोच-समझ कर कहे, तेजस्वी, संग्राम में रुके नहीं, स्वप्न में स्वर्ण, केसु के फूल, लाल कनेर के फूल, अग्नि, विद्युत, प्रकाश आदि देखे।

भय दिखाने पर भी नरम न हो, अकड़ के साथ अकड़ और मृदु के साथ मृदु रहे और उसे कुछ देने की रुचि रखे। मुंह की गति से सदा व्यथित दिखाई दे। ऐसा मनुष्य पित्त प्रकृति होता है। सर्प, उल्लू, गन्धर्व, यक्ष, मार्जार, वानर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याघ्र, रीछ, नकुल इत्यादि के सदृश स्वभाव पित्त प्रकृति पुरुष का होता है।

इसी प्रकार तामसी प्रवृत्ति वाले व्यक्ति के लक्षण भी लिखे हैं—

तामसास्तु विषादित्वं नास्तिक्यधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वकर्मशीलता निद्रालुत्वं च ॥

(सु० शा० अ० १ सूत्र २४ ॥)

तामस मन के गुण हैं—विषाद रखना, नास्तिकता, अधर्मशीलता, बुद्धि की रुकावट, अज्ञान और दुर्मेधस्त्व (दूसरे की बात न समझना), अकर्मशीलता और निद्रा अधिक आना।

इसकी तुलना में वात प्रकृति के गुण इस प्रकार लिखें हैं:—

तत्र जागरूकः शीत द्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्यनार्यो गान्धर्वचित्तः स्फुटितकरचरणोऽतिरूक्षश्मश्रुनखकेशः क्रोधी दंतनखखादी च भवति। अधृतिरदृढ़सौहृदः कृतघ्नः कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी। द्रुतगतिरटनोनवस्थितात्मा वियदपि गच्छति संभ्रमेण सुप्तः॥ अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टिर्मंदरत्नधनसंचयमित्रः। किंचिदेवविलपत्यनिबद्धं मरुतप्रकृतिरेष मनुष्यः॥ वातिकाश्वजगोमायुशशखूष्ट्रशुनां तथा। गृध्रकाक खरादिनामनूकैः कीर्तिता नराः॥ (सु० शा० अ० ४ सू० ७८—८१)

बहुत जागने वाला, शीत का द्वेषी और बुरी चेष्टा वाला, जिसमें चोरी की लत हो, मत्सरता युक्त हो, अनार्य हो, गन्धर्वों का सा जिसका चित्त हो, हाथ, पैर बहुत फटते हों, जिसके डाढ़ी, मूंछ, नाखून और बाल अति रूखे हों, क्रोधी हो, दाँत अथवा नाखून चबाने वाला हो, धैर्य रहित हो, दृढ़ प्रेम न कर सके, कृतघ्न, दुबला हो, शरीर खुर्दरा हो, श्वास की गति तीव्र हो, बहुत बोले, जल्दी-जल्दी चले, चल चित्त, स्वप्न में आकाशचारी हो। बुद्धि स्थिर न हो, चंचल दृष्टि हो, रत्नादि धन अथवा मित्र संचय न कर सके। कभी अस्त-व्यस्त बात भी कहे। ऐसे मनुष्य को वात प्रकृति जानना। बकरा, गीदड़, सुअर, चूहा, ऊँट, कुत्ता, गीध, काक और गधा इत्यादि जन्तु वात प्रधान हैं। वात प्रकृति मनुष्य इन से मिलता है।

आयुर्वेद तत्त्व दर्शन (Philosophy) एवं शरीर की व्यवहारिक क्रियाओं में सम्बन्ध और परस्पर आश्रय का यहाँ वर्णन किया गया है। इस बात की व्याख्या के लिये यहाँ स्थान नहीं कि यह सब किस प्रकार होता है।

आयुर्वेद में शरीर रचना और शरीर क्रिया विज्ञान की कल्पना सर्वथा तत्त्व दर्शन के आधार पर ही की गई है। शरीर पंचभौतिक है। मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ, तेजस और सात्त्विक अहंकारों के संयोग से अर्थात् सत्त्व और रज प्रधान है। पंचभूत तेजस और भूतादि अहंकार अर्थात् रज और तम की प्रधानता से बनते हैं।

यह ज्ञात ही है कि शरीर का सुचारु रूप से संचालन वात-पित्त तथा कफ से होता है और इनमें विकार उत्पन्न होने से रोगों की सृष्टि होती है। इन रोगों के निवारण के लिये उपचार भी इनके अनुरूप होते हैं।

यदि भारतीय तत्त्व दर्शन जीवन और संसार का सत्य दर्शन कराता है तो आयुर्वेद स्वस्थ, दीर्घ और सुखी जीवन की सत्य मीमांसा ही कराने वाला होना चाहिये।

सफेद दाग

की पेटेन्ट दवा हजारों ने इसका अनुभव करके लाभ उठाया है। मूल्य ६.००

विशेष जानकारी के लिए विवरणपत्र मुफ्त मंगावें।

दमा, श्वास

अनुभव सिद्ध परीक्षित दवा है।

मूल्य ५.०० डाक खर्च १.००

वैद्य बी० आर० बोरकर आयुर्वेद (शाश्व)

मु. पो. मंगरूलपीर, जि० अकोला (महाराष्ट्र)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हड़प्पा आदि की सभ्यता का भारतीय इतिहास में स्थान

(लेखक—पं० भगवद्दत्त, अनुसन्धान कर्ता)

उपक्रम—सन् १९२४ का अन्त था। दोपहर का काल था। मैं दयानन्द कॉलेज, लाहौर के अनुसन्धान पुस्तकालय के हाल में बैठा काम कर रहा था। सामने बड़े द्वार पर एक ताँगा आकर ठहरा। उसमें से उतरकर रायबहादुर ला० दयाराम साहनी सीधे अन्दर आए। उनका मुख उज्ज्वल था। आते ही उन्होंने कहा—"आपको बधाई हो। अभी कुछ समय हुआ, इङ्गलैण्ड के इलस्ट्रेटिड लण्डन न्यूज़ (४ अक्तूबर, १९२४) में एक लेख छपा है। भारत की सभ्यता की प्राचीनता का सजीव प्रमाण एक ही छलाँग में ईसा से ४००० वर्ष पहले चला गया है।"

मैंने साश्चर्य पूछा, "यह बात कैसे घटी है?" उत्तर में उन्होंने कहा—"कुछ काल से हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो की जो खुदाइयाँ हो रही थीं, उनमें बहुत-सी प्राचीन मुद्राएँ भी मिली थीं। उनमें से कुछ-एक के फोटो वहीं-कहीं छपे। उन पर अनेक चिह्न विशेष और कोई अज्ञात लिपि भी है। उन मुद्राओं की तुलना सुमेरिया आदि से मिली पुरानी मुद्राओं से की गई है। उसके फलस्वरूप पूर्वोक्त तथ्य ज्ञात हुआ है।"

हड़प्पा आदि की खुदाइयों का इतिवृत्त मैं सन् १९२१ से सुन रहा था। पर इस अति प्रसन्नता-दायक समाचार पर मैं विशेष प्रफुल्लित और हर्षित हुआ। इतने में रायबहादुर फिर बोले—"उठो, मेरे साथ चलो। पुरातत्त्व के कार्यालय में वे मुद्राएँ और हड़प्पा आदि से प्राप्त अन्य वस्तुएँ मैं लाहौर ले आया हूँ। चलो, उन्हें साक्षात् देखो, और अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करो।"

मेरा कुतूहल बहुत बढ़ गया था। मैंने पण्डित हंसराज, पुस्तकाध्यक्ष को काम का ध्यान रखने के लिए आदेश दिया और सहसा उठकर रायबहादुर जी के साथ उनके ताँगे में जा बैठा। लगभग पाँच मिनट में हम पुरातत्त्व के कार्यालय में पहुँच गए। मैं उन अति पुरातन वस्तुओं को कोई दो घण्टे देखता रहा। इलस्ट्रेटिड लण्डन-न्यूज़ का वह लेख भी मैंने पढ़ा। उसे पुनः पढ़ने के लिए, समाचार-पत्र का वह अङ्क मैं उनसे माँग लाया।

पुस्तकालय में काम करने वाले विद्वान् मेरी प्रतीक्षा में थे। लौटकर मैंने उनको विस्तृत विवरण दिया। उस दिन से हड़प्पा आदि के इतिहास के यथार्थ तत्त्व को जानने की मेरी अभिलाषा दिन-दिन बढ़ती गई।

हड़प्पा लिपि-पाठ का प्रथम प्रयास—सन् १९२५ के सितम्बर मास में आर्य समाज, शिमला का वार्षिकोत्सव था। मैं महात्मा हंसराज जी के साथ उस उत्सव पर गया। वहाँ पता लगा कि पुरा-तत्त्व-विद् एल० ए० वाडेल ने उन मुद्राओं पर एक ग्रन्थ लिखा है। वह शिमला में पहुँच गया है। मैं पुस्तकों की दूकान पर गया और उस ग्रन्थ को खरीद लाया। शिमला में चार दिन रहकर हम लाहौर लौटे। इतने में मैंने वह ग्रन्थ पर्याप्त पढ़ लिया। वाडेल ने हड़प्पा-लिपि का सुमेर-लिपि से पर्याप्त साम्य दिखाया। तदनुसार उसने सुमेर की प्राचीन-लिपि की सहायता से अनेक मुद्राओं के लेख पढ़ने की चेष्टा की थी। उसके पढ़े हुए पाठों पर मेरा विश्वास नहीं जमा। पर इतने में मुझे निश्चय हो गया कि हड़प्पा-लिपि का सुमेर की प्राचीन-लिपि से सम्बन्ध अवश्य है।

अन्य पाश्चात्य लेखक—इसके पश्चात् अनेक अन्य लेखकों ने भी इस विषय पर अपनी लेखनी उठाई। उनमें से मैके का प्रयत्न युक्त और ठीक दिशा में था। पर अधिकांश पाश्चात्य ईसाई लेखकों ने इस बात पर बल देना आरम्भ किया कि हड़प्पा आदि की सभ्यता ऋग्वेद से पुरानी है, और उसकी लिपि भी ब्राह्मी से पुरानी है। मैं उन सब के अध्ययन में लगा रहा। इस अन्तर में ललित-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तर के पाठ ने एक बड़ी सहायता दी।

ललित विस्तर में लिपि-नाम—ललित-विस्तर में गौतम-बुद्ध-काल में प्रचलित लिपियों के नाम लिखे हैं। उन नामों में—ब्राह्मी, खरोष्ठी और आसुरी नाम भी हैं। आसुरी-लिपि क्या थी, इस पर मैंने विचार किया। तब मुझे वाडेल की दूरदर्शिता का ध्यान आया। सुमेर आदि की प्राचीन जातियाँ असुर जातियाँ थीं। उनकी लिपि अवश्य आसुरी-लिपि थी। उस लिपि का यदि हड़प्पा की लिपि से कुछ भी साम्य था, तो हड़प्पा की लिपि का नाम आसुरि-लिपि हो सकता है। यह म्मता मुझ पर अङ्कित हो गया।

खोज की अगली सीढ़ियाँ—इस अध्ययन के साथ-साथ इस उपलब्ध सभ्यता को यथार्थ रूप से जानने की दृष्टि से मैंने प्राचीन संस्कृत वाङ्मय का गम्भीर आलोडन किया। पाणिनि के गणपाठ में असुर और राक्षस आदि वर्णित हैं। महाभारत-युद्ध में असुर और म्लेच्छ भाग ले रहे थे। पुराणों में भारतीय सीमा पर असुर-वास का उल्लेख मिला। वस्तुतः अगला मार्ग दृष्टि में आ रहा था। उसके परिणाम-रूप में निम्नलिखित तथ्य ज्ञात हुए।

प्रथम तथ्य—देव श्रेणियाँ

हैरोडोटोस का साहाय्य—देवों की श्रेणियों का तथ्य भारतीय ग्रन्थों से सूझ रहा था। पर इसका निर्मल स्पष्टीकरण यवन-लेखक हैरोडोटोस और ग्रीक=यवन इतिहास के अध्ययन से अधिक हुआ। मिश्र देश के पुरोहितों के व्याख्यान के आधार पर हैरोडोटोस (लगभग ४०० विक्रम पूर्व) लिखता है कि देवयुग में—

१. प्रथम श्रेणी के देव थे।

२. द्वितीय श्रेणी के देव संख्या में बारह थे। और हरकुलेस उनमें कनिष्ठतम था।

३. तृतीय श्रेणी के देवों में बेक्कस अथवा डायोनिसिअस आदि थे।

योरोपिअन आश्चर्य—गत सौ वर्ष के योरोपीय ऐतिहासिक इस सत्य देव-वर्णन को मिथ्या कहते रहे। वे हैरोडोटोस के लेख पर आश्चर्य और उपहास करते थे। वे कहते थे कि क्या देवों की भी श्रेणियाँ हो सकती हैं। वे इस बात को विद्या के विपरीत कहते थे।

मिश्र के ज्ञान के अनुसार ही नहीं, प्रत्युत यवन-इतिहास के अनुसार भी कभी ज्येष्ठ (=elder) देव भी थे। उनका नाम टाइटन्स (Titans) था।

भारतीय इतिहास से पुष्टि—भारतीय इतिहास के अनुसार प्रजापति दक्ष ऋषि की अनेक कन्याएँ थीं। वय की दृष्टि से उनमें पहली चार दिति, अदिति, दनू और दनायू थीं। ये सब कश्यप ऋषि से ब्याही गईं।

प्रथम श्रेणी के देव—पूर्वदेव—इनमें से पहली की सन्तान दैत्य अथवा दैतेय कहाई। उनमें हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, प्रह्लाद, विरोचन और बलि आदि थे। इनका राज्य मैसोपोटेमियाँ में था। बाईबिल में बलि का स्मरण Belos अथवा Baalim नामों से हुआ है। संस्कृत ग्रन्थों मे दिति के इन दैत्य-पुत्रों को पूर्वदेव भी कहते थे। महाभारत और अमर कोश आदि में ऐसा स्पष्ट लिखा है। वय की दृष्टि से दिति के पुत्र ही प्रथम श्रेणी में हुए।

द्वितीय श्रेणी के बारह देव—दिति की छोटी भगिनी अदिति के बारह पुत्र थे। वे द्वादश आदित्य कहाते थे। उनमें विष्णु कनिष्ठतम था। यह विष्णु अथवा सुरकुलेश ही पाश्चात्य हैरोडोटोस का हरकुलेस था। वय में दूसरे स्थान पर होने के कारण अदिति के पुत्र ही मिश्र वालों के लिए दूसरी श्रेणी के देव थे। मिश्र के पुरोहित यदि बारह की संख्या का ज्ञान सुरक्षित न रखते, तो मैं इस अटूट-सत्य की यथार्थ खोज न कर पाता।

तृतीय श्रेणी के देव—दिति आदि बहनों में दनू और दनायू तीसरे और चौथे स्थान पर थीं। इनके पुत्र दानव थे। दनू के पुत्र तीसरी श्रेणी के देव थे। विप्रचित्ति उन में प्रधान था। वही बक्कस अथवा ओरोतोल था।

दैत्य और दानवों ने योरोप बसाया—दैत्यः पद का प्राकृत अपभ्रंश **दइच्चो** अथवा **दइत्तो** आदि हुआ। और इसी का पश्चिम में अपभ्रंश टाइटन (Titan) और पुनः उसका परवर्ती रूप ट्यूटन (Teuton) आदि हुआ। ये ट्यूटन लोग जर्मनी, स्कैन-डिनेविया और इङ्गलैण्ड के आदि वासी हुए।

आज भी यह नाम-साम्य बहुत दूर तक दिखाई देता है। यथा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. दैत्य पद के अन्य रूपान्तर—डच (Dutch)। यही शब्द जर्मन में deutsch, ओल्डहाई जर्मन में diutisch अथवा diutisk, एङ्गलो सैक्सन में Theod, और गाथिक में Thiuda रूप में विकृत हुआ।

Dieutsch-land, जर्मनी का यह नाम आज तक प्रसिद्ध चला आ रहा है।

२. दानव पद के नाम-विकार—Danes नाम की जाति आज भी मिलती है।

३. ब्राह्मण ग्रन्थों में दानव मर्क—दानव मर्क विद्वान् ब्राह्मण था। उसकी भूमि Den-mark नाम वाली है।

४. षण्ड दानव—मर्क का साथी षण्ड दानव था। उसी के नाम से Scan-dinavia आज भी प्रसिद्ध है।

५. श्वेत-दानव—दानवासुर विप्रचित्ति का पुत्र श्वेत दानव था। उसी के नाम का विकार Swe-den पद में आज भी मिलता है।

६. Danube—इस नाम की नदी सुप्रसिद्ध है। इसका पुराना नाम Danuvius था। यवन भाषा में इसका पुराना नाम Ister था। स्ट्रैबो आदि के ग्रन्थ में यह नाम प्रयुक्त है। इस नदी के पास **दनायू** की सन्तान बसी। वे ही असुर थे। अतः नदी का यवन नाम इस्तर भी हुआ।

७. Goths—दानवों के मूल पुरुषों का एक व्यक्ति गवेष्ठि हुआ। उसी के वंशज गाथ्स नाम से जर्मनी के एक भाग के बसाने वाले हुए। उनकी भाषा गाथिक नाम से प्रसिद्ध हुई।

८. तल-अन्त वाले देश—अतल, वितल, सुतल और रसातल आदि अनेक देश योरोप के दक्षिण में थे। उनमें भी असुर रहते थे। उन्हीं देशों के विकृत नाम Italy और Anatolia आदि में मिलते हैं।

अब कहाँ तक गिनाएँ। इस छोटे से लेख में इतना ही पर्याप्त है।

योरोपीय भाषाओं में संस्कृत पदबाहुल्य—ये असुर अथवा दैत्य, दानव और गवेष्ठि आदि के वंशज पहले संस्कृत भाषी और वेद के मानने वाले थे। अतः उनकी सन्तानों में भाषा के जो उत्तरोत्तर विकार होते गए, उनमें संस्कृत पदों का बाहुल्य आज भी देखने में आता है।

विप्रचित्ति असुर के वंशज भारत में—विप्रचित्ति का अपर नाम दानवासुर था। इसी दानवासुर पद के अपभ्रंश donosor अथवा Dionisius आदि रूपों में मिलते हैं। मैगस्थनेस लिखता है कि इस दानवासुर ने पंजाब पर आक्रमण किया। महाभारत में उसे भयङ्कर विशेषण दिया गया है। मैगस्थनेस लिखता है कि जब वह पंजाब से लौट गया, तो उसके अनेक असुर-अनुगामी पंजाब आदि में ही बस गए। उनमें से एक समूह क्षुद्रकों का था। क्षुद्रकों के साथ ही मालव भी थे। पाणिनि और उसके टीकाकारों का कहना है कि क्षुद्रक और मालव न क्षत्रिय थे, न ब्राह्मण।

क्षुद्रकों की कबरें—मैगस्थनेस लिखता है कि इन क्षुद्रकों की कबरें विशेष प्रकार की होती थीं। शतपथ ब्राह्मण में भी आसुरी चम्वाओं=कबरों की प्रथा का वर्णन मिलता है।

धुन्धु असुर—सिन्धु मरु के नीचे और सुराष्ट्र से ऊपर के स्थान में धुन्धु नामक असुर की बस्ती थी। वह माता दनायू का पौत्र और अररू असुर का पुत्र था। आरण्यक पर्व में उसे दानवेन्द्र लिखा है। उसका वध अयोध्या के महाराज कुवलाश्व ने किया था।

कुवलाश्व के अति प्राचीन काल में भी भारत के पश्चिम प्रान्त में असुर बस्ती थी।

भारत में वाहीक देश—दानवासुर के वंशज और अन्य असुर भारत में बसने लग गए। उन्होंने पंजाब, सौराष्ट्र और कलिङ्गों के अनेक प्रत्यन्त विभाग घेर लिए। उनके साथ विवाह सम्बन्ध पैदा होने से अनेक आर्य भी गोमांस भक्षी, म्लेच्छ आदि हो गए।

वाहीकाः अथवा बाह्याः—इन्हीं असुरों अथवा म्लेच्छों को प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में **वाहीकाः** अथवा **बाह्याः** नामों से स्मरण किया गया है। वे आर्यों की श्रेणि से बाहर थे। व्याकरण ग्रन्थों और महाभारत कर्ण पर्व के आधार पर इन वाहीक देशों और ग्रामों की एक विस्तृत सूची मैंने अपने रचे भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग द्वितीय में एकत्र कर दी है। देशों में एक अन्तर्घण देश भी था।

वाहीकों के अवशेष—ग्रामों आदि में से सांगला और गिद्दड़वाहा और रावी के तटों पर क्षुद्रकों आदि की बस्तियाँ आज भी पहचानी जा सकती हैं। इन आसुरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बस्तियों को वेदकाल से पुरानी सभ्यता का कहना विद्या से मुख मोड़ना है। देखिए प्राचीन ग्रन्थकार उन निवासियों और उनकी सभ्यता को किसी दृष्टि से देखते थे—

१. बौधायन गृह्य परिभाषा सूत्र १।१२।६ में—

सौराष्ट्रं सिन्धुसौवीरम् अवन्तीं दक्षिणापथम्।
एतानि ब्राह्मणो गत्वा पुनस्संस्कारमर्हति ॥

२. बौधायन धर्म सूत्र १।१ में—

(क) **अवन्तयोऽङ्गमगधाः सुराष्ट्रा दक्षिणापथाः।**
उपावृत् सिन्धुसौवीरा एते संकीर्णयोनयः ॥१४॥

(ख) **आरट्टान कारस्करान् पुण्ड्रान् सौवीरान् वङ्गान्**
कलिङ्गान्। प्रानूनान् इति च गत्वा पुनरत्तोमेन
यजेतसर्वपृष्ठया वा ॥१५॥

(ग) **पद्भ्यां स कुरुते पापं यः कलिङ्गान् प्रपद्यते।**
ऋषयो निष्कृतिं तस्य प्राहुर्वैश्वानरं हविः ॥१६॥

३. वायु पुराण अ० ७८ में श्राद्ध विषय में वर्जित देश निम्नलिखित हैं—

कारस्कराः कलिङ्गाश्च सिन्धोरुत्तरमेव च।
प्रणष्टाश्रमधर्माश्च देशाः वर्ज्याः प्रयत्नतः ॥२३॥

४. **एष ह वै पद्भ्यां पापं करोति, आरारट्टान् कारस्करान् पुण्ड्रान् सौवीरान् वा गच्छति।**

कल्पद्रु कोश में भी यह भाव प्रकट किया गया है—

प्रत्यन्तोऽनार्य देशः।

५. महाभारत कर्णपर्व में भी इसी प्रकार के भाव हैं। इनसे स्पष्ट है कि—

सौराष्ट्र, सिन्धु, सौवीर, अवन्ति, दक्षिणापथ, अङ्ग, मगध, उपावृत देश, आरट्ट, कारस्कर, पुण्ड्र, वङ्ग, कलिङ्ग और प्रानून देश म्लेच्छ और सङ्कीर्णयोनि हो चुके थे। इनमें से—

मोहन-जोदड़ो, (सिन्धु में)
छन्होदड़ो, (सिन्धु के उत्तर में)
हड़प्पा, (क्षुद्रकों का मूल स्थान, रावि पर, सौवीरों में)
कालीबङ्गा, (राजस्थान में)
कोटिनिहङ्ग, (रोपड़ में)
लोथल, (कारस्कर, सुराष्ट्र में)
रङ्गपुर, (कारस्कर, सुराष्ट्र में)

आदि असुरों के स्थान थे। ये भारतीय श्रेणी से बाहर वाहीक लोग थे।

वाहीक प्रथा, मुद्रा-रक्षण—वाहीका देशों की खुदाइयों से जो मुद्राएँ मिली हैं, उसका कारण-विशेष है। असुरों में मुद्रा रखने की प्रथा थी। हैरोडोटोस ने बाबल देश के असुरों के विषय में लिखा है—

Everyone (of the Babylonians) carried a seal (vol. I, p. 100)

अर्थात्—प्रत्येक बाबली अपने पास एक मुद्रा रखता था। इसी प्रकार मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा के निवासी भी अपने पास मुद्राएँ रखते थे।

हैरोडोटोस से यह बड़ी उपादेय जानकारी प्राप्त हुई है।

वाहीकों का पूज्य देव—शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है कि वाहीक लोग शिव का **भव** नाम बरतते थे। निस्सन्देह भव उनका आराध्य देव था। यही शिव योरोप की अन्य जातियों का जेहोवा नाम का देव था।

नई खुदाइयाँ—हमारे कथन को अगली खुदाइयाँ और भी प्रमाणित करेंगी। भविष्य में सांगला, गिद्ड़वाहा, और सुराष्ट्र के अन्य नए स्थानों में खुदाइयाँ होनी चाहिएँ। कलिङ्ग आदिकों में भी आसुरी अथवा आसुरोत्तर म्लेच्छ सभ्यता के अवशेषों के मिलने की सम्भावना है।

दक्षिण में उपलब्ध बृहत् पत्थरों की कबरें—ये कबरें अथवा शव-स्थान दक्षिण में विद्यमान हैं। इनका असुर सभ्यता से सम्बन्ध ढूँढना चाहिए।

वाङ्मय अथवा खुदाइयों से सम्प्राप्त वस्तुएँ—आधुनिक पुरातत्त्व के ज्ञाता खुदाइयों से प्राप्त ज्ञान का वाङ्मय से प्राप्त ज्ञान से अधिक मूल्य मानते हैं। परन्तु जिस देश में वाङ्मय द्वारा प्राप्त ज्ञान अनवच्छिन्न रूप से आ रहा हो, वहाँ खुदाइयों से प्राप्त ज्ञान उतना मूल्यवान् नहीं होता। इसका उदाहरण भी है—

मैसोपोटेमियाँ आदि की खुदाइयाँ—जब मैसोपोटेमियाँ आदि में खुदाइयाँ आरम्भ हुईं, तो उस समय के पुरातत्त्व वेत्ता हैरोडोटोस को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। परन्तु शनैः-शनैः पता लगा कि हैरोडोटोस पर्याप्त ठीक था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैरोडोटोस के विषय का निम्नलिखित उद्धरण देखने योग्य है—

So confused was the picture which resulted that, until late in the nineteenth century, many scholars tended even to discount much that Herodotus had written concerning them (the Scythians). Then, gradually, the very high intrinsic value of the objects which were regularly appearing from the Scythian barrows of southern Russsia led archeologists to consult these early records anew. To their surprise, intermingled with the absurd, they found much that has proved of inestimatable value in pricing together a picture of Scythian life. Excavations in our own day continue to produce ever new corroborative evidence in support of some of these ancient assertions.

The Scythians, Tamarato Talbot Rice
London, Thames and Hudson
Second Ed. (1958, p. 19, 20.)

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन लिखित वाङ्मय प्राचीन इतिहास के समझने में बहुमूल्यवान् है।

इसी प्रकार मैसोपोटेमियाँ की खुदाइयों से बाइबिल के लेखों की भी पुष्टि हो गई।

पुराण वंशावलियों का मूल्य—और इसी प्रकार पुराणों के लेखों से आन्ध्र इतिहास की जितनी पुष्टि हुई है, वह अवर्णनीय है।

इस मार्ग पर चलते हुए, हमें निश्चय हो गया है कि भारतीय इतिहास का जो कलेवर प्राचीन वाङ्मय की सहायता से हमने अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है, वही ठीक है। उसमें हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता—

१. वेदों के अति उत्तर-काल की सभ्यता थी।

२. यह सभ्यता असुरों के वंशजों की सभ्यता थी।

३. ये असुर अशुचिप्रायः थे।

४. उनका देवता भव था।

५. उनकी लिपि आसुरि लिपि थी।

६. उनका भोजन आदि हीन हो चुका था। वे अशुचि थे।

७. उनकी भाषा में अतिप्राचीन काल में संस्कृत भाषा का पर्याप्त अंश था। इसी कारण उनके अनेक ग्रामों के नाम संस्कृत नाम ही थे। और इसी लिए प्राचीन संस्कृत वैयाकरणों को उन ग्राम-नामों के लिए विशेष नियम बनाने पड़े।

८. उनके प्रायः जन अपने पास एक मुद्रा रखते थे। वे मुद्राएँ सुमेरिया की अति प्राचीन लिपि की सहायता से पढ़ी जा सकेंगी।

९. पादरी हेरास ने हड़प्पा की लिपि के पढ़ने का दावा किया था। वह तो हमें सत्य नहीं जँचा। पर इतनी बात सत्य है कि इन वाहीकों का मीनों से सम्बन्ध है। प्रतीत होता है कि पुराणों और पराशर आदि की संहिताओं में इन लोगों को मीन कहा गया है।

इनकी मुद्राओं पर भी बहुधा मीन (मच्छी) की आकृति मिलती है।

जि० आर० हण्टर का कथन सत्य है कि हड़प्पा की लिपि का सम्बन्ध प्राचीन सुमेर, सूसा और टिग्रिस की तट-भूमि की पुरातन लिपियों से है। तथाच साबियान की लिपि से भी है।

व्यास, बौधायन, वायुपुराण, पाणिनी और कात्यायन आदि ऋषि, मुनि और आचार्य हड़प्पा आदि के निवासियों और उनकी सभ्यता को पूर्ण प्रकार से जानते थे। अतः यह शोर मचाना कि वर्तमान खुदाई करने वालों ने किसी अज्ञात और आर्यों से पहले की सभ्यता का पता लगा लिया है, एक वृथा प्रलाप और परले सिरे का मिथ्या भाषण है।

टिप्पणी—इस लेख में जहाँ-जहाँ प्रमाण अपेक्षित है, वे सब हमारे निम्नलिखित ग्रन्थों में मिलेंगे।

१. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० २१२-२२५।

२. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० ३७-३८। पृ० ७२-७३, तथा पृ० १५७-१६०।

३. भाषा का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० २१५-२१९।

४. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ६९-९४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीता-अमृत

(सारांश)

[हिन्दू धर्म-शास्त्र में श्रीमद् भगवद्गीता का एक विशेष स्थान है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों ने इस पर टीकाएँ अथवा भाष्य किये हैं। हम इस लेख में गीता के १०८ श्लोक टीका और आवश्यकतानुसार व्याख्या सहित देने का प्रयास कर रहे हैं।

गीता की महिमा के विषय में महाभारत, जिसका कि गीता एक अंश है, में इस प्रकार लिखा हुआ है :—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

"गौ रूप सब उपनिषदों का दोहन कर गोपालनन्दन योगिराज कृष्ण ने अर्जुन रूपी गोवत्स को गीतामृत रूपी दुग्ध का पान कराया।" अन्यत्र यह भी उल्लिखित है :—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यै शास्त्र विस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

"अन्य अनेकों शास्त्रों की अपेक्षा केवल गीता का भली प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिए। क्योंकि यह भगवान के श्रीमुख से निकली है। इसका पठन करने के अनन्तर अन्य शास्त्रों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती।"

इस पर भी कुछ भ्रम मूलक टीकाओं और भाष्यों के कारण यह विवाद का विषय बना दी जाती है। द्वैतवादी, अद्वैतवादी, कर्मयोगी, कर्मविरोधी, भक्त इत्यादि इत्यादि सभी इसमें से अपनी इच्छा तथा मतानुसार अपना-अपना मत सिद्ध करने का यत्न करते हैं।

इन विवादों में न पड़ते हुए हम अपनी बुद्धि के अनुसार इस गीतामृत से कुछ श्लोक उद्धृत कर रहे हैं और यह पाठकों की अपनी प्रज्ञा पर निर्भर है कि वे उनके भावार्थ किस प्रकार ग्रहण करते हैं। सम्पादक।]

गीता-कथन का कारण

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥१-२८, २९॥

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! युद्ध करने की इच्छा से यहाँ एकत्रित इन सज्जनों को देख कर मेरे गात्र शिथिल हो रहे हैं, मुँह सूख रहा है, शरीर में कँपकँपी उठ कर रोएँ भी खड़े हो गये हैं।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥
१-३२॥

हे कृष्ण! मुझे विजय की इच्छा नहीं, मुझे न राज्य चाहिए और न सुख ही। हे गोविन्द! राज्य-उपभोग या जीवित रहने से ही क्या उपयोग है?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मेनष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥
१।४०-४१॥

कुल का क्षय होने से सनातन कुल धर्म नष्ट होते हैं, और कुल धर्मों के छूटने से समूचे कुल पर अधर्म की धाक जमती है। हे कृष्ण! अधर्म के प्रसारित होने से कुलस्त्रियाँ बिगड़ती हैं। हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के बिगड़ जाने पर सन्तान वर्णसंकर हो जाती है।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥
१-४७॥

इस प्रकार रण भूमि में भाषण कर शोक से व्यथित-चित्त अर्जुन, हाथ का धनुष-वाण डाल कर, रथ में अपने स्थान पर यों ही बैठ गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान कृष्ण का प्रवचन

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ २-३ ॥

हे पार्थ ! ऐसा नपुंसक मत बन । यह तुझे शोभा नहीं देता । हे शत्रुओं को ताप देने वाले ! अन्तःकरण की इस क्षुद्र दुर्बलता को छोड़ कर युद्ध के लिये खड़ा हो ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥
२—११,१२ ॥

जिनका शोक न करना चाहिये, तू उन्हीं का शोक कर रहा है और ज्ञान की बातें करता है ! किसी के प्राण चाहे जाएँ या रहें, ज्ञानी पुरुष उनका शोक नहीं करते ।

[यहाँ पर कहा गया है कि 'प्राणों के रहने अथवा जाने का पण्डितजन शोक नहीं किया करते ।' इस पर टीकाकारों ने प्राण रहने का शोक कैसा और क्यों करना चाहिए ? यह शंका उत्पन्न कर बहुत कुछ चर्चा की है और अनेकों ने कहा है कि 'मूर्ख एवं अज्ञानी लोगों का प्राण रहना शोक का ही कारण है ।' किन्तु इस छिद्रान्वेषण की अपेक्षा 'नानुशोचन्ति' शब्द का 'भला या बुरा लगना' इस प्रकार का व्यापक अर्थ करने से कोई अड़चन नहीं रह जाती । इसका अभिप्राय है कि 'ज्ञानी पुरुष के लिए दोनों बातें समान ही होती हैं ।']

ऐसा ही नहीं है कि मैं पहले कभी नहीं था, तू और ये राजा लोग पहले न थे और ऐसा भी नहीं हो सकता कि हम सब लोग आगे न होंगे ।

[रामानुज भाष्य में इस श्लोक की टीका में लिखा है :—इस श्लोक से ऐसा सिद्ध होता है कि 'मैं' अर्थात् परमेश्वर और 'तू एवं राजा लोग' अर्थात् अन्यान्य आत्मा, दोनों यदि पहले थे और भविष्य में होने वाले हैं, तो परमेश्वर और आत्मा, दोनों ही पृथक् स्वतन्त्र और नित्य हैं ।

यह आग्रह मात्र है । क्योंकि इस स्थान पर प्रतिपाद्य इतना ही है कि 'सभी नित्य हैं' और उनका पारस्परिक सम्बन्ध बतलाया नहीं है, न ही यह बतलाने की आवश्यकता थी । गीता के अध्याय ८-४,१६,३१ पर इस प्रसंग में स्पष्ट रीति से बतला दिया गया है कि 'समस्त प्राणियों के शरीर में देहधारी आत्मा मैं अर्थात् एक ही परमेश्वर हूँ ।]

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्धस्व भारत ॥
२—१८ ॥

जो शरीर का स्वामी (आत्मा) नित्य, अविनाशी और अचिन्त्य है, उसे प्राप्त होने वाले ये शरीर नाशवान हैं । अतएव हे भारत ! तू युद्ध कर ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
२—२३,२४ ॥

इसे (अर्थात् आत्मा को) शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी इसे गला अथवा भिगो नहीं सकता और न ही इसको वायु सुखा सकता है । यह कभी भी न कटने वाला, न जलने वाला, न भीगने वाला, और न सूखने वाला आत्मा, नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन अर्थात् चिरन्तन है ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥२-३१॥

इसके अतिरिक्त स्वधर्म की ओर देखें तो भी इस समय तुम्हें साहस छोड़ना उचित नहीं । क्योंकि धर्मोचित युद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय को अन्य कुछ श्रेयस्कर है ही नहीं ।

[गीता के ३-३५ और १८-४७ श्लोकों में भी स्वधर्म की यह उत्पत्ति बतलाई गई है ।]

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥
अकीर्तिंचापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥
२—३३, ३४ ॥

अतएव यदि तू अपने धर्म के अनुकूल यह युद्ध नहीं करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप बटोरेगा । यही नहीं, बल्कि सब लोग तेरी अक्षम्य दुष्कीर्ति गाते रहेंगे । और सम्भावित पुरुष के लिए अपयश तो मृत्यु से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी बढ़ कर है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ २-३७॥

यदि मर गया तो स्वर्ग प्राप्त होगा और विजय प्राप्त की तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा। इसलिए हे कौन्तेय! युद्ध का निश्चय करके उठ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥२-४७॥

कर्म करना मात्र तेरा अधिकार है, फल मिलना या न मिलना, कभी भी तेरे अधिकार में नहीं। इसलिए 'मेरे कर्म का अमुक फल मिले' यह हेतु मन में रख कर कर्म करने वाला न बन। और कर्म न करने का भी तू आग्रह न कर।

['गागार में सागर' रूप कर्मयोग का रहस्य इस श्लोक में उत्तम रीति से बतलाया है। इस श्लोक के चारों चरण परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। ये चारों चरण कर्मयोग की चतुःसूत्री मानने चाहिएँ। इस पर विशद व्याख्या यथावसर पत्रिका के किसी अन्य अंक में की जावेगी।]

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥२-५७॥

सब बातों में जिसका मन निःसंग हो गया, और यथा प्राप्त शुभाशुभ का जिसे आनन्द या विषाद भी नहीं, उसकी बुद्धि स्थिर हुई माननी चाहिए।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ २-६१॥

अतएव इन सब इन्द्रियों का संयमन कर युक्त अर्थात् योगयुक्त और मत्परायण होकर रहना चाहिये। इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ अपने स्वाधीन हो जावें, उसकी बुद्धि स्थिर हुई माननी चाहिए।

अर्जुन का नवीन प्रश्न

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥३-१॥

हे जनार्दन! यदि तुम्हारा यही मत है कि कर्म की अपेक्षा साम्य बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो हे केशव! मुझे युद्ध के घोर कर्म में क्यों लगाते हो?

श्री कृष्ण का उत्तर

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
३—३, ४, ५,६,७॥

हे निष्पाप! पहले मैंने यह बतलाया है कि इस लोक में दो प्रकार की निष्ठाएँ हैं। अर्थात् ज्ञान योग से सांख्यों की और कर्मयोग से योगियों की। परन्तु कर्मों का प्रारम्भ न करने से ही पुरुष को नैष्कर्म्य-प्राप्ति नहीं हो जाती। और कर्मों का त्याग न करने से ही सिद्धि नहीं मिल जाती। क्योंकि कोई मनुष्य कर्म किये बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता। प्रकृति के गुण प्रत्येक परतन्त्र मनुष्य को सदा कुछ न कुछ कर्म करने में लगाया ही करते हैं। जो मूढ़ कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किया करता है उसे मिथ्याचारी अर्थात् दाम्भिक कहते हैं। परन्तु हे अर्जुन! उसकी योग्यता विशेष अर्थात् श्रेष्ठ है कि जो मन से इन्द्रियों का आकलन करके, कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्त बुद्धि से 'कर्मयोग' का आरम्भ करता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ ३—१६॥

हे पार्थ! इस प्रकार जगत के धारणार्थ चलाये हुए कर्म या यज्ञ के चक्र को जो इस जगत् में आगे नहीं चलाता, उसकी आयु पापरूप है। उस इन्द्रिय-लम्पट का जीवन व्यर्थ है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥ ३-२०॥

जनक आदि ने भी इस प्रकार कर्म से ही सिद्धि पाई है। इस प्रकार लोक-संग्रह पर भी ध्यान दे कर तुझे कर्म करना ही उचित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ ३—२६ ॥

कर्म में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में ज्ञानी पुरुष भेद-भाव उत्पन्न न करे। आप स्वयं युक्त अर्थात् योग-युक्त होकर सभी काम करे और लोगों से करावे।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३-३२ ॥

जो दोष-दृष्टि से शंकाएँ करके मेरे इस मत के अनुसार आचरण नहीं करते, उन सर्वज्ञानविमूढ़ अविवेकियों को नष्ट हुआ ही समझना चाहिए।

अर्जुन का एक अन्य प्रश्न

अथ केन प्रयुक्तोऽयं प्रपापंचरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३-३६ ॥

हे वार्ष्णेय ! यह बताइये कि मनुष्य अपनी इच्छा न रहने पर भी किस की प्रेरणा से पाप करता है, मानो कोई जबरदस्ती कराता हो।

श्री कृष्ण का समाधान

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३—३७ ॥

इस विषय में यह समझना चाहिये कि रजोगुण से उत्पन्न होने वाला, बड़ा पेटू, बड़ा पापी, यह काम, यह क्रोध ही शत्रु है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
३—३९, ४०, ४१ ॥

हे कौन्तेय ! ज्ञाता का यह काम रूपी नित्यवरी कभी भी तृप्त न होने वाला अग्नि ही है, इसने ज्ञान को ढक रखा है। इन्द्रियों को, मन को, और बुद्धि को इसका अधिष्ठान कहते हैं। इसके आश्रय से ज्ञान को लपेट कर यह मनुष्य को भुलावे में डाल देता है। अतवए हे भरत-श्रेष्ठ ! पहले इन्द्रियों का संयम करके ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी को तू मार डाल।

अर्जुन के पूर्वजन्म सम्बन्धी प्रश्न पर भगवान श्री कृष्ण का उत्तर

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ४-५॥

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ और हे परन्तप ! तू नहीं जानता, यही भेद है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ॥४-७,८॥

हे भारत ! जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म प्रसारित हो जाता है, तब-तब मैं स्वयं ही अवतार लिया करता हूँ। साधुओं की रक्षा के निमित्त और दुष्टों का नाश करने के लिए, युग-युग में धर्म की स्थापना के लिए मैं जन्म लिया करता हूँ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ ४-१३ ॥

चारों वर्णों की व्यवस्था गुण और कर्म भेद से मैंने निर्माण की है। इसे तू ध्यान में रख कि मैं उसका कर्त्ता भी हूँ और अकर्त्ता भी अर्थात् उसे न करने वाला अव्यय मैं ही हूँ।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥
४—१६, १७ ॥

इस विषय में बड़े-बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है कि कौन कर्म है और कौन अकर्म, अतएव वैसा कर्म तुझे बतलाता हूँ कि जिसे जान लेने से तू पाप से मुक्त होगा। कर्म की गति गहन है, अतएव यह जान लेना चाहिए कि कर्म क्या है और समझना चाहिये कि विकर्म क्या है और यह भी ज्ञात कर लेना चाहिये कि अकर्म क्या है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यस्य सर्वे समारम्भा कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।।
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ।।
४—१९, २० ।।

ज्ञानी पुरुष उसी को पण्डित कहते हैं कि जिसके सभी समारम्भ अर्थात् उद्योग फल की इच्छा से विरहित होते हैं और जिसके कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं। कर्म फल की आसक्ति छोड़कर जो सदा तृप्त और निराश्रय है अर्थात् जो पुरुष कर्मफल के साधन की आश्रयभूत ऐसी बुद्धि नहीं रखता कि अमुक कार्य की सिद्धि के लिए अमुक कार्य करता हूँ—कहना चाहिये कि—वह कर्म करने में निमग्न रहने पर भी कुछ नहीं करता।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।। ४-२३ ।।

आसंग रहित, रागद्वेष से मुक्त, साम्यबुद्धि रूप ज्ञान में स्थिर चित्त वाले और केवल यज्ञ ही के लिये कर्म करने वाले पुरुष के समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं।

अर्जुन का कर्म और संन्यास के विषय में प्रश्न

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।। ५-१ ।।

हे कृष्ण ! तुम एक बार संन्यास को और दूसरी बात कर्मों के योग को उत्तम बतलाते हो। अब निश्चय कर मुझे एक ही मार्ग बतलाओ, जो कि इन दोनों में सचमुच ही श्रेय अर्थात् अधिक प्रशस्त है।

भगवान श्रीकृष्ण का उत्तर

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।।
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।
५—२, ३, ४ ।।

कर्म-संन्यास और कर्मयोग दोनों निष्ठाएँ या मार्ग निःश्रेयष्कर अर्थात् मोक्ष प्राप्त करा देने वाले हैं परन्तु इन दोनों में कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की योग्यता विशेष है।

जो किसी का भी द्वेष नहीं करता और किसी की भी इच्छा नहीं करता, उस पुरुष को कर्म करने पर भी नित्य संन्यासी समझना चाहिए। क्योंकि जो सुख, दुःखादि द्वन्द्वों से मुक्त हो जाय, यह अनायास ही कर्मों के सब बन्धों से मुक्त हो जाता है। मूर्ख लोग कहते हैं कि सांख्य और योग भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु पण्डित लोग ऐसा नहीं कहते। किसी भी एक मार्ग का भली-भाँति आचरण करने से दोनों का फल मिल जाता है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।६-१, २।।

कर्मफल का आश्रय न करके जो कर्त्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी और वही कर्मयोगी है। निरग्नि अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़ देने वाला अथवा अक्रिय अर्थात् कोई भी कर्म न करके निठल्ले बैठने वाला सच्चा संन्यासी और योगी नहीं है। हे पाण्डव ! जिसे संन्यास कहते हैं, उसी को तुम कर्मयोग समझो। क्योंकि संकल्प अर्थात् काम्यबुद्धिरूप फलाशा का संन्यास किये बिना कोई भी कर्मयोगी नहीं होता।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ।।
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।। ६-८, ९ ।।

जिसका आत्मा ज्ञान और विज्ञान अर्थात् विविध ज्ञान से तृप्त हो जाय, जो अपनी इन्द्रियों को जीत ले, जो कूटस्थ अर्थात् मूल में जा पहुँचे और मिट्टी, पत्थर एवं सोने को एक-सा मानने लगे, उसी कर्मयोगी पुरुष को 'युक्त' अर्थात् सिद्धावस्था को पहुँचा हुआ कहते हैं। सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करने योग्य, बन्धन, साधु और दुष्ट लोगों के विषय में भी जिसकी बुद्धि सम हो गई हो, वही पुरुष विशेष योग्यता का है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्जुन के मन को वश में करने में कठिनाई पर भगवान श्रीकृष्ण का उत्तर

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण गृह्यते ॥६-३५॥

हे महाबाहु अर्जुन ! इसमें सन्देह नहीं कि मन चंचल है और उसको निग्रह करना कठिन है। परन्तु कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से यह स्वाधीन किया जा सकता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥७-३५॥

सहस्त्रों मनुष्यों में कोई विरला ही सिद्धि पाने का यत्न करता है। और प्रयत्न करने वाले इन अनेक सिद्ध पुरुषों में एक आध को ही मेरा सच्चा ज्ञान हो पाता है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद कश्चन ॥ ७-२६ ॥

हे अर्जुन ! भूत, वर्तमान और भविष्यत् (जो हो चुके हैं उन्हें, विद्यमान और भविष्य में होने वाले) सभी प्राणियों को, मैं जानता हूँ। परन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः ॥७-२८॥

परन्तु जिन पुण्यात्माओं के पाप का अन्त हो गया है, वे सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के मोह से छूट कर दृढ़व्रत हो करके मेरी भक्ति करते हैं।

अर्जुन के ब्रह्म तथा मोक्ष विषयक प्रश्न पर भगवान का उत्तर

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ८-३ ॥

सबसे परम अक्षर अर्थात् कभी भी नष्ट न होने वाला तत्त्व ब्रह्म है। और प्रत्येक वस्तु का मूल भाव (स्वभाव) अध्यात्म कहा जाता है। (अक्षरब्रह्म से) भूत मात्रादि चार, अचर पदार्थों की उत्पत्ति करने वाला विसर्ग अर्थात् सृष्टि व्यापार कर्म है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय ॥८-५॥

और अन्तकाल में जो मेरा स्मरण करता हुआ देह त्यागता है, वह मेरे स्वरूप में निस्संदेह मिल जाता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ८-७ ॥

इसलिये सदैव ही मेरा स्मरण करता हुआ युद्ध कर। मुझ में मन और बुद्धि अर्पण करने से युद्ध करने पर भी तू निस्सन्देह मुझमें ही आ मिलेगा।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥९-४, ५॥

मैंने अपने अव्यक्त रूप से इस समस्त जगत को फैलाया अथवा व्याप्त किया है। मुझमें सब भूत हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। और मुझमें सब भूत नहीं भी हैं। देखो यह कैसा मेरा योग सामर्थ्य है। भूतों को उत्पन्न करने वाला मेरा आत्मा, उनका पालन करके भी उनमें नहीं है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ९-८ ॥

मैं अपनी प्रकृति को हाथ में लेकर अपने-अपने कर्म से बंधे हुए भूतों के इस समूचे समुदाय को पुनः पुनः निर्माण करता हूँ कि जो उस प्रकृति के वश में रहने से आवश्यक अर्थात् परतन्त्र हैं।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ ९-१० ॥

मैं अध्यक्ष होकर प्रकृति से सब चराचर सृष्टि उत्पन्न करवाता हूँ। हे कौन्तेय ! इस कारण जगत का यह बनना बिगड़ना हुआ करता है।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ ९-१७ ॥

इस जगत का माता, पिता, धाता, पितामह, मैं हूँ, जो कुछ पवित्र या जो कुछ ज्ञेय है, वह और ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद, भी मैं ही हूँ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ९-२६ ॥

जो मुझे भक्ति से एकाध पत्र, पुष्प, फल अथवा यथाशक्ति थोड़ा-सा जल भी अर्पण करता है, उस प्रयतात्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् नियतचित्त पुरुष की भक्ति की भेंट को मैं आनन्द से ग्रहण करता हूँ।

अर्जुन का परमात्मा को पहचानने के विषय पर प्रश्न तथा भगवान् का उत्तर

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिंतयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥
॥ १०—१७ ॥

हे योगिन् मुझे! यह बतलाइये कि सदा तुम्हारा चिन्तन करता हुआ मैं तुम्हें कैसे पहचानूँ और हे भगवान! मैं किन-किन पदार्थों में तुम्हारा चिन्तन करूँ?

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥
॥ १०-२१ ॥

आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, तेजस्वियों में किरणमाली सूर्य, मरुतों में मरीचि और नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूँ।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ १०-४१ ॥

जो वस्तु वैभव, लक्ष्मी या प्रभाव से युक्त है, उसको तुम मेरे तेज के अंश से उपजी हुई समझो।

अर्जुन की भगवान् का विराट रूप देखने की इच्छा और श्रीकृष्ण का वह रूप प्रदर्शन

अनेकवक्त्रनयमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ ११-१०॥

उस विश्वरूप के अनेक मुख और नेत्र थे और उसमें अनेक दृश्य देख पड़ते थे, उसपर अनेक प्रकार के दिव्य अलंकार थे और उसमें अनेक, अद्भुत, दिव्य-आयुध सज्जित थे।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा॥
॥ ११—१२, १३ ॥

यदि आकाश में एक हजार सूर्यों की आभा एक साथ हो, वह उस महात्मा की कान्ति के समान कुछ-कुछ देख पड़े। तब देवाधिदेव के इस शरीर में नाना प्रकार से बँटा हुआ सारा जगत् अर्जुन को एकत्रित दिखाई दिया।

विराट रूप दिखा कर भगवान् कृष्ण का आह्वान

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तु मिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रयत्नीकेषु योधाः।
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्
मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥
॥ ११—३२, ३३ ॥

मैं लोकों का क्षय करने के लिए बढ़ा हुआ काल हूँ, यहाँ लोकों का संहार करने के लिए आया हूँ। तुम कुछ न करो तो भी सेनाओं में खड़े हुए ये सब योद्धा नष्ट होने वाले हैं। अतएव तुम उठो, यश लाभ करो, और शत्रुओं को जीत कर समृद्ध राज्य का उपभोग करो। मैंने तो इन्हें पहले ही मार डाला है। हे सव्यसाची! तुम अब केवल निमित्तमात्र के लिए आगे बढ़ो।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
॥ ११—५५ ॥

हे पाण्डव! जो इस बुद्धि से कर्म करता है कि सब कर्म मेरे अर्थात् परमेश्वर के हैं, जो मत्परायण और संगविरहित है, और जो सब प्राणियों के विषय में निर्वैर है, वह मेरा भक्त मुझमें मिल जाता है।

अर्जुन के ब्रह्मप्राप्ति विषयक प्रश्न पर श्री भगवान् का उत्तर

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
॥ १२—१२, १३, १७ ॥

अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान अधिक अच्छा है, ज्ञान की अपेक्षा ध्यान की योग्यता अधिक है। ध्यान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है और कर्मफल के त्याग से तुरन्त ही शान्ति प्राप्त होती है।

जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो सब प्राणियों के साथ मित्रता का व्यवहार करता है, जो कृपालु है, जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ममत्व बुद्धि और अहंकार से रहित है, जो दुःख और सुख में समान एवं क्षमाशील है।

जो न आनन्द मानता है, न द्वेष करता है, जो न शोक करता है और न इच्छा रखता है, जिसने कर्म के शुभ और अशुभ फल छोड़ दिये हैं, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।

(इससे यह सिद्ध किया गया है कि अनिर्देश्य और अव्यक्त परमेश्वर का बुद्धि से चिन्तन करने पर अन्त में मोक्ष तो मिलता है परन्तु उसकी अपेक्षा, श्रद्धा से परमेश्वर के प्रत्यक्ष और व्यक्त स्वरूप की भक्ति करके परमेश्वरार्पण बुद्धि से सब कर्मों को करते रहने पर, वही मोक्ष सुलभ रीति से मिल जाता है। किन्तु इतने से ही ज्ञान-विज्ञान का वह निरूपण समाप्त नहीं हो जाता कि जिसका आरम्भ सातवें अध्याय में किया गया है। परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होने के लिये बाहरी सृष्टि के क्षर-अक्षर विचार के साथ ही साथ मनुष्य के शरीर और आत्मा का अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भी विचार करना पड़ता है। ऐसे ही यदि सामान्य रीति से जान लिया कि सब व्यक्त पदार्थ जड़ प्रकृति से उत्पन्न होते हैं तो भी यह बतलाये बिना ज्ञान-विज्ञान का निरूपण पूरा नहीं होता कि प्रकृति के किस गुण से विस्तार होता है और उसका क्रम कौन-सा है। अतएव तेरहवें अध्याय में पहले क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार और फिर आगे चार अध्यायों में गुणत्रय का विभाग, बतला कर अठारहवें अध्याय में समग्र विषय का उपसंहार किया गया है।)

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

॥१३—१, २॥

श्री भगवान ने कहा—हे कौन्तेय ! इसी शरीर को क्षेत्र कहते हैं। इसे जो जानता है उसे तद्विद अर्थात् इस शास्त्र को जानने वाला, क्षेत्रज्ञ कहते हैं। हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही मेरा ज्ञान माना गया है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चं चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

॥१३—५, ६॥

पृथिवि आदि पाँच स्थूल महाभूत, अहंकार, बुद्धि अव्यक्त प्रकृति, दश सूक्ष्म इन्द्रियाँ और एक मन तथा पाँच इन्द्रियों के पाँच शब्दादि विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना अर्थात् प्राण आदि का व्यक्त व्यापार, और धृति, इन ३१ तत्त्वों के समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते हैं।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मदभावायोपपद्यते॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥

॥१३—१८, १९॥

इस प्रकार संक्षेप से बतला दिया कि क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय किसे कहते हैं। मेरा भक्त इसे जानकर, मेरे स्वरूप को पाता है।

प्रकृति और पुरुष, दोनों को ही अनादि समझ। विचार और गुणों को प्रकृति से ही उपजा हुआ जान।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

॥१४—३, ४॥

हे भारत ! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी ही योनि है, मैं उसमें गर्भ रखता हूँ। फिर उससे समस्त भूत होने लगते हैं। हे कौन्तेय ! पशु-पक्षी आदि सब योनियों में जो मूर्तियाँ जन्मती हैं, उनकी योनि महत् ब्रह्म और मैं बीज-दाता पिता हूँ।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

॥१५—५, ६॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो मान और मोह से विरहित हैं, जिन्होंने आसक्ति दोष को जीत लिया है, जो अध्यात्म ज्ञान में सदैव स्थिर रहते हैं, जो निष्काम और सुख-दुःख संज्ञक द्वन्द्वों से मुक्त हो गए हैं, वे ज्ञानी पुरुष उस अव्यय स्थान को जा पहुँचते हैं, वहाँ जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता, ऐसा वह मेरा परम स्थान है। उसे न तो सूर्य, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित करते हैं।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥
॥१६—६॥

इस लोक में दो प्रकार के प्राणी उत्पन्न हुआ करते हैं, एक देव और दूसरे आसुर। इनमें देव श्रेणी का वर्णन विस्तार से कर दिया। अब हे पार्थ! मैं आसुर श्रेणी का वर्णन करता हूँ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
॥१६—२४॥

कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करने के लिए तुझे शास्त्रों का प्रमाण मानना चाहिये। और शास्त्रों में जो कुछ कहा है उसको समझकर, तदनुसार इस लोक में कर्म करना तुझे उचित है।

श्रद्धा सहित जो शास्त्र विपरीत कर्म करते है उनकी गति के विषय में अर्जुन के प्रश्न का श्री भगवान कृष्ण द्वारा उत्तर

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥
॥१७—२, ३, ४, ५, ६॥

प्राणिमात्र की श्रद्धा स्वभावतः तीन प्रकार की होती है। एक सात्विक, दूसरी राजस और तीसरी तामस। हे भारत! सब लोगों की श्रद्धा अपने-अपने सत्त्व के अनुसार अर्थात् प्रकृति, स्वभाव के अनुसार होती है। मनुष्य श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा रहती है, वह वैसा ही होता है।

जो पुरुष सात्विक हैं अर्थात् जिनका स्वभाव सत्वगुण प्रधान है, वे देवताओं का यजन करते हैं। राजस पुरुष यज्ञों और राक्षसों का यजन करते हैं एवं इसके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वे प्रेतों और भूतों का यजन करते हैं।

परन्तु जो लोग दम्भ और अहंकार से युक्त होकर काम एवं आसक्ति के बल पर शास्त्र के विरुद्ध घोर तप किया करते हैं तथा जो न केवल शरीर के पंच महाभूतों के समूह को ही, वरन् शरीर के अन्तर्गत रहने वाले मुझको भी कष्ट देते हैं, उन्हें अविवेकी और आसुरी बुद्धि के जानो।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥
१७—११, १२, १३॥

फलाशा की आकांक्षा छोड़कर अपना कर्तव्य समझ करके शास्त्र की विधि के अनुसार, शान्त चित्त से जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्विक यज्ञ है। परन्तु हे भरतश्रेष्ठ! उनको राजस यज्ञ समझो कि जो फल की इच्छा से अथवा दम्भ के हेतु अर्थात् दिखलाने के लिए किया जाता है। शास्त्रविधि रहित, अन्नदान विहीन, बिना मंत्रों का, बिना दक्षिणा का और श्रद्धा से शून्य यज्ञ तामस यज्ञ कहलाता है।

संन्यास और त्याग के विषय में अर्जुन का प्रश्न और श्री भगवान का उत्तर

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्मप्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ।।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।
१८—२, ३, ४, ५ ।।

जितने काम्य कर्म हैं उनके न्यास अर्थात् छोड़ने को ही ज्ञानी लोग संन्यास समझते हैं तथा समस्त कर्मों के फलों के त्याग को पण्डित लोग त्याग कहते हैं । कुछ पण्डितों का कथन है कि कर्म दोषयुक्त है अतएव उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये, तथा दूसरे कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप और कर्म को नहीं छोड़ना चाहिये । अतएव हे भरतश्रेष्ठ ! त्याग के विषय में मेरा निर्णय है कि त्याग तीन प्रकार का कहा गया है—यज्ञ, दान, तप और कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये । इन कर्मों को करना ही चाहिये । यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों के लिए भी पवित्र अर्थात् चित्तशुद्धिकारक हैं ।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ।।
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वा स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।
१८—१६, १७ ।।

वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी जो संस्कृत बुद्धि न होने के कारण यह समझे कि मैं ही अकेला कर्त्ता हूँ, समझना चाहिये कि वह दुर्मति कुछ भी नहीं जानता । जिसे यह भावना भी नहीं है कि मैं कर्त्ता हूँ तथा जिसकी बुद्धि अलिप्त है, वह यदि इन लोगों को मार डाले तथापि समझना चाहिये कि उसने किसी को नहीं मारा और यह कर्म उसे बन्धक में नहीं होता ।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ।।
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तामसमुच्यते ।।
१८—२३, २४, २५ ।।

फल प्राप्ति की इच्छा न करने वाला मनुष्य मन में प्रेम अथवा द्वेष न रख कर बिना आसक्ति के स्वधर्मानुसार जो नियत अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म करता है, उस कर्म को सात्विक कहते हैं । परन्तु काम अर्थात् फलाशा की इच्छा रखने वाला अथवा अहंकार बुद्धि का मनुष्य बड़े परिश्रम से जो कर्म करता है, उसे राजस कहते हैं । तामस कर्म वह है कि जो मोह से, बिना इन बातों का विचार किये आरम्भ किया जाता है कि अनुबन्धक अर्थात् आगे क्या होगा, पौरुष यानी अपना सामर्थ्य कितना है और होनहार में नाश अथवा हिंसा होगी या नहीं ।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।
१८—५९ ।।

तू अहंकार से जो यह कहता है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा सो तेरा यह निश्चय व्यर्थ है । प्रकृति अर्थात् तेरा स्वभाव तुझसे वह युद्ध अवश्य करायेगा ।

अर्जुन की मोह से मुक्ति की स्वीकारोक्ति

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ।।
१८—७३ ।।

हे अच्युत ! आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे कर्त्तव्य धर्म की स्मृति हो गई । मैं अब निस्संदेह हो गया हूँ तथा आपके उपदेशानुसार युद्ध करूंगा ।

भगवान का उपदेश

तस्मात्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।।
११—३३ ।।

तू उठ, यश लाभ कर, और शत्रुओं को जीत करके समृद्ध राज्य का उपभोग कर । मैंने तो इन्हें पहले ही मार डाला है, इसलिये अब हे सव्यसाची ! तू केवल निमित्त के लिये आगे बढ़ ।

★★

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वास्थ्य तथा दीर्घायु

लेखक—वैद्य पं० रामगोपाल शास्त्री, करोल बाग, दिल्ली

प्रत्येक मनुष्य की हार्दिक कामना है कि वह स्वस्थ और दीर्घायु रहे। यह और बात है कि संसार में लोग अपनी भूल के कारण अल्पायु और अस्वस्थ भी रहते हैं। दीर्घायु के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। इस्लाम धर्म के मानने वाले तथा कई भारतीय मतावलम्बी यही मानते हैं कि; आयु नियत है और आयु का समय भी निश्चित है। कितने भी उपाय किये जावें, तो भी काल अपने निश्चित समय पर आकर मनुष्य के प्राण हर लेता है। आयु के घटने-बढ़ने का विचार उन्हें स्वीकार नहीं।

इसके विरुद्ध ब्रह्मा से लेकर दयानन्द पर्यन्त सब ऋषि-मुनियों का निश्चित सिद्धान्त है कि; अशुभ कर्म और स्वास्थ्य विरोधी आचरण से आयु घटती है तथा पुरुषार्थ, शुभ कर्म और स्वास्थ्य के नियमों पर आचरण करने से आयु बढ़ जाती है। इसी विचारधारा की पुष्टि के लिए यह लेख लिखा गया है। इस लेख के तीन भाग हैं :—(१) प्रमाण प्रकरण—जिसमें सब प्रामाणिक ग्रन्थों के आर्ष वचन उद्धृत करके सिद्ध किया गया है कि आयु दीर्घ हो सकती है। (२) युक्ति प्रकरण—जिसमें आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थ चरक और सुश्रुत में आई हुई नियत तथा अनियत आयु की चर्चा अत्यन्त युक्तियुक्त और सप्रमाण है, उसे उद्धृत किया गया है। वे दोनों आचार्य आयु को नियत मानते हुए भी, कुपथ्य आदि से आयु का घटना और सुपथ्य तथा रसायनादि ओषधियों के प्रयोग से आयु का दीर्घ होना मानते हैं। (३) उपाय प्रकरण—इसमें स्वास्थ्य के लक्षण देकर, वे सब उपाय बताए गए हैं, जिन पर आचरण करने से शरीर स्वस्थ, नीरोग और दीर्घायु हो सकता है।

इस लेख के तीनों भागों को अत्यन्त ध्यान से पढ़ने से पाठकों के हृदय में यह निश्चय हो जायेगा कि यह शरीर स्वास्थ्य विरोधी आचरण से शीघ्र नष्ट हो जाता है और स्वास्थ्यानुकूल आचरण से दीर्घायु वाला हो जाता है।

वेद, जिसका ज्ञान अनादि काल से चला आ रहा है, जो आशावाद से भरपूर है, प्रसन्नता और नीरोगता का संदेश देकर दीर्घायु करने के लिए स्थान-स्थान पर आदेश देता है। वेद में १०० और इससे अधिक वर्षों की मृत्यु को काल मृत्यु का नाम दिया गया है। इसकी परिभाषा में १०० वर्ष की मृत्यु ही कालमृत्यु है, इससे न्यून आयु की मृत्यु अकाल-मृत्यु है। ९० या ९५ वर्ष की आयु में मरने वाले को भी वेद कालमृत्यु नहीं मानता। वेद बार-बार यही कहता है कि; जैसा भी जिसको शरीर मिला है, उसे दृढ़ांग बनाकर, ईश्वर से स्थापित जो मनुष्य की १०० वर्ष की आयु मर्यादा है, वहाँ तक पहुँचने का यत्न करे। यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र २ में लिखा है कि **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।** अर्थात् शुभ कर्म और पुरुषार्थ करते हुए १०० वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा और यत्न करे। ऋग्वेद १-८९-८ में लिखा है कि सब अंगों को दृढ़ करके हम देवहित अर्थात् परमात्मा से स्थापित जो मनुष्य की १०० वर्ष की आयु मर्यादा है, उसको प्राप्त करें। आर्यों की वैदिक संध्या में प्रातः और सायं जो संध्या मन्त्र पढ़े जाते हैं, उनमें भी १०० वर्ष तथा उससे अधिक वर्षों तक जीने की प्रार्थना आती है। **जीवेम शरदः शतम्=भूयश्च शरदः शतात्।** वेद मन्त्रों में लिखा है कि यदि १०० वर्ष से पहले मृत्यु आवे तो उसे धक्का देकर परे फैंक दो। एक स्थान पर यह भाव आया है कि; यदि शतायु से पहले मृत्यु आवे तो उसके मार्ग में पर्वत खड़ा कर दो जिससे वह तुम्हारे पास न फटक सके। स्वास्थ्य के नियमों पर आचरण करना ही मृत्यु के मार्ग में पर्वत खड़ा करना है अन्य कुछ नहीं। वेद यह भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानता है कि मृत्युमुख में पहुँचा हुआ रोगी, औषध प्रयोग से नीरोग और दीर्घजीवी हो सकता है। वेद का अंतिम सिद्धान्त यही है कि; कर्म फलानुसार जो भी आयु मनुष्य को मिली है, वह पुरुषार्थ, शुभ कर्म, सदाचार और स्वस्थता के नियम पालने से शरीर में अधिक शक्ति को उत्पन्न करके दीर्घ हो सकती है।

इस पर वेदों के मन्त्र तथा अन्य प्रमाण अर्थ सहित आगे दिए गए हैं, उन्हें ध्यान से पढ़ें।

(१) प्रमाण प्रकरण—**वेद और दीर्घायु**

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव। तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय॥

अथर्व वेद काण्ड ३ सूक्त ११ मन्त्र २।

अर्थ :—यदि यह (व्याधिग्रस्त) क्षीण आयु हो गया है, यदि इस लोक से जाने वाला है और मृत्यु के समीप पहुँचा हुआ है; तो भी मैं भिषक् उस रोगी पुरुष को वापस लाता हूँ; मृत्यु की गोद से, क्योंकि हाथ पकड़ा है मैंने इसका १०० वर्ष के लिये।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषाहविषाहार्षमेनम्। इन्द्रोयथैनं शरदो नयात्यतिविश्वस्य दुरितस्य पारम्॥३॥

सहस्र नेत्रों से, सैकड़ों बलों से, सौ वर्ष की आयु (के लिए) हविष के द्वारा मैं भिषक् वापिस ले आया हूँ इसको। इन्द्र जिस प्रकार इसको सौ वर्ष पर्यन्त ले चले और सब बुराइयों के पार (ले जावे)।

शतं जीवशरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्। शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम्॥४॥

हे पुरुष, तू जीवित रह, सौ शरद ऋतु पर्यन्त वृद्धि करता हुआ। सौ हेमन्त और सौ बसन्त ऋतु। सौ वर्ष तुझे (दे) इन्द्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति हविष के द्वारा (मृत्यु से वापस) ले आया हूँ इसको मैं।

प्रविशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्। व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम्॥५॥

प्रवेश करो हे प्राण! और अपान! (इस) रोगी शरीर में जैसे दो बैल (प्रवेश करते हैं) अपने निवास स्थान में और दूर हट जावें (अकाल) मृत्युएँ जो सैकड़ों हैं।

जरायैत्वा परि ददामि जरायै निधुवामि त्वा। जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम्॥७॥

हे व्याधिग्रस्त पुरुष! बुढ़ापे के लिये तुझे देता हूँ, बुढ़ापे के लिए रक्षा करता हूँ तेरी, वह जरावस्था तुझे कल्याण की ओर ले जावे और (अकाल) मृत्युएँ दूर हटें जो कि सैकड़ों हैं।

अभित्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्वा। यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया। तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुंचद् बृहस्पतिः॥८॥

हे पुरुष! तुझे जरावस्था बांध लेवे जैसे वृषभ को रज्जु से बाँधते हैं। जिस तुझको मृत्यु ने बांध लिया है। उत्पन्न होते ही पक्के पाश से उस तुझको सत्य के हाथों से बृहस्पति छुड़ावे।

निष्कर्ष—इन मन्त्रों में भिषक् जहाँ प्रार्थना करता है, वहाँ यह भी गर्व से कहता है कि; अब मैंने इसे हाथ लगा दिया है और क्षितायु जिसकी आयु समाप्त हो चुकी है चाहे (मृत्योरन्तिकं नीत एव) मृत्यु के निकट भी ले जाया गया हो तो भी, मैं उसे मृत्यु के पाश से छुड़ा कर सौ वर्ष पर्यन्त ले जाता हूँ। ये सारे मन्त्र भिषक् के भावों को प्रकट करते हैं।

मृत्योः पदं योपन्तो यदैत द्राघीयआयुः प्रतरं दधानाः। आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः॥

ऋग्वेद १०–१८–२॥

"मृत्यु के पाँवों को खदेड़ते हुए बढ़ो। दीर्घायु धारण करते हुए, बढ़ते हुए, प्रजा और धन से शुद्ध और पवित्र होओ, हे यज्ञ करने वालो।"

इमे जीवा विमृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नोअद्य। प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥३॥

"ये जीव मृत्यु रहित हो गये हैं। देवों का आवाहन आज हमारे लिये कल्याणकारी हुआ है। आगे वृद्धि करते हुए हम आ गये हैं, नाचने और हँसने के लिये, दीर्घायु को धारण करते हुए।"

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्। शतं जीवन्तु शरदः पुरुचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जीवों के लिये यह परिधि (सीमा) देता हूँ। न कोई प्राप्त हो इससे पृथक् दूसरे उद्देश्य को (अर्थात् इसी उद्देश्य को प्राप्त हो) सौ वर्ष तक जीओ उन्नति करते हुए (यदि इससे पूर्व मृत्यु आवे तो) मृत्यु के मध्य में पर्वत खड़ा कर दो।"

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथा ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु। यथा न पूर्वमपरो जहाति एवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥५॥

"जैसे दिन आनुपूर्वी से चलते हैं, जैसे ऋतुएँ ऋतुओं के पीछे चलती हैं, जिससे पूर्वोत्पन्न (पुरुष) जो नया उत्पन्न हुआ (बालक पहले) न छोड़ जावे (अर्थात् बड़ों के होते हुए छोटे की मृत्यु नहीं होनी चाहिये) हे धातः! इस प्रकार इनकी आयु को कीजिए।"

निष्कर्ष

ऋग्वेद के इस सूक्त मंत्र २ में १०० वर्ष से पहले आने वाली मृत्यु को दूर धकेलने का वर्णन है। मंत्र ४ में १०० वर्ष जीवन की मर्यादा बतलाई है और सबको उपदेश दिया है कि; इससे पूर्व मत मरो। यदि पहले मृत्यु आती है तो इसके मार्ग में पर्वत खड़ा कर दो, अर्थात् अपना शरीर इतना वज्रांग बनाओ कि १०० वर्ष से पूर्व मृत्यु तुम्हारे पास न फटकने पावे। मंत्र ५ में यह आदेश दिया है कि; बड़ों के जीवित रहते हुए छोटों की मृत्यु नहीं होनी चाहिये। इसमें बाल मृत्यु और अकाल मृत्यु से बचने का वर्णन है।

अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥ अथर्व ८-२-८ ॥

"(यह) नीरोग (होकर) सब अंगों वाला, अच्छा सुनने वाला, बुढ़ापे से सौ वर्ष का होता हुआ अपने आप ही भोगों का उपभोग करे।"

ये मृत्यव एक शतं या नाष्ट्रा अतितार्याः। मुंचतु तस्मात् त्वा देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि। अथर्व ८-२-२७ ॥

जो मृत्यएँ एक सौ एक हैं वह नाश करने वाली हैं, और जिनका उल्लघंन अति कठिन है, छुड़ावें उन मृत्युओं से तुझे देवता वैश्वानर अग्नि।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।
ऋग्वेद १-८९-८

"हे देवो! हम कल्याण वचन कानों से सुनें, भद्र दृश्य देखें नेत्रों से। दृढ़ अंगों तथा शरीरों से स्तुति करते हुए **देवहित** अर्थात् ईश्वर से (हित) प्रदत्त जो मनुष्य की सौ वर्ष की आयु मर्यादा है उस आयु को प्राप्त करें।",

शतमिन्नु शरदो अन्तिदेवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः। ऋग्वेद १-८९-८

"हे देवो!" सौ ही वर्ष निश्चय से मनुष्यों की आयु के कल्पित हैं। जिस वृद्धावस्था में शरीरों को जरायुक्त कर देते हैं, जिस शतायु वाली वृद्धावस्था में पुत्र पितर बन जाते हैं अर्थात् दादा-परदादा, नाना-परनाना, हमारी उस आयु को मध्य में नष्ट न करे।

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम्। प्रब्रवाम शरदः शतम्। अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्। यजु० ३६-२४ ॥

"सौ वर्ष पर्यन्त देखें, जीवें, सुनें और बोलें। सौ वर्ष पर्यन्त अदीन अर्थात् दीनता तथा पराधीनता रहित हो कर रहें। सौ वर्ष से भी अधिक जीते रहें।"

ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ६६ मन्त्र १६ में भी यह मन्त्र आया है। अथर्व वेद १९-६७ मन्त्र १-८ में भी इस भाव का मन्त्र आया है:—

पश्येम शरदः शतम् १। जीवेम शरदः शतम् २। बुध्येम शरदः शतम् ३। रोहेम शरदः शतम् ४। पूषेम शरदः शतम् ५। भवेम शरदः शतम् ६। भूयेम शरदः शतम् ७। भूयसीः शरदः शतात् ८॥

"हे परमात्मन्! हम सौ वर्ष तक देखें, जीते रहें, ज्ञानपूर्वक रहें, बढ़ते रहें, पुष्ट होते रहें, सम्पन्न होते रहें, सौ वर्ष से भी अधिक जीते रहें।"

निष्कर्ष—अथर्व १९ सूक्त—६७ मन्त्र १—८ में सौ वर्ष आयु के साथ **बुध्येम शरदः शतम्** अर्थात् बुद्धि पूर्वक जीवें। प्रायः बुढ़ापे में विस्मृति हो जाती है। वेद इसे भी अच्छा नहीं समझता। ऋग्वेद १-८९-८ में शरीर के सब अंगों को दृढ़ बनाने का वर्णन आता है। इसमें **देवहित** पद का अर्थ है कि देव (परमात्मा) ने जो मनुष्य की १०० वर्ष की आयु मर्यादा, हित (स्थापित) की है, उसे प्राप्त करना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीर्घायु और उपनिषद्

छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ३ खण्ड १६ में महिदास ऐतरेय का इतिहास आता है कि, उसने सारी आयु अखण्ड ब्रह्मचर्य रखकर के रोग रूपी शत्रुओं को जीवन में पास फटकने नहीं दिया। इस प्रकार उसने ११६ वर्ष की आयु प्राप्त की।

ऐतद्धस्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः। स किं म एतदुपतपसि, योऽहमनेन न प्रेष्यामीति सह षोडशं वर्ष शतमजीवत।

दीर्घायु और मनुस्मृति

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः। कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः। मनुस्मृति १-८३॥

सतयुग में मनुष्य रोग रहित जिनकी सब कामनाएँ सिद्ध होती थीं, चार सौ वर्ष की आयु वाले होते थे। त्रेतायुग में ३०० वर्ष, द्वापर में दो सौ वर्ष और कलियुग में १०० वर्ष की आयु वाले होते हैं।

ऋषयो दीर्घसंध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः॥

मनु० ४-९४॥

"ऋषियों ने बहुत काल तक सम्यक् विचारों के कारण दीर्घ आयु को पाया।"

न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते। यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्॥ मनु ४-१३४॥

"इस संसार में पुरुष की आयु घटाने वाला कर्म परस्त्री गमन है।"

आचाराल्लभते ह्यायुः॥ मनु० ४-१५६॥

"सदाचार से ही मनुष्य दीर्घायु को प्राप्त करता है।"

रामायण और दीर्घायु

मात्मनः संतर्ति द्राक्षीत स्वेषु दारेषु दुःखितः। आयुः समग्रमप्राप्ययस्यार्योऽनुमते गतः।

अयोध्याकाण्ड सर्ग ५१ श्लोक ३६।

भरत कौशल्या को कहता है कि मात! वह दुःखी रहता हुआ अपनी पत्नी में अपनी सन्तति को न देखे और वह पूरी आयुको बिना, भोगे मर जावे, जिसकी सम्मति से आर्य (राम) वन गये हों तो।

दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः। सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे॥

बालकाण्ड सर्ग १ श्लोक २३॥

उस श्रेष्ठ (अयोध्या पुरी) में सब नर दीर्घायु वाले, सत्य धर्म के अनुभवी और नित्य स्त्री, पुत्र, पौत्रों सहित थे (अर्थात् उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती थी।)

महाभारत और दीर्घायु

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १०४ में अल्पायु और दीर्घायु कैसे होती है, इसका वर्णन दिया गया है।

युधिष्ठिर उवाच—

शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्यश्च जायते। कस्मान्म्रियन्ते पुरुषा बाला अपि पितामह। आयुष्मान् केन भवति अल्पायुर्वापि मानवः॥ २॥

'युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि; हे पितामह! पुरुष की आयु सौ वर्ष की है। सैंकड़ों प्रकार की शक्तियों से यह उत्पन्न होता है तो फिर बाल्यावस्था में पुरुषों की मृत्यु क्यों हो जाती है। आप यह बतायें कि किन कारणों से मनुष्य दीर्घायु और अल्पायु होता है?'

भीष्म उवाच—

ये नास्तिकानिष्क्रियाश्च गुरुशास्त्रातिलंघिनः। अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः॥ विशाला भिन्न-मर्यादा नित्यं संकीर्णमैथुनाः। अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः॥ ११, १२॥

अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकः। अनुसूयुर-जिह्मश्च शत वर्षाणि जीवति। १४।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येतधर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्। ऋषयो नित्यसंध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुवन्। १८। परदारा न गन्तव्या सर्ववर्णेषु कर्हिचित्। न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते। २१।

समानमेकपात्रेतु भुंजेन्नान्नं जनेश्वर। ८९। सायं प्रातश्च भुंजीत नांतराले समाहितः। ९५।

'युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म पितामह बोले कि; हे युधिष्ठिर! जो नर नास्तिक और आलस्य पूर्ण हो कर गुरुओं (बड़ों) और स्वास्थ्यशास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं, जो धर्म को न जानने वाले तथा दुराचारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, उनकी आयु अल्प होती है ।

'जो शील और मर्यादा को भंग करने वाले हैं और नित्य व्यभिचार करने वाले हैं, वे नरक में जाने वाले नर अल्पायु होते हैं ।

'क्रोध न करने वाला, सत्यवादी, प्राणियों पर दया करने वाला, ईर्ष्या और कुटिलता रहित जो पुरुष है, वह सौ वर्ष जीता है ।

'सदा प्रातःकाल ब्राह्म मूहूर्त में उठे । और उसके अनन्तर धर्म और अर्थ का चिन्तन करे । ऋषि लोग नित्य सम्यक् विचारों के कारण ही दीर्घायु को प्राप्त हुए हैं ।

'सब वर्णों में किसी भी स्त्री से व्यभिचार न करे । परस्त्री सेवन सबसे अधिक आयु को घटाने वाला होता है ।

'हे राजन् ! समान पात्र में रखकर एक दूसरे के साथ जूठा न खाये ।

'सायंकाल और प्रातःकाल ही भोजन खाना चाहिये । इन समयों के मध्य में बार-बार भोजन न खावे ।'

नोसृजेत पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके । उपानहौ च वस्त्रं च धृतमन्यैर्न धारयेत ।२८ ।

'ग्राम के समीपवर्ती खेतों में मल त्याग न करे । दूर जा कर शौच बैठे । औरों के धारण किये हुए जूते और वस्त्र धारण नहीं करने चाहिये ।

हिमालय पर्वत निवास से दीर्घायु

महाभारत शान्ति पर्व में लिखा है कि, हिमालय के पास, उत्तर दिशा में निवास करने से रोग नहीं होते और अकाल मृत्यु नहीं होती । आजकल भी तिब्बत, लाहौल, स्पीटी, पांगी, कश्मीर आदि पर्वतों पर रहने वाले व्यक्तियों की मैदानों के नगर निवासियों की अपेक्षा आयु दीर्घ होती है ।

भीष्म उवाच—**उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते । पुण्यः क्षेम्यश्च काम्यश्च स परो लोक उच्यते । काले मृत्युः प्रभवति स्पृशन्ति व्याधयो न च ।**

म० भा० शान्तिपर्व ।

'भीष्म पितामह बोले, हिमालय के उत्तर भाग में जो देश है, वही (उत्कृष्ट) पर लोक (देश) है । वह स्थान पुण्यमय सब गुणों से युक्त, कुशलता तथा क्षेम दायक है । वहाँ काल में मृत्यु होती है और व्याधियें स्पर्श नहीं करतीं हैं ।"

चरक और दीर्घायु

षट्त्रिंशतं सहस्राणि रात्रीणां
हितभोजनः । जीवत्यनातुरो
जन्तुर्जितात्मा संमतः सताम् ।।

(चरक—सूत्रस्थानम् अ० २७ श्लोक ३४३)

अर्थ--सदा हितकर भोजन करने वाला जितेन्द्रिय पुरुष, सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसित होता हुआ ३६००० रात (अर्थात् सौ वर्ष) तक नीरोग होकर जीवित रहता है ।।

सुश्रुत और दीर्घायु

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते । तत्रैकः मृत्युःकाल-संयुक्तः शेषा आगन्तवः स्मृताः । सुश्रुत सूत्रस्थान ३४-६ ।

'अथर्ववेद के जानने वाले १०१ प्रकार की मृत्युएँ कहते हैं । इनमें १०० वर्ष की जो मृत्यु है, वह तो काल मृत्यु है; शेष रोग दुर्घटनादि से जो सैंकड़ों कारणों से १०० वर्ष से पूर्व मृत्युएँ होती हैं, वे सब अकाल मृत्युएँ हैं ।"

महर्षि दयानन्द सरस्वती और दीर्घायु

(१) इस प्रकार जो स्त्री वा पुरुष करेंगे, उनके पुत्र, सन्तान, दीर्घायु, बल पराक्रम की वृद्धि होती रहेगी । (देखो सत्यार्थ प्रकाश दूसरा समुल्लास)

(२) क्योंकि ऐसा होने से सन्तान उत्तम आर पुनः दूसरी सन्तान भी वैसी ही होती है । अन्यथा वीर्य व्यर्थ जाता, दोनों की आयु घट जाती और अनेक प्रकार के रोग होते हैं । स० प्र० ४र्थ समुल्लास ।

(३) २४ वर्ष के पश्चात् गृहस्थाश्रम करूँगा तो प्रसिद्धि है कि रोग रहित रहूँगा और आयु भी मेरी ७० वा ८० वर्ष तक रहेगी ।

(४) अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् ४०० वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें । वैसे तुम भी बढ़ाओ ।

स० प्र० ३य समुल्लास ।

(५) मनुष्य ब्रह्मचर्य्यादि उन नियमों से त्रिगुण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्गुण आयु कर सकता है अर्थात् ४०० वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका वेद-विषयक विचार।

सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास में छांदोग्योपनिषद् के ३-१६ खण्ड की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ने निम्न-लिखित वाक्य लिखे हैं—"जो आचार्य और माता-पिता अपने सन्तानों को प्रथम वर्ष में विद्या और गुणग्रहण के लिये तपस्वी करें और उसी का उपदेश करें और वे सन्तान आप ही आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावे, वैसे तुम भी बढ़ाओ।"

(६) आयु, वीर्यादि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना तथा युक्ति-पूर्वक भोजन और वस्त्रादि का जो धारण करना है, इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढ़ाओ। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका वेदोक्त धर्म।

(२) युक्ति प्रकरण

कालाकाल मृत्यु पर विचार

चरक और सुश्रुत इन दोनों आयुर्वेद के प्रामाणिक आचार्यों का मत है कि, **आयु नियत भी है और अनियत भी।** पूर्व जन्मों के कर्मों के फल से जाति, आयु और भोग प्राप्त होते हैं, ऐसा योग दर्शन के निर्माता पतञ्जलि मुनि का मत है। **सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः।** हमारा भी विश्वास है; कि जब भी जीव किसी माता के गर्भ में आता है तो आयु भी उसे कर्मानुसार मिलती है। पूर्व-जन्म के कर्म और परिस्थितियों के अधीन जो बालक का शरीर बनता है, उसी शरीर के बल के आधार से ही उसकी आयु निश्चित हो जाती है। उसके भी लक्षण सुश्रुत संहिता में बड़े विस्तार से दिये गये हैं। इस आधार से आयु नियत सिद्ध होती है; परन्तु ये आचार्य आयु को अनियत भी मानते हैं। उनका यह विचार है; कि शारीरिक बल के आधार से जो आयु का निश्चित काल प्रमाण मिला है, उसको अपनी भूल तथा आहार-विहार के कुपथ्यों के कारण, शरीर नियत आयु वाला होता हुआ भी, शक्ति के क्षीण होने के कारण अपने समय के प्रमाण से पहले भी नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार मोटर के बनाने वाला आश्वासन (गारण्टी) देता है कि,इतने हजार मील तक यह मोटर अवश्य चलेगी; परन्तु जो मोटर की सफाई नहीं करता, समय पर उसके पुर्जों को तेल आदि से ठीक नहीं रखता और सुथरे मार्ग के स्थान पर ऊबड़-खाबड़ सड़क पर चलाता है तो, वह मोटर शीघ्र ही घिसकर टूट-फूट जाती है और अपने प्रमाण से पूर्व ही निकम्मी हो जाती है; परन्तु जो मोटर का स्वामी समय-समय पर इसकी सफाई आदि करता रहता है, ठीक मार्ग पर चलाता है, उसकी मोटर उतने मील चल कर ही निकम्मी होती है जितने मील का आश्वासन (गारण्टी) मोटर बनाने वाले ने दिया था।

इस दृष्टान्त से सिद्ध है कि जैसे गाड़ी अनियमितता से अपने समय से पहले ही टूट-फूट जाती है, इसी प्रकार नियत आयु वाला शरीर रूपी रथ भी, कुपथ्य और स्वास्थ्य विरोधी आचरण से अपने निश्चित काल प्रमाण से पहले ही जीर्णशीर्ण होकर नष्ट हो जाता है। जो व्यक्ति स्वास्थ्य नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करता है और दुर्घटना ग्रस्त नहीं होता, उसका शरीर अपने काल प्रमाण पर्यन्त अवश्य बना रहता है।

इसी प्रकार इसी देह में स्वास्थ्य के नियम पालने से शुभ कर्मों से, पुरुषार्थ करने से तथा रसायन आदि औषधों के प्रयोग से शरीर में अधिक नवीन शक्ति और नवीन बल उत्पन्न करके उन अल्पायु और मध्यमायु वाले नियत काल प्रमाण शरीरों को भी शतायु बनाया जा सकता है। इससे इन मुनियों ने आयु के नियत होने पर भी, इसे घटने और बढ़ने वाली माना है। **इसी से आयु नियत भी है और अनियत भी।** वेदादि शास्त्रों का आदेश तो यह है कि; जीवन की आदर्श आयु १०० वर्षों को लक्ष्य में रखकर हर प्रकार से यत्न करना चाहिए कि; हमारी आयु दीर्घ हो और १०० वर्ष का लक्ष्य पूर्ण हो। यह ठीक है कि १०० वर्ष पर्यन्त बहुत थोड़े पहुंचते हैं। हमें पता नहीं कि हमारा शरीर कब तक चलने वाला है, परन्तु इस बात के विचार को छोड़कर, हमें दीर्घायु के साधनों को अपनाते जाना चाहिए और दीर्घ जीवन जितना अधिक चले, उसे चलाते जाना चाहिए।

नियतायु और दुर्घटनाएँ

संसार में दुर्घटनाएँ भी मनुष्य को नियत आयु से पूर्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार देती हैं। दुर्घटना को वेद में पाश का नाम दिया गया है जिसका अर्थ है फांसी की रस्सी अर्थात् मृत्यु का साधन।' अथर्ववेद में ३-११-८ मंत्र आता है :—**यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया।** इसका भाव है कि; मनुष्य जब भी जन्म लेता है, उसी दिन से ही मृत्यु का दृढ़ पाश इसके साथ जुड़ जाता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण ३-१०-८-२ में मृत्यु के सहस्रों, लाखों पाश (साधन) लिखे हैं जिससे मृत्यु, मनुष्य को दुर्घटना द्वारा आ दबोचती हैं। **"ये ते सहस्रं अयुत्तं पाशा मृत्योर्मर्त्यस्य हन्तवे।"** ये दुर्घटनाएँ संसार में अनन्त हैं। कोई भूचाल से, कोई बाढ़ से, कोई अग्नि काण्ड से, कोई यान विमानों की टक्कर से, कोई युद्ध से, कोई डूबने से, कोई आत्म-हत्या से, कोई चोरों-डाकुओं से, कोई विसूचिका, प्लेग आदि-आदि महामारिओं से और कोई अन्य कई घातक रोगों से इस मृत्यु की पाश में आकर इस संसार से चले जाते हैं। अथर्ववेद ३-११-५ के मन्त्र है **"व्यन्ये यन्तु मृत्युवो यानाहुरितरान् शतम्।"** में इसी भाव को प्रकट किया गया है, दूसरा मन्त्र अथर्ववेद २-२८-१ में आता है **"मैमम् अन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये।"** हे परमात्मन्! इस पुरुष को सैंकड़ों प्रकार की अन्य अकाल मृत्युएँ न मारें इसे १०० वर्ष की जो काल मृत्यु है, वही प्राप्त हो दूसरी न हो।

दुर्घटना जनित मृत्युओं में जो सहस्रों बाल, वृद्ध, नर, नारी, मृत्यु के पास में चले जाते हैं। वास्तव में वह उन का मृत्यु का काल नहीं होता। ये दुर्घटनाएँ नियत आयु वालों को भी अपने समय से पूर्व मार देती हैं। यह वेदादि शास्त्रों का सिद्धान्त है।

आयु नियत है वा अनियत, इस पर चरकाचार्य ने युक्तियुक्त जो चर्चा की है, उसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं।

यदि हि नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात् तदायुष्कामाणां न मन्त्रोषधि मणिमंगल बल्युपहार होमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्यनप्रणिपातगमनाद्याः क्रिया इष्टयश्च प्रयुज्येरन् नोद्भ्रान्त चण्ड चपल गोगजोष्ट्रखरतुरगमहिषादयः पवनादयश्च दुष्टाः परिहार्याः स्युः न प्रपात गिरिविषम दुर्गाम्बुवेगाः तथा न प्रमत्तोद्भ्रान्त चण्डचपलमोहलोभाकुल मतयः नारयः, नप्रवृद्धोऽग्निः न च विविधविषाश्रयाः सरीसृपोरगादयः, नसाहसं, नादेश कालचर्या, न नरेन्द्रप्रकोपः, इत्येवमादयोभावा नाभावकराः स्युः, आयुषः सर्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात् न चानभ्यस्ताकालमरणभयनिवारकाणामकालमरणभयमागच्छेत् प्राणिनां, व्यर्थश्चारम्भकथाप्रयोग बुद्धयः स्युर्महर्षीणां रसायनाधिकारे, नापीन्द्रोनियतायुषं शत्रुं वज्रेणाभिहन्यात्, नाश्विनावार्तंभेषजेनोपपादयेतां न महर्षयो यथेष्टमायुस्तपसा प्राप्नुयुः न च विदित वेदितव्या महर्षयः ससुरेश रसायनादीनि सम्यक् पश्येयुरुदिशेयुराचरेयुर्वा, अपि च सर्वचक्षुषामेतत्परं यदैन्द्रं चक्षुः इदं चास्माकं प्रत्यक्षं, यथा-पुरुष सहस्राणामुत्थायोत्थायाहवं कुर्वतामकुर्वताम् चातुल्यायुष्टवं तथा जातमात्राणामप्रतीकारात् प्रतीकाराच्च अविषविष प्राशिनां चाप्यतुल्यायुष्टवं, न च तुल्यो योग क्षेमउदपानघटानां चित्रघटानां चोत्सीदतांतस्माद्धितोपचारमूलं जीवितमतो विपर्ययान्मृत्युः अपिच देश कालगुण विपरीतानां कर्मणामाहारविहाराणां च क्रियोपयोगं सम्यक् सर्वातियोग सन्धारणम-सन्धारणमुदीर्णानां च वर्जनमारोग्यानुवृत्तौ हेतुमुपलभामहे उपदिशामः सम्यक् पश्यामचेति।

चरक विमानस्थान। अ० ३।४०

'अतएव आयु के नियत एवं अनियत दोनों प्रकार का देखे जाने से एक पक्ष को मानना ठीक नहीं। केवल यह मानना कि आयु निश्चित ही है, ठीक नहीं और न ही केवल अनिश्चित मानना संगत है। आयु नियत भी होती है और अनियत भी। यह मानना युक्तियुक्त है यहाँ युक्ति भी बताते हैं। यदि सब आयु के काल का प्रमाण निश्चित हो तो दीर्घ आयु की कामना करने वाले पुरुष मन्त्र, औषधि, मणि, मंगल, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्तिवाचन, प्रणिपात, नम्रता आदि क्रियायें और इष्टियाँ किसी शुभ इच्छा को पूर्ण किये जाने के लिए किये जाने वाले यज्ञ न करें; क्योंकि आयु के निश्चित होने से किसी भी प्रकार आयु के न बढ़ सकने के कारण ये कर्म निष्प्रयोजन होंगे। इधर-उधर दौड़ते हुए क्रुद्ध या चपल गौ, हाथी, ऊँट, गदहा, घोड़ा, भैंसें, आदि तथा दुष्ट वायु आदि से डर कर बचना न चाहिए। प्रपात में पर्वतों पर विषम तथा पार करने में कठिन मार्गों, जलों के वेग से भी डर कर परे न हटना चाहिये। तथा प्रमत्त, असावधान, उन्मत्त, उन्मादयुक्त, पागल, उद्भ्रान्त,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतस्ततः दौड़ते हुए उच्छृंखल, क्रोधी, चपल, मोह, लोभ, से घिरी हुई बुद्धि वाले पुरुष, शत्रु, तीव्र अग्नि, विविध, विषधर, रींगने वाले साँप आदि, साहस (अपने बल से अधिक कार्य करना) देश एवं काल के विपरीत आचरण, राजाओं का कोप तथा अन्य इसी प्रकार के भाव, मृत्यु का कारण न हों। क्योंकि सब आयुओं के काल का प्रमाण नियत है। तथा च जिन प्राणियों ने कभी भी अकाल में मरने के निवारक प्रयोगों का अभ्यास नहीं किया उन्हें अकाल में मरने का भय ही न होना चाहिये। महर्षियों का रसायनाधिकार में आयु को बढ़ाने वाले कर्म, उपदेश, प्रयोग तथा ज्ञान विफल होंगे। इन्द्र भी नियत आयु वाले को वज्र से न मार सकें। अश्विनीकुमार रोगी को औषध द्वारा चिकित्सा न करते। ऋषि भी तप द्वारा यथेच्छ आयु को न प्राप्त होते। इन्द्र और महर्षि, जिन्होंने सब ज्ञेय को जान लिया है, उन्हें रसायन आदि का सम्यक् ज्ञान न होता, न उपदेश करते, न स्वयं उन पर आचरण करते, अपि च सम्पूर्ण नेत्रों में इन्द्र के नेत्र उत्कृष्ट हैं अर्थात् महर्षियों वा इन्द्र के जो ज्ञान चक्षु हैं, वे सर्वोत्कृष्ट हैं। उन्हीं चक्षुओं को देख कर उन्होंने रसायन आदि का स्वयं सेवन किया है और दूसरों को उपदेश दिया है। यह हमें भी प्रत्यक्ष है कि हजारों पुरुषों के प्रतिदिन उठ उठकर युद्ध करने वालों तथा न करने वालों की आयु समान नहीं होती। अर्थात् जो युद्ध करते है वे ही मरते हैं, जो नहीं करते वे नहीं मरते। उत्पन्न होते ही रोग की चिकित्सा कराने से तथा न कराने से भी आयु तुल्य नहीं होती। जो प्रतिकार नहीं करवाते हैं, वे प्रायशः मर जाते हैं। विष खाने वाले और न खाने वालों की भी आयु एक समान नहीं होती। विष खाने वाले प्रायशः मर जाते हैं और न खाने वाले जीवित रहते हैं। यहाँ तक कि प्याऊ के घड़े और चित्र-घड़े (सजावट के लिये रखे हुए) भी परस्पर तुल्य काल तक नहीं रहते। प्याऊ के घड़े प्रतिदिन पानी भरने, हिलाने-डुलाने से शीघ्र टूट जाते हैं। और चित्रस्थित घड़े वैसे ही बहुत काल तक घरों में बने रहते हैं।

'इन बातों को देखने से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। कि **हित सेवन जीवन का कारण और उसका विपरीत मृत्यु का कारण होता है।** अपिच देश काल तथा अपने गुणों से विपरीत कर्म एवं आहार-विहारों के सम्यक्तया चिकित्सोपयोग को, सबके अतियोग के त्याग को, प्रवृत्त एवं गतिमान् वेगों के न रोकने को, साहसों के त्याग को आरोग्य के अनुपालन का कारण पाते हैं। दूसरों को उपदेश करते हैं और सम्यक्तया जानते हैं।'

अतः परमग्निवेश उवाच—एवं सत्यनियत कालप्रमाणायुषं भगवन् कथं कालमृत्युरकाल मृत्युर्वा भवति ॥ ४१ ॥

इसके पीछे अग्निवेश ने कहा, यदि ऐसा ही है तो अनिश्चित काल प्रमाण आयु वाले पुरुषों की हे भगवन्! कालमृत्यु किस प्रकार होती है। अर्थात् जिनकी आयु का काल नियत है, उनकी तो काल मृत्यु होगी ही, परन्तु जिसकी आयु का काल निश्चित नहीं, उनकी काल मृत्यु और अकाल मृत्यु किस प्रकार होगी।'

तमुवाच भगवानात्रेयः—श्रूयतामग्निवेश! यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः स्यात् स च सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्व प्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत्। तथाऽऽयुः शरीरोपगतं बलवत्प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति स मृत्युः काले, यथा च स एवाक्षोऽति भाराधिष्ठितत्वाद्विषमपथादपथाक्ष चक्रभंगाद्वाह्यवाहकदोषादणिमोक्षात् पर्यसनादनुपांगाच्चान्तराव्यसनमापद्यते, तथाऽऽयुरप्ययथाबलमारम्भादयथाग्न्यभ्यवहरणाद्विषमाभ्यवहरणाद्विषमशरीरन्यासादतिमैथुनादसत्संश्रयादुदीर्णवेगविनिग्रहाद्विधार्य वेगाविधारणाद् भूत विष वाय्वग्न्युपतापादभिघातादाहारप्रतीकारविवर्जनाच्चयावदन्तरा व्यसनमापद्यते, स मृत्युरकाले तथा ज्वरादीन्यातंकान्मिथ्योपचरितानकालमृत्यून् पश्याम इति। ॥ ४२ ॥

'भगवान् आत्रेय ने उत्तर दिया, अग्निवेश! सुनो, यान, गाड़ी का अक्ष, धुरा वा चक्र नाभि, पहिये के बीच की नाभि, जिससे आरे लगते हैं और जहाँ गाड़ी का सहारा होता है, स्वभाव से अक्ष के गुणों, दृढ़ता का भारवाहन आदि में समर्थता आदि से युक्त हो, और वह सम्पूर्ण गुणों से युक्त हुआ अधिक भार आदि का न डालना आदि प्रयुक्त होते-होते अपने समय पर अपने प्रमाण के क्षीण होने पर घिसते रहने से टूट जाता है। वैसे ही **शरीर से**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बद्ध स्वभाव से ही बलवान आयु यथावत् स्वस्थवृत्त विधान से परिपालित होता हुआ अपने प्रमाण की क्षीणता से ही नष्ट हो जाता है। वह काल में मृत्यु कहाती है और जैसे वह ही धुरा अत्यधिक भार के उठाने से, ऊँचे-नीचे मार्ग से ठीक मार्ग पर न चलने से व धुरे के चक्र के टूट जाने से, वाह्य और वाहक (साईस वा घोड़े) के दोष से, कील के निकल जाने से, उलट जाने से, तेल वा चिकनाई आदि के न देने से, बीच में ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही आयु भी साहस से, अपनी अग्नि के अनुसार भोजन न करने से, विषम भोजन से, शरीर को विषमता में रखने से, अत्यन्त मैथुन से, दुष्ट पुरुषों के संग से, प्रवृत्त वेग को रोकने से जिन वेगों को धारण करना चाहिये उनको न रोकने से, भूत, विष, वायु, अग्नि के सन्ताप से, चोट से, आहार न करने से, चिकित्सा न करने से बीच में ही जो विपद्ग्रस्त हो जाता है, वह अकाल मृत्यु कहाती है। तथा ज्वर आदि रोगों की ठीक चिकित्सा न होकर उलटी चिकित्सा हुई हो तो उसे भी हम अकाल मृत्यु ही जानते हैं।'

लक्षणों से आयु का निश्चय

अल्पायु मध्यमायु तथा परमायु व्यक्ति के क्या-क्या चिन्ह हैं, उन्हें यहाँ उद्धृत किया जाता है।

सुश्रुत आचार्य ने सहस्रों व्यक्तियों के लक्षणों को अनुभव करके यह मार्मिक विचार दिया है। वर्तमान विज्ञान अभी तक भी इस बात को नहीं बता सकता कि किस व्यक्ति की कितनी आयु हो सकती है। सुश्रुत ने बहुत स्पष्ट शब्दों में ये लक्षण लिखे हैं। इन्हें यहाँ ध्यान से पढ़ें।

तत्र महापार्णिपादपार्श्वपृष्ठस्तनाग्रदशनवदनस्कंधललाटदीर्घांगुलिपर्वोच्छ्वासप्रेक्षणबाहुँ विस्तीर्णभ्रुस्तनान्तरोरस्कं ह्रस्वजंघामेढ्रग्रीवंगंभीरसत्वस्वरनाभिम्, अनुच्चैर्बद्धस्तनम् उपचितमहारोमश कर्णंपश्चान्मस्तिष्कस्नातानुलिप्तं मूर्धानुपूर्व्या विशुष्यमाणशरीरं पश्चाच्चविशुष्यमाणहृदयं पुरुषं जानीयाद्दीर्घायुः खल्वयमिति। तमेकान्तेनोपक्रमेत्। ऐभिर्लक्षणैः विपरीतैरल्पायुः मिश्रैर्मध्यमायुरिति ॥ सुश्रुत सूत्रस्थानम् अध्याय ३५।४॥

'निम्न लक्षणों वाला पुरुष दीर्घायु होता है। विशाल हाथ पाँव वाला, विशाल पार्श्व वाला, विशाल पीठ वाला, विशाल स्तन वाला, विशाल दाँतों वाला, विशाल चेहरा, विशाल स्कंध, विशाल अंगुलियों वाला, दीर्घ उच्छवास (श्वास), दीर्घ आँखों वाला, दीर्घबाहु, विस्तीर्ण भ्रू, विस्तीर्ण स्तनान्तर, विस्तीर्ण वक्षःस्थल, ह्रस्व जंघा, ह्रस्व मेढ़ (लिंग) और ह्रस्व ग्रीवा, गम्भीर सत्व (सत्व का प्राचुर्य), गम्भीर स्वर, गम्भीर नाभि, कुछ उठे निबिड़ स्तन, माँस से भरे महान् लोम वाले कर्ण, सिर-से पिछले भाग में मस्तिष्क उन्नत होना, स्नान के उपरान्त चन्दनादि का लेप करने पर पहले माथे से प्रारम्भ होकर समस्त शरीर का लेप शुष्क हो, तदनन्तर हृदय का लेप शुष्क होता हो, इन लक्षणों वाले पुरुष को समझना चाहिये कि वह दीर्घायु है। इस प्रकार के मनुष्य की विना किसी सन्देह के (स्थिर चित्त से) चिकित्सा करनी चाहिये। इन लक्षणों से विपरीत लक्षणों वाले पुरुष को स्वल्पायु समझना चाहिये। मिले-जुले लक्षणों वाले को मध्यमायु समझना चाहिये।

गूढ़सन्धि सिरास्नायुः संहतांगः स्थिरेन्द्रियः। उत्तरोत्तरक्षेत्रो यः स दीर्घायुरुच्यते ।५।

'जिस पुरुष की सन्धि, शिरा और स्नायु गूढ़ (छिपी-हुई) हों, गठीले अंगों वाला, अचलेन्द्रिय, उत्तरोत्तर सुक्षेत्र (उत्तरोत्तर दीर्घायु वालों के वंश में उत्पन्न, जिसके माता-पिता, मातामह, पितामह, नानी-नाना चिरायु हों) वह पुरुष दीर्घायु होते हैं।'

गर्भात् प्रभृत्यरोगो यः शनैः समुपचीयते। शरीरज्ञानविज्ञानैः स दीर्घायुः समासतः ।६।

'जो पुरुष गर्भावस्था से ही नीरोग है, जिसमें शरीर ज्ञान, विज्ञान, गुण धीरे-धीरे बढ़ते हैं, वह दीर्घायु होता है।'

मध्यमस्यायुषो ज्ञानमतऊर्ध्वं निबोध मे। अधरस्तादक्षयोर्यस्य लेखाः स्युर्व्यक्तमायताः ।७।

द्वेवातिस्रोऽधिकावापि पादौ कर्णौ च मांसलौ। नासाग्रमूर्ध्वञ्च भवेदूर्ध्वं लेखाश्च पृष्ठतः ।८।

यस्यस्युस्तस्यपरमायुर्भवति सप्ततिः ।८।

'मध्यम आयु के लक्षण कहते हैं—जिसकी आँखों के नीचे दो-या-तीन अथवा इससे अधिक लम्बी रेखाएँ स्पष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती हैं। पाँव, कान, मांस से भरे हों, नासा का अग्रभाग ऊपर को उन्नत हो, पीठ में ऊपर को रेखाएँ हों तो इस प्रकार के पुरुष को मध्यमायु समझना चाहिये। इसकी आयु सत्तर वर्ष से अधिक नहीं होती।'

जघन्यस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निबोध मे ।९। ह्रस्वानि यस्य पर्वाणि सुमहच्चापि मेहनम्। तथोरस्यवलीढानि न च स्यात्पृष्ठमायतम् ॥१०॥ ऊर्ध्वं च श्रवणौ स्थानान्नासा चोच्चाशरीरिणः हसतोतेजल्पतोवापि दंतमांसंप्रदृश्यते। प्रेक्षते यश्च विभ्रान्तं स जीवेत् पंचविंशतिम् ॥११॥

'इसके आगे जघन्य आयु के लक्षणों को कहते हैं। अंगुलियों के पर्व छोटे हों और शिश्न (लिंगेंद्रिय) बड़ा हो, वक्षस्थल अन्दर को दबा हो। पीठ, विशाल न हो, जिसके कान अपने स्थान से ऊँचाई पर हों तथा नासिका भी ऊँचाई पर होती हो, हंसते, बातें करते समय, जिस पुरुष के मसूड़े दिखाई देते हों, जो कि चंचल दृष्टि से इधर-उधर देखता हो वह ह्रस्व आयु अधिक-से-अधिक २५ वर्ष तक जीता है।'

अथ्थःपुनरायुषो विज्ञानार्थमंगप्रत्यंगप्रमाणसारानुपदेक्ष्यामः। तत्रांगान्यनाराधिसक्थिबाहु शिरांसि, तदवयवाः प्रत्यंगानीति। तत्रस्वैरंगुलैः पादांगुष्ठप्रदेशिन्यौद्वयङ्गुलायते, प्रदेशिन्यास्तु मध्यमानामिकाकनिष्ठका यथोत्तरं पंचमभागहीना चतुरंगुलायते पंचांगुल विस्तृते प्रपदपादतले, पंचचतुरंगुलायतविस्तृता पार्ष्णिः चतुर्दशांगुलायतः पादः. चतुर्दशांगुल परिणाहानि पादागुल्फ जंघाजानुमध्यानि, अष्टादशांगुलाजंघा जानूपरिष्टाच्च द्वाविंशदंगुलमेवं पंचाशत् जंघायामसमावूरु ॥ द्वयंगुलानि वृषणाचिबुकदशननासापुटभागकर्णमूलनयनान्तराणि, चतुरंगुलानि मेहनवदनान्तरनासाकर्णललाटग्रीवोच्छायदृष्टचन्तराणि द्वादशांगुलानिभगविस्तारमेहन नाभिहृदयग्रीवास्तनान्तरमुखायाममणिबन्ध प्रकोष्ठस्थौल्यानि। इन्द्रवस्तिपरिणाहांसपीठकूर्परान्तरायामः षोडशांगुलः। चतुर्विंशत्यंगुलोहस्तः। द्वात्रिंशदंगुलपरिमाणौ भुजौ द्वात्रिंशत् परिणाहावूरू। मणिबन्धकूर्परान्तरं षोडशांगुलम्। तलं षट् चतुरंगुलायामविस्तारम्। अंगुष्ठमूलप्रदेशिनी श्रवणापांगान्तरमध्यमांगुल्यौ पंचांगुले। सार्द्धचतुरंगुले प्रदेशिन्यानामिके, सार्द्धत्र्यंगुलौकनिष्ठांगुष्ठौ। चतुर्विंशत्यंगुलविस्तारपरिणाहं मुखग्रीवं,त्रिभागांगुलिविस्तारा नासापुटमर्यादा नयनत्रिभागपरिणाहातारका। नवमस्तारकांशो दृष्टिः। केशान्तमस्तकान्तरमेकादशांगुलम्। मस्तकादवटुकेशान्तो दशांगुलः कर्णावट्वन्तरं चतुर्दशांगुलम्। पुरुषोरः प्रमाणविस्तीर्णास्त्रीश्रोणिः। अष्टदशांगुलविस्तीर्णमुरः तत्प्रमाणापुरुषस्य कटी। सविंशमंगुलशतं पुरुषायाम इति ॥१२॥

'इसके आगे आयु के विज्ञान के लिये प्रत्यंगों का ज्ञान प्रमाण एवं सारों को कहते हैं। अंगअन्तराधि (मध्यकाय या धड़) दोनों बाहु, एवं दोनों जंघा और सिर, ये छः अंग हैं। इन अंगों के अवयवों को प्रत्यंग कहते हैं। इन प्रत्यंगों में पाँव का अंगूठा एवं पाँव की प्रदेशिनी अंगुलि दो अंगुल लम्बी (अपनी अंगुलियों से) प्रदेशिनी से मध्यमांगुलि १-५ भाग अनामिका से कनिष्ठिका १।५ भाग छोटी, पाँव का तलवा चार अंगुल लम्बा और पाँच अंगुल चौड़ा पार्ष्णि (एड़ी) पाँच अंगुल लम्बी चार अंगुल चौड़ी, पाँव गुल्फ, पांव १४ अँगुल लम्बा, जंघा एवं जानु का मध्य स्थान [illegible] अंगुल गोल, जंघा १८ अंगुल लम्बी, घुटने के ऊपर ३५ अंगुल, इस प्रकार से कुल ५० अंगुल, जंघा के समान दीर्घऊरु-अंड-कोष, ठोडी, दाँत, नासापुट, नथने, कर्णमूल और कानों तथा भौं एवं नेत्र का अन्तर दो अंगुल, अनुत्तेजित शिश्न, खुला मुख, नाक, कान, ललाट-ग्रीवा, आँखों का मध्य भाग चार अंगुल, योनिच्छिद्र की गहराई १२ अंगुल (हस्तिनी जाति की स्त्री में) मेहन नाभि का अन्तर, हृदय एवं ग्रीवा का अन्तर दोनों स्तनों का अन्तर, चेहरे की लम्बाई, मणिबन्ध, (कलाई) की गोलाई, प्रकोष्ठ भाग १२ अंगुल, इन्द्रवस्ति (जंघा का मध्य भाग) की गोलाई अंसपीठ एवं कोहनी का मध्य भाग १६ अंगुल, लम्बाई तथा गोलाई हाथ २४ अंगुल, भुजायें ३२ अंगुल उस ३२ अंगुल गोलाई में, मणिबन्ध और कोहनी के बीच का अन्तर १६ अंगुल, हाथ का तलवा ६ अंगुल लम्बा और ४ अंगुल चौड़ा, अंगुष्ठ और प्रदेशिनी का अन्तर कान और नेत्र कोणों का अन्तर और मध्यमांगुलि ५ अंगुल, प्रदेशिनी और अनामिका ४॥, कनिष्ठा और अंगुष्ठ ३॥ अंगुल, मुख की लम्बाई ४ अंगुल, ग्रीवा की गोलाई २० अंगुल, नासापुट की मर्यादा १-३ अंगुल, आँख की कृष्ण मण्डल या तारक आँख का १-३ भाग, दृष्टि तारक का १-९ भाग, बालों की जड़ शंख प्रदेश के एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मस्तक (चोटी) के स्थान के बीच का भाग ११ अंगुल, मस्तक से ग्रीवा के बालों की जड़ का मध्यभाग १० अंगुल, कान एवं ग्रीवा के पिछले भाग का अन्तर १४ अंगुल, पुरुष के उर के बराबर, (१२ अंगुल) स्त्री का श्रोणिफलक, स्त्री का उरःस्थल १८ अंगुल चौड़ा, पुरुष की कटि १८ अंगुल पुरुष की सम्पूर्ण लम्बाई १२० अंगुल है।'[1]

(३) उपाय प्रकरण

स्वास्थ्य का लक्षण तथा स्वस्थ रहने के उपाय

सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय १५ श्लोक ४० में स्वस्थ अर्थात् नीरोगी पुरुष के निम्न लक्षण लिखे हैं :—

"समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियाः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।"

जिसके वात, पित्त, कफ दोष विषम नहीं प्रत्युत सम हैं। जिसकी जठराग्नि विषम और तीक्ष्ण न होकर सम रहती है, जिसके शरीर में रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, और शुक्र ये सातों धातुएँ शरीर में यथोचित रूप से सम हैं, जिसके शरीर में मल-मूत्रादि सब क्रियाएँ यथोचित रूप से यथा समय ठीक होती रहती हैं, जिसका आत्मा, मन और इन्द्रियें प्रसन्न रहती हैं वह मनुष्य स्वस्थ है।

शरीर की नीरोगता के साथ-साथ मन की नीरोगता भी स्वास्थ्य के लिये परमावश्यक है। जिसका शरीर नीरोग है, परन्तु मन में शोक, चिन्ता, भय, ईर्ष्या, विषाद आदि मानसिक कष्ट देने वाले विकार विद्यमान हैं, वह भी अस्वस्थ है। जिसका मन नीरोग है, 'परन्तु शरीर रोग युक्त है, वह भी स्वस्थ नहीं है। आनन्दमय और दीर्घ जीवन के लिये शरीर और मन इन दोनों का नीरोग होना आवश्यक है।

स्वास्थ्य के उपाय

नीचे लिखे उपायों पर आचरण करने से शरीर स्वस्थ रहता है—

१. प्रातःकाल उठना, २. उषःपान, ३. शौच (मल-मूत्रादि) से निवृत्ति, तथा विबन्ध (कब्ज न रहने देना) ४. व्यायाम, ५. दीर्घ निःश्वास, ६. अभ्यंग तथा अंग मर्दन, ७. दातुन अथवा मंजन, ८. स्नान, ९. आहार (भोजन), १०. आजीविका ११. वीर्य रक्षा, १२. निद्रा, १३. वेग निरोध, १४. दोष निस्सारण, १५. बुद्धिदोष, १६. निवास, १७. ऋतुओं में सावधानता।

प्रातःकाल उठना

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।

(भावप्रकाश)

आयु रक्षा के लिये ब्राह्ममुहूर्त अर्थात् सूर्योदय से पूर्व ही उठना चाहिये।

सूर्योदय से पहले उठना स्वास्थ्य वर्द्धक है। जो लोग देरी से उठते हैं, वे ऊषा काल के प्रातः भ्रमण व प्राकृतिक सौन्दर्य से वंचित रहते हैं। रात्रि को सोने के लिये भले ही शीघ्र सो जावें, किन्तु उठना प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में ही चाहिये। विद्यार्थी-जीवन में प्रातःकाल उठकर पढ़ना बहुत ही लाभकारी होता है। उस समय बुद्धि निर्मल और तीक्ष्ण होती है।

(२) उषःपान

प्रातः उठ कर शौच से पहले ही जल का पीना बहुत लाभकारी है। शीत ऋतु में यदि जल बहुत ठंडा हो तो थोड़ा गर्म कर लेना चाहिये। विबन्ध (कब्ज) में जल में नींबू रस मिला कर पीना लाभकारी है। इससे मल शुद्धि हो जाती है और आमाशय शुद्ध रहता है।

भाव प्रकाश ग्रन्थ में उषा काल में जलपान से अर्श, गलरोग, शिरोरोग, मेद, (चर्बी) विकार, रक्तपित्त, मूत्राघात, नेत्र रोग दूर होने का संकेत किया है। वहाँ लिखा है:—

सवितुः समुदयकाले प्रसृती सलिलस्य पिबेदष्टौ। रोग जरा परिमुक्तो जीवेद् वत्सरशतम्-साग्रम्। शोथ अर्शः ग्रहण्यो ज्वर जठर जरा कुष्ठ मेदोविकाराः मूत्राघातास्रपित्त श्रवणगल शिरः श्रोणिशूलाक्षिरोगाः॥

(३) शौच

शौच का अर्थ मल मूत्रादि से निवृत्ति है। सदा ही

1. ये अंगुलियाँ माप करने वाले की अपनी अंगुलियों से है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठने के पीछे मल त्याग का स्वभाव डालना चाहिये। मल के वेग को रोकना नहीं चाहिये। कुछ लोगों को प्रातःकाल शौच नहीं आता, यदि आता है तो पूरा मल नहीं उतरता। उन्हें प्रातःकाल ही दो तीन बार मल निवृत्ति के लिये जाना पड़ता है। नगरों में लाखों लोग इस रोग से पीड़ित हैं। उनको निम्नलिखित कारणों की ओर ध्यान करना चाहिये :—

१. व्यायाम, भ्रमण व शारीरिक कार्य न करना, २. शोक, चिन्ता, ३. शारीरिक दुर्बलता, ४. बहुत बुढ़ापा, ५. मल मूत्र तथा अपानवायु के वेगों को रोकना, ६. अफीम, गांजा तथा चरस के अति सेवन, ७. वेसनादि बहुत खुश्क और देर में हजम होने वाली चीजों के अति सेवन से, ८. असमय में खाने-पीने से, ९. स्त्रियों में अधिक सन्तानोत्पत्ति से।

जिन्हें यह रोग हो, वे सब से पहले घूमना, खेलना, वा व्यायाम अवश्य करें। आंतों को ठीक करने वाले योगासन बहुत लाभकारी हैं। शौच जाने के पूर्व पाव डेढ़ पाव पानी सादा अथवा निम्बू रस युक्त पीकर कुछ टहलना चाहिये, उससे मल शीघ्र नीचे उतर जाता है। भोजन में थोड़ा-थोड़ा जल पीवे और भोजन के दो घण्टे बाद खूब जल पीते रहना चाहिये। भोजन में मोटी चक्की के पिसे और अनछने मोटे-आटे से बहुत लाभ होता है। चोकर तो कब्जी की चिकित्सा है। जो लोग बारीक आटा व मैदा खाने के अभ्यस्त हैं, उनकी आतें बहुत शीघ्र खराब हो जाती हैं। दलिया इसमें बहुत ही उत्तम है।

कब्जी वाले को दालों की अपेक्षा सब्जी और फलों का अधिक सेवन करना चाहिये। पपीता, अंगूर, दाख, सूखी अंजीर, खरबूजा, नासपाती, सन्तरा, नारंगी, मौसमी, माल्टा, गन्ना, बब्बू गोशा, शहतूत, अनानास, अलूचा, आलूबुखारा, पतले रस का आम, आड़ू, चकोतरा, तरबूज, बादाम, खुमानी, नींबू, सरदा, आदि-आदि फल विबन्ध वाले के लिये लाभकारी हैं। जामन, केला, सेब, बेर, अमरूद, अनार, लीची कब्ज़ी करने वाले फल हैं। इन्हें नहीं खाना चाहिये। सब्जियों में पालक, छोटी-मूली और उसके पत्ते, शलगम, बाथू, मेथी, टिण्डा, घिया, काली तोरी, गाजर, करेला, ककोड़ा, कमरख, पतगोभी, गांठगोभी, जिमिकन्द, चुकन्दर, सलाद, टमाटर, बैंगन, साग कड़म, अदरक, ककड़ी, खीरा, गलगल, चौलाई, पोदीना, लहसन, सोये, सरसों का साग, सुहांजना आदि सब्जियों का प्रयोग करना चाहिये। अरबी, आलू, कचनार, काशी फल, चने का साग, भिण्डी, कमल ककड़ी, मटर, चना, शकरकन्दी, सेम की फली आदि सब्जियाँ हानि करती हैं।

(४) व्यायाम

व्यायाम शरीर के लिये परमावश्यक है। शुद्ध वायु में भ्रमण, खेलना, योग आसन, दण्ड बैठक, कुश्ती, टेनिस, फुटबाल, वालीबाल, तैरना आदि आदि किसी रूप में भी किया हुआ व्यायाम शरीर के लिये बहुत लाभकारी है। व्यायामशील का शरीर नीरोग रहता है। शरीर का मल-रूप विष पसीने द्वारा बाहर निकल जाता है और फेफड़े दृढ़ होते हैं। इससे शरीर के प्रत्येक भाग में रक्त का संचार होता है। उसे कोई भी रोग नहीं लगता। इसके लिये सुश्रुत चिकित्सा स्थान अ० २४ में लिखा है :—

व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च व्याधयो नोपसर्पन्ति ॥

(५) दीर्घनिःश्वास

प्रातःकाल शौचादि से निपट कर शुद्ध वायु में दीर्घ निश्वास (Deep-Breathing) करना चाहिये। इससे फेफड़ों में शुद्ध हुआ रक्त, शरीर में बल उत्पन्न करता है। ऐसे अभ्यासी को फेफड़े का क्षय टी०बी० कभी नहीं होता। मनुस्मृति में तो लिखा है कि जैसे धातुओं को आग में रखने से उनके मल शुद्ध होते हैं। इसी प्रकार प्राण निग्रह अर्थात् दीर्घ निःश्वास (प्राणायाम) से इन्द्रियों के सर्वदोष नष्ट हो जाते हैं। **दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्तेनें दोषाः प्राणस्य निग्रहात्** ॥ मनु ६-१७ ॥

दीर्घ निःश्वास की विधि :—

१. चौकड़ी लगा कर पीठ, ग्रीवा सीधी रखकर बैठे, भीतर का श्वास वेग से नासिका द्वारा बाहर फैंके। बाहर ही प्राण वायु को कुछ क्षण रोके। जब चित्त घबराने लगे तो शनैः-शनैः प्राण वायु भीतर नासिका द्वारा ही खैंचे। इस प्रकार न्यूनातिन्यून तीन बार अवश्य करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. दूसरी विधि यह है; जिस नासिका छिद्र से वायु चलता हो, उससे आरम्भ करे। जैसे बाईं नासिका से वायु चलता है तो धीरे-धीरे उसी से वायु भीतर खींचे। खिंच जाने पर अंगूठे और अंगुलि से दोनों द्वार बन्द कर दे। जब भीतर चित्त घबराने लगे तो बाँया द्वार बन्द रख कर, दाँया द्वार खोल कर वायु शनैः शनैः बाहर फैंके। जब वायु बाहर चला जावे तो कुछ काल वायु बाहर ही रोके। फिर दाँये द्वार से ही धीरे-धीरे वायु भीतर खैंचे। खिचने पर दोनों द्वार फिर बन्द कर ले; फिर कुछ काल भीतर रोक कर वायु को बाँये नथने से शनैः-शनैः बाहर फैंक देवे। इस प्रकार से एक निश्वास पूरा होता है। न्यूनातिन्यून तीन बार ऐसा अवश्य करना चाहिये।

(६) अभ्यंग तथा अंग मर्दन

अभ्यंग (मालिश) करने से त्वचा में झुरियाँ नहीं पड़तीं। त्वचा कोमल और दृढ़ होती है। शरीर में रक्त संचार पूरा हो जाता है। दाद, चम्बल नहीं होता। पैरों के तलों को विशेष रूप से मालिश करे। इससे गृध्रसी (शाईटिका) पीड़ा नहीं होती और पाँव नहीं फटते।

बिना तैल के भी अंग मर्दन किया जाता है। उसका फल भी मालिश के तुल्य ही होता है। इसमें हाथ के तलुवों से भुजा, जंघा, पीठ, सिर इन्हें निरन्तर कुछ मिनट मलते (रगड़ते) रहना चाहिये। इससे भी रक्त संचार होकर देह सुन्दर और त्वचा नीरोग रहती है।

७. दातुन अथवा मंजन

दातुन अथवा मंजन करने से दाँत दृढ़ होते हैं। मुख में पड़ा हुआ मल बाहर निकल आता है और अन्न में रुचि बढ़ती है। जो लोग दांतों के शुद्ध करने में असावधानता करते हैं, उनके दांत दुर्बल हो कर अपने समय से पहले ही गिर जाते हैं। स्वाभाविक दाँतों के बिना भोजन भली प्रकार चबाया नहीं जाता। इनसे भोजन से पूरा रस नहीं मिलता, फिर आमाशय और आँतों के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जब भी कुछ खायें तो उसके पीछे अंगुली से मल कर कुल्ला करने से दाँत शुद्ध और दृढ़ रहते हैं।

८. स्नान

स्नान भूख, ओज, शक्ति और बल का बढ़ाने वाला है। खुजली, मैल, पसीना, आलस्य, तृषा, दाह इनको दूर करता है। स्नान से रोम छिद्रों में रुका हुआ मल दूर होकर, शरीर की त्वचा सुन्दर और नीरोग हो जाती है। स्नान बुद्धिवर्द्धक है।

९. वस्त्र

पहिनने और सोने के वस्त्र शुद्ध और उज्ज्वल होने चाहियें। गन्दे वस्त्रों के प्रयोग से खुजली आदि त्वचा के रोग हो जाते हैं। वस्त्रों में यूका (जूँ) आदि कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। किसी का पहिना हुआ वस्त्र; बिना धुला प्रयोग नहीं करना चाहिये। दूसरे के प्रयुक्त वस्त्र और बिस्तर से कभी-कभी एक-दूसरे को संक्रामक रोग लग जाते हैं। घर में स्नान के पीछे अंग पोंछने वाला अंगोछा सूखा और पृथक्-पृथक् होना चाहिए।

कदापि न जनैः सद्भिर्धार्य्यंमलिनमम्बरम्। तत्तु कण्डूकृमिकरं ग्लान्यलक्ष्मीकरं परम्। (भाव प्रकाश)

ऊनी और रेशमी वस्त्र शीतकाल में धारण करने चाहियें, अन्य ऋतुओं में नहीं।

१०. आहार

भोजन शरीर के लिये जीवन है। शरीर का वर्ण, बल, बुद्धि, पुष्टि तथा शक्ति इसी पर आश्रित है। जो भोजन में असावधानता करते हैं, उनका स्वास्थ्य भी पूर्णतया ठीक नहीं रहता। आहार के अंतर्गत गेहूँ, चावल, मक्का, जौ, शाक, सब्जियें, फल, सूखे मेवे, बादाम, पिस्ता, काजू आदि गिरी वाले फल, दूध, दही, माखन, घी, पनीर, माँस, मछली, अण्डा आदि आते हैं। ये सब खाद्य और पेय पदार्थ शरीर बनाने में भिन्न-भिन्न, शक्ति रखते हैं।

प्राचीन पद्धति के अनुसार भोजन में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय इन छः रसों का समावेश होना चाहिये। आधुनिक पद्धति में प्रोटीन, वसा, (Fat) चिकनाई, कार्बोज, जल तथा खनिज पदार्थ लौह आदि और जीवनीय गण (विटेमिन्स) को भोजन का आधार माना गया है।

विधि

भोजन से पूर्व हाथ अवश्य धोने चाहियें और एक दो गरारे भी कर लेने चाहियें। इससे हाथों और गले में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगी मिट्टी आदि सब शुद्ध हो जाती है। आधुनिक लोग डिनर के समय तो हाथ आदि धो लेते हैं, पर चाय पार्टियों में बिना हाथ धोये ही खाद्य पदार्थों का खाना आरम्भ करते है। यह पद्धति रोगवर्द्धक है।

भोजन के सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य बातें :—

१. भोजन शुद्ध स्थान पर बनाना और खाना चाहिये। स्थान धूल, मक्खी तथा मच्छरों से रहित हो।

२. नियमित समय पर और भूख लगने पर ही भोजन खाना चाहिये।

३. भोजन की मात्रा अपनी पाचन शक्ति के अनुसार होनी चाहिये। अर्थात् न न्यून, न अधिक, क्योंकि मिताहारी ही स्वस्थ रहता है।

भावप्रकाश का मत है कि पेट के दो भाग अन्न से, एक भाग जल से भरे और एक भाग वायु संचरण के लिये रिक्त (खाली) रखें। इसका सारांश यह है कि पेट का कुछ भाग खाली रखना चाहिये। स्वादिष्ट अन्न से इसे ठौंसना नहीं चाहिये।

कुक्षेः भागद्वयं भोज्यैस्तृतीये वारि पूरयेत्। वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्॥ (भा० प्र०)

४. भोजन को खूब चबा-चबा कर, धीरे-धीरे खाना चाहिये। इस प्रकार से मुख की लाला, भोजन के साथ मिलकर शीघ्र पाचन क्रिया करती है। जल्दी-जल्दी भोजन खाने वालों को भोजन का रस पूरा नहीं मिलता और पेट में अनेक प्रकार के रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं।

५. सज्जरे (ताजे) भोजन का ही सेवन करना चाहिये। भोजन प्रसन्न, शान्तिमय और अनुकूल वातावरण में करे। सादा और पुष्टिकारक अन्न ग्रहण करना चाहिये। गाजर, मूली लहसुन, प्याज़, अदरक, चुकन्दर, सलाद, टमाटर, शलगम आदि शाक कच्चे खाने पर भी लाभ करते है।

प्रौढ़ व्यक्ति के लिये दैनिक संतुलित भोजन :—

अन्न—गेहूँ चावल आदि	१।। पाव
दालें	१।। छटाँक
पत्तों वाले शाक	२ छ०
बिना पत्तों वाले शाक	२ छ०
घी तेल आदि	१ छ०
आलू, चुकन्दर, गाजर, मूली आदि	१।। छ०
दूध	१।। पाव

जो लोग मांसाहारी हैं, उनके लिये १।। छटांक मांस एक या, दो अण्डे प्रतिदिन उपरिलिखित पदार्थों के अतिरिक्त हैं।

रात्रि को बहुत देर से पचने वाले भोजन न करें।

भोजन के साथ जल पीने की विधि :—

अत्यम्बुपानान्नविपच्यतेऽन्नमनम्बुपानाच्च स एव दोषः। तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारिपिबेदभूरि॥

(भाव प्रकाश)

भोजन के साथ जल घूँट-घूँट करके थोड़ा-थोड़ा पीना चाहिये। भोजन के दो घंटे बाद जल अधिक पिया जावे तो अच्छा है। पीने का जल स्वच्छ होना चाहिये। गन्दे कुओं, जलाशयों, तड़ागों का जल नहीं पीना चाहिये। वर्षाऋतु में नदियों का जल भी अपेय है। इस प्रकार के गन्दे जल के पीने से कई रोग और विशेषकर पेट में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। संशय युक्त जल को गर्म कर छान कर पिया जाय तो हानिकारक नहीं होता।

भोजन समाप्त करके पीछे कुल्ला अवश्य करें। जो अन्न दाँतों के साथ लगा रह गया है, उसे अंगुलि व दांत खुरचनी, व तृण से साफ कर के निकाले। इससे मुख शुद्ध रहता है और दाँतों में मल नहीं जमता और वे दृढ़ रहते हैं।

दिन में दो वार ही भोजन करें।

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम्।

(म० भारत शा० १९१—१०)

प्रातः सायं दो काल ही भोजन विद्वानों ने निश्चित किया है।

प्रातराश, (नाश्ता) के अतिरिक्त भोजन दो बार ही करना आयुर्वेद ने हितकर माना है। आमाशय में गया हुआ भोजन, सात-आठ घंटों में पूर्णतया जीर्ण होता है। तभी आमाशय खाली होता है। कई लोग थोड़े-थोड़े समय पीछे कुछ न कुछ खाते रहते हैं। इस प्रकार बार-बार खाना स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है।

दोनों भोजनों के मध्य हल्के खाद्य पदार्थ, फलों तथा दूध, लस्सी, फल सिकंजी व शर्बत आदि पेय पदार्थों का निषेध नहीं।

वर्तमान पार्टियों में ग्रीष्मऋतु में उष्ण पेय, चाय, काफी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि के साथ शीतपेय, आईसक्रीम, सोडा, लेमन, आदि एक साथ ही चलते हैं। यह विधि गले और मेहदे के लिये बहुत ही हानिकर है। इससे गल रोग (टॉंसिल्स) आदि हो जाते हैं। आमाशय में ठण्डे और गर्म पदार्थ जब एक साथ ही जाते हैं; तो भिन्न-भिन्न तापमान के कारण पेट खराब होता है।

स्वास्थ्य की रक्षा के लिये सप्ताह में अथवा पक्ष में एक पूरा दिन अथवा आधा दिन निराहार रहना भी लाभकारी है। यह उपवास [illegible] तथा पेट के अन्य विकारों को ठीक कर देता है।

११. वीर्य रक्षा

स्वास्थ्य के लिये वीर्य की रक्षा अत्यन्त आवश्यक है। जो कुछ भी हम खाते-पीते हैं, उसका अन्तिम तत्त्व वीर्य अर्थात् शुक्र है। इसकी रक्षा बड़ी सावधानी से करनी चाहिये। अधिक वीर्य क्षय से शरीर [illegible] उत्पन्न हो जाते हैं यथा शूल, खांसी, ज्वर, श्वास, [illegible] पाण्डु, आक्षेपक (कन्वलशन) तथा क्षय (तपेदिक)। यदि वीर्य की रक्षा न की जावे, तो अन्त में शरीर क्षीण होकर मनुष्य शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। अविवाहित नवयुवक और नवयुवतियों को कामोत्तेजक तथा विषैले वातावरण से बचना चाहिये। जो छात्र और छात्राएँ पाश्चात्य भोगवादी संस्कृति का अनुकरण करके छात्रावस्था में ही शृंगार प्रिय होकर गन्दी पुस्तकों तथा गन्दे सिनेमाओं को देखने व पढ़ने में व्यस्त हो जाते हैं, वे अपनी वीर्य शक्ति की रक्षा नहीं कर सकते। विवाहित व्यक्ति भी नियमित गृहस्थ करता हुआ ब्रह्मचारी ही समझा जाता है। शास्त्र में लिखा है कि 'शुक्रायत्तं बलं पुंसां तथा जीवन विन्दु धारणात्।' अर्थात् वीर्य-रक्षण जीवन और वीर्य-नाश मृत्यु है।

१२. आजीविका

धर्मपूर्वक आजीवका उपार्जन करने पर आयुर्वेद और धर्मशास्त्रों ने बहुत बल दिया है। वर्तमान काल के लोग, इस बात पर उपहास करते हैं। वे कहते हैं कि आजीविका से स्वास्थ्य का क्या सम्बन्ध। पाप और पुण्य दोनों में से किसी साधन से भी हो, धन कमाना चाहिये। उनको यह मालूम नहीं कि स्वास्थ्य का मन से सम्बन्ध है। यदि पुरुष धोखा, छल, कपट, चोरी, डाका, घूँसखोरी, भ्रष्टाचार आदि साधनों से धन कमायेगा तो उसके मन में ईर्ष्या, भय, क्रोध, राग, द्वेष, मोह और चिन्ता बढ़ेगी। इनके प्रभाव से मन अशान्त रहता है। रक्तचाप (Blood Pressure) बढ़ता है। निद्रा नहीं आती तथा अनेक प्रकार के वातिक संस्थान रोग (नर्वस डिजीजज़) हो जाते हैं। इस प्रकार अशान्तचित्त वाला मनुष्य धन के अधिक होने पर भी रोगी और दुःखी रहता है। अमेरिका एक समृद्ध देश है, परन्तु ४० प्रतिशत जनता वहाँ वात-संस्थान रोग से पीड़ित है। अन्य देशों के धनियों की भी यही दशा है।

१३. निद्रा

निद्रा स्वास्थ्य के लिये हितकर है। दिन की थकावट को दूर करती है। शरीर और मस्तिष्क को नया जीवन देती है। निद्रा, युवा और प्रौढ़ मनुष्यों को ६ से ८ घंटे तक पर्याप्त है। बच्चों को अधिक निद्रा की आवश्यकता होती है। वृद्ध व्यक्ति यदि चार पाँच घंटे भी सोये तो उसके लिए पर्याप्त है। आयुर्वेद में आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य इन तीनों को शरीर रूपी घर के आधारस्तम्भ माना गया है। पूरी निद्रा के न लेने से सिर के कई रोग और विशेषकर स्नायु रोग हो जाते हैं। सब काम छोड़ करके भी निद्रा पूरी ले लेनी चाहिए, तभी शरीर नीरोग और स्वस्थ रहता है। सोने से पूर्व मूत्रत्याग अवश्य कर लेना चाहिए।

१४. वेग निरोध

शरीर को स्वस्थ और दीर्घायु बनाने के लिए जो शरीर में तेरह स्वाभाविक वेग हैं, उनको कभी रोकना नहीं चाहिए। जो लोग किसी कारण वश इन वेगों को रोकते हैं, उनको नीचे लिखे रोग हो जाते हैं। उनका शरीर अस्वस्थ हो जाता है और आयु घट जाती है।

१—मूत्रवेग। असावधानी से मूत्र के वेग रोकने से मूत्राशय तथा मूत्रेन्द्रिय में शूल, मूत्रकृच्छ्र (मूत्र का रुक रुक कर थोड़ा २ आना) अफारा आदि रोग हो जाते हैं।

२—शौच (टट्टी) के वेग को रोकने से आँतों में पीड़ा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिर दर्द, विबन्ध (कब्ज़) जंघा व पिंडलियों में खिचाव और अफारा आदि रोग हो जाते हैं।

३—वीर्य वेग को रोकने से मूत्रेन्द्रिय तथा अण्डकोष में पीड़ा तथा हृदय के रोग हो जाते हैं।

४—अपान (नीचे से निकलने वाली) वायु के वेग को रोकने से अफ़ारा, कब्ज़, पेट दर्द आदि रोग हो जाते हैं।

५—वमन (कै) के रोकने से खुजली, छपाकी, अरुचि, सूजन, ज्वर, कुष्ठ, पाण्डु रोग तथा त्वचा में जलन आदि रोग हो जाते हैं।

६—छींक के वेग को रोकने से सिर, नेत्र, नासिका तथा कानों में रोग हो जाते हैं। साथ ही अर्दित (लकवा) और आधे सिर का दर्द हो जाता है।

७—उद्‌गार (डकार) को रोकने से हिचकी, खाँसी, अरुचि, कम्प रोग, कब्ज़, हृदय तथा छाती के रोग हो जाते हैं।

८—जंभाई को रोकने से आक्षेप (कनवलशन्स), कम्प आदि रोग होते हैं।

९—भूख को रोकने से दुर्बलता, अंगों में पीड़ा अरुचि और भ्रम (सिर में चक्कर आना) आदि रोग होते हैं।

१०—प्यास को रोकने से बहरापन, श्वास, हृदय के रोग हो जाते हैं।

११—आँसुओं को रोकने से प्रतिश्याय (जुकाम) नेत्ररोग, हृदय के रोग, अरुचि और भ्रम आदि रोग हो जाते हैं।

१२—निद्रा के वेग को रोकने से अंगों में पीड़ा, सिर और नेत्र के रोग हो जाते हैं।

१३—श्रम-निश्वास (दौड़ने आदि से उत्पन्न सांस) के वेग को रोकने से वायु गोला, हृदय और मूर्च्छा आदि रोग हो जाते हैं।

स्वास्थ्य और दीर्घायु को चाहने वाले व्यक्ति इन वेगों को रोकने का यत्न न करें। संसार में लाखों रोग इन वेगों के निरोध से उत्पन्न हो जाते हैं।

१५. दोष निस्सारण

आयुर्वेद के विद्वानों ने यह माना है कि शरीर में बिना किसी कुपथ्य किये भी, शरीर को दूषित करने वाला विष शनैः-शनैः भीतर ही भीतर उत्पन्न होता रहता है। यदि उस विष को साथ ही साथ निकाल दिया जाय तो, शरीर निर्दोष और नीरोग रहता है। उस विष को निकालने के लिए; वर्ष में तीन समय नियत किये गये हैं। चैत्र मास में किसी योग्य वैद्य की सम्मति से वमन कर लेना चाहिए। इससे आमाशय और फेफड़ों का दोष निकल जाता है। श्रा[illegible] (सावन) मास में वस्तिकर्म (अनीमा) करे और साथ [illegible] सिर के दोष निकालने के लिए नस्वार का प्रयोग करे [illegible]न दो कर्मों से अन्तड़ियों, नाक तथा सिर में रुका हुआ दोष निकल जाता है। मार्गशीर्ष मास में कुछ विरेचन (जुलाब) लेवें। इससे मेहदे छोटी आँत और बड़ी आँत में रुका हुआ दोष निकल जाता है। यदि इस प्रकार की क्रिया किसी योग्य वैद्य की सम्मति से प्रतिवर्ष [illegible]रता रहे तो, जैसे मैला कपड़ा धुल जाने से [illegible] जाता है, इसी प्रकार शरीर निर्मल हो जाता है [illegible] निर्मल होकर स्वस्थ और नीरोग रहता है। ऐसा करने वाले को भीतर से उत्पन्न होने वाले रोग नहीं सताते और वह दीर्घायु होता है।

१६. बुद्धि दोष

प्रज्ञापराध का दूसरा नाम बुद्धि का दोष है और यह स्वास्थ्य बिगाड़ने में बड़ा भारी कारण है। हम प्रतिदिन जानते हुए भी अपने आहार-विहार में ऐसी भूलें कर जाते हैं जिससे स्वास्थ्य का नाश हो जाता है। जैसे अपनी शक्ति से अधिक काम करना, मल-मूत्रादि के वेग होने पर भी काम-काज में व्यस्त रहने के कारण असावधानता से बैठते हैं। भूख न होने पर भी, कई बार मित्रों में बैठे हुए अधिक खा जाना। शराब, चाय, काफ़ी, अफीम, भाँग, तम्बाकू, सिगरेट, बीड़ी आदि नशीले पदार्थों को बुरा जानते हुए भी सोसायटी के शिष्टाचार के कारण सेवन करना, यह जानते हुए भी कि वीर्य के नाश करने से शरीर क्षीण और रोगी हो जाता है फिर भी विषय भोग में अधिक व्यस्त रहना। अहितकारक विषयों का सेवन करना, दुष्टों के साथ मैत्री करना, ईर्ष्या, अहंकार, भय, क्रोध, मोह, मद, भ्रम से उत्पन्न हुए हुए निंदित कर्मों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना, सदाचार का त्याग, सत्पुरुषों का अपमान, ये सब प्रज्ञापराध हैं और स्वास्थ्य के लिए नितान्त हानिकर हैं।

१७. निवास

शुद्ध तथा खुले स्थानों का निवास स्वास्थ्यदायी है। बड़े घने नगरों की अपेक्षा गाँव में रहने वालों का स्वास्थ्य अच्छा होता है। घने नगरों में जनों के श्वास-प्रश्वास मोटर, बस के पैट्रोल की गं[illegible] तथा कोलाहल, चूल्हों में पत्थर के कोयलों से उ[illegible]त धूम तथा गैस, बड़े-बड़े कारखानों का धुँआ, मल-मू[illegible] का बाहुल्य, ये सब स्वास्थ्य के शत्रु हैं। वर्तमान काल में जो बड़े-बड़े नगर बसाये जा रहे हैं, ये सब आयु के क्षीण करने वाले हैं।

यह देखा गया है कि कोयले की खानों और बड़े-बड़े कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की अपेक्षा, नहरों तथा जंगलों में कार्य करने वा[illegible]लों की आयु दीर्घ होती है। नगरवासी यदि प्रातः [illegible]र [illegible] मील घूमें तो उनका स्वास्थ्य भी अच्छा [illegible]ता है। [illegible]न खुले हों जिनमें धूप और वायु प्रवेश, बिना रोक-टोक होता हो, प्रतिदिन घर की शुद्धि रखनी आवश्यक है। घर के फर्श को जल से धोना, वार्षिक सफेदी करवाना बहुत आवश्यक है। घर में भी एक बर्तन रख कर दिन का कूड़ा-करकट उसमें डालना चाहिये। गली-कूचों में फेंका हुआ कूड़ा करकट, सारे मोहल्ले के स्वास्थ्य को बिगाड़ता है। गलियों की नालियों में बच्चों को टट्टी नहीं बिठाना चाहिये। जहाँ फ्लश की टट्टियाँ न हों, वहाँ शौचस्थल को फिनाइल से धुलवाते रहना चाहिए। ग्रामों में भी मिट्टी की पोताई से घर शुद्ध रखने चाहियें। मल त्याग ग्राम से दूर जाकर करना चाहिए।

१८. ऋतुचर्या

भारतवर्ष में १२ मासों की छः ऋतुएँ हैं। माघ और फागुन मासों की शिशिर, चैत्र और वैसाख मासों की वसन्त, जेठ और असाढ़ मासों की ग्रीष्म, सावन और भादों मासों की वर्षा, आश्विन और कार्तिक मासों की शरद् तथा मार्गशीर्ष और पौष मासों की हेमन्त ऋतु होती है।

किस-किस ऋतु में किस-किस बात से विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए, उसका वर्णन लिखते हैं।

शिशिर और हेमन्त ऋतुओं अर्थात् माघ, फागुन, मार्गशीर्ष तथा पौष, इन शीतकाल के चार महीनों में सरदी से बचें। वस्त्र भारी धारण करें। व्यायाम, परिश्रम, अभ्यंग, धूप में बैठना, घी आदि स्निग्ध, खट्टे, मीठे तथा नमकीन पदार्थों का सेवन बहुत अच्छा है।

वसन्त अर्थात् चैत्र वैशाख महीनों में उद्यानों तथा जंगलों में भ्रमण करना बहुत लाभकारी है। 'वसन्ते भ्रमणं पथ्यम्।' इस ऋतु में मीठे तथा खट्टे रस वाले पदार्थ वर्जित हैं। घी कम खावें। दही आदि कफ कारक और गुरु पदार्थ भी वर्जित हैं। रात्रि को ओस से बचना चाहिये। इस ऋतु में दिन में सोना अच्छा नहीं है।

ग्रीष्म ऋतु अर्थात् जेठ और आषाढ़ इन दो महीनों में लू और धूप से बचे। नींबू तथा इमली की खटाई छोड़ कर शेष खट्टे रस इस ऋतु में अच्छे नहीं हैं। शीतपेय—सिकंजी का शर्बत, लस्सी आदि का पान इस ऋतु में अच्छा है। तैरना, घूमना तथा योगासन के बिना शेष व्यायाम इसमें अच्छा नहीं है। दिन में सोना अच्छा है।

वर्षा ऋतु सावन भादों में अति व्यायाम न करें। क्लेदयुक्त (गीली) स्थान पर निवास न करें। दिन में सोना तथा धूप में चलना वर्जित है। इस ऋतु में मधु (शहद) का सेवन बहुत अच्छा है। ओस से बच कर सोना चाहिए। शरद ऋतु, असौज और कार्तिक में धूप में फिरना, दही का सेवन तथा दिन में सोना वर्जित है।

इस लेख में प्रमाण, युक्ति तथा उदाहरणों से सिद्ध किया गया है कि; जो भी शरीर परिस्थितिवश मनुष्य को मिलता है, उसकी अवनति और उन्नति करना पुरुष के अपने अधीन है। वेद बार २ सब को आशावाद का यही सन्देश दे रहा है कि 'लोगो! तुम शतायु बनो। दीर्घ जीवी बनो।' वेद की परिभाषा में १०० वर्ष आयु की मृत्यु ही काल-मृत्यु है। इससे पूर्व मरने को वेद अकाल-मृत्यु मानता है।

सब नर नारियों को चाहिए कि दीर्घायु और आनन्दमय जीवन के लिए सदा पुरुषार्थ, शुभ कार्य और स्वास्थ्य के नियमों का पालन करें।

॥ इति ॥

080597

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री गुरुदत्त के गांधी-युग पर

पाँच अनुपम उपन्यास

भारत में १९२१ से १९४७ का काल गांधी-युग के नाम से जाना जाता है। क्योंकि इस काल की राजनीतिक हलचल गांधी जी के चारों ओर केन्द्रित रही।

इस काल की राजनीतिक हलचल को पृष्ठभूमि बनाकर श्री गुरुदत्त जी ने पांच उपन्यासों की **'स्वाधीनता के पथ पर, पथिक, स्वराज्यदान, विश्वासघात** तथा **देश की हत्या'** रचना की है। प्रत्येक मुख्य घटना का विवेचन तथा उसका देश की प्रगति तथा देशवासियों के चरित्र पर प्रभाव कथा के माध्यम द्वारा भली-भाँति प्रदर्शित हुआ है। उपन्यास कला के नाप-तोल तथा रोचकता की दृष्टि से भी उत्कृष्ट हैं।

सन् १९२१ में गांधी जी ने जनता को विश्वास दिला कर कि [illegible] उन्हें स्वराज्य ले देंगे, असहयोग आन्दोलन चलाया। आन्दोलन उग्ररूप धारण कर रहा था [illegible] चौरी-चौरा की कुछ अहिंसात्मक घटनाओं को देखकर गांधीजी ने आन्दोलन वापस ले लिया। स्वराज्य एक वर्ष में मिल जावेगा, जितनी बड़ी आशा थी, उतनी ही अधिक निराशा फैली। परिणाम में अहिंसात्मक क्रान्तिकारी दल बने। इन दलों का उन्मूलन गांधी जी ने नमक-कर आन्दोलन प्रारम्भ करके किया, परन्तु उनका यह आन्दोलन भी असफल रहा। न स्वराज्य मिला, न नमक-कर हटा और न ही अन्य कर हटे।

इन असफलताओं के दो दुष्प्रभाव हुए। एक ओर तो देश के नाम पर मर मिटने वाले छिन्न-भिन्न हो गये। कुछ तो कांग्रेस में मिल गये और कुछ फाँसी के त[illegible] गये। दूसरी ओर मुस्लिम लीग, जो मृतप्राय संस्था थी, बल पकड़ने लगी। गांधी जी बार-[illegible] थे कि मुसलमानों के सहयोग के बिना स्वराज्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह एक निरर्थक बात थी। देश को स्वराज्य तब मिला जब हिन्दू-मुसलमान परस्पर जोरों से लड़ रहे थे।

गांधी जी मुसलमानों को "ब्लैंक चैक" तक देने के लिए तैयार हो गये थे। परन्तु मुसलमानों को गांधी जी के "ब्लैंक चैक" पर भी विश्वास नहीं था। परिणाम स्वरूप देश की अवस्था बिगड़ती गई। मुसलमानों के दिमाग चढ़ने लगे और गांधी जी उनका सहयोग प्राप्त करने के लिए उनकी हर नाजायज मांग को मानने को तैयार हो गये।

अन्त तक गांधी जी यही कहते थे कि मुसलमान कांग्रेस के साथ हैं और मुसलमान कांग्रेस को धोखा देते रहे। १९४६ के चुनाव ने तो इस बात को सिद्ध कर दिया कि मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था मुस्लिम-लीग है और कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था है। इन चुनावों में कांग्रेस को केवल दो प्रतिशत मुसलमानों के वोट मिले थे।

इस पर भी कांग्रेस को होश नहीं आई। अदूरदर्शिता के कारण देश में १९४६ तथा १९४७ में वह गड़बड़ मची कि कांग्रेस नेताओं के छक्के छूट गये। हिन्दुओं को उन्होंने चुनाव से पहले वचन दिया था कि पाकिस्तान नहीं बनने देंगे, परन्तु चुनाव के अनन्तर उन्होंने हिन्दुओं के साथ विश्वासघात किया। कांग्रेस ने देश-विभाजन स्वीकार कर देश की हत्या कर डाली।

गांधी जी की हत्या के साथ और श्री गुरुदत्त जी के गांधी-युग पर गांधी-युग का अन्त हुआ। पाँचों उपन्यासों का भी अन्त यहीं पर हुआ है।

भारती साहित्य सदन - नई दिल्ली

३०/९० कनॉट सरकर, नई दिल्ली-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक अनुपम भेंट !

• आप के लिये
• आप के मित्रों के लिये

"अच्छी पुस्तक मनुष्य का सर्वोत्तम साथी है"

सस्ते मूल्य पर अच्छी पुस्तकें

स्टार पाकेट बुक्स

हर तीन मास में पाँच नई पुस्तकें

इस तिमाही की पुस्तकें

SH-6 घेरे के अन्दर (उपन्यास) मन्मथ नाथ गुप्त
SH-7 रेखा (उपन्यास) आदिल रशीद
SH-8 परायी माँ (उपन्यास) नानक सिंह
SH-9 प्यासे पत्थर (उपन्यास) कृपाशंकर भारद्वाज
SH-10 ज़फ़र की गजलें (शायरी) बहादुरशाह 'ज़फ़र'

* आकर्षक
* मनोरंजक
* लोकप्रिय

पहली पुस्तकों की सूची अन्दर देखें

मूल्य प्रति पुस्तक एक रुपया

अपने नगर के रेलवे बुक स्टाल या
पुस्तक-पत्रिका विक्रेता से खरीदें या हमें लिखें

विक्रेता बंधुओं के लिये विशेष कमीशन- सुविधायें —।

प्रकाशक :
स्टॉर पब्लिकेशन्ज़
२७१५, दरियागंज, देहली

वितरक :
पंजाबी पुस्तक भण्डार
दिल्ली-६

अशोकवर्द्धन कौशिक, मन्त्री, भारतीय संस्कृत परिषद्, ३०/९०, कनॉट सरकस, नई दिल्ली द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा दी सूबोध प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1939-2030

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar